• पुस्तक

समराइच्चकहा (१ से ३ भव तक हिन्दी अनुवाद सहित)

• सम्प्रेरक

पं. मुनि श्री कुंदनऋषिजी म.

• प्रकाशक

श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
पाथर्डी (अहमदनगर)

• प्रथमावृत्ति

वीर निर्वाण २५०३
वि. सं. २०३४ महावीर जयन्ती
इस्वी सन् १९७७ अप्रैल

• मुद्रक

पं. बदरीनारायण द्वारिकाप्रसाद शुक्ल
श्री सुधर्मा मुद्रणालय, ८१० मन्त्री गली
पाथर्डी (अहमदनगर)

प्रस्तावना

आचार्य श्री हरिभद्र का समय–

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत साहित्य को प्रौढता एव अभिनय कलात्मकता दी है। दण्डी, सुबन्धु और बाण की प्रौढ सस्कृत शैली का प्राकृत मे अभिनव रूप मे प्रयोग करनेवाले महान् दार्शनिक कथाकार, व्याख्याकार आदि के सपृक्त व्यक्तित्व के पुंजीभूत हरिभद्र के समय की सीमा निर्धारण करने के लिये हमे देखना होगा कि जैन साहित्य परपरा मे हरिभद्र नाम कितने व्यक्तिओ का था ? उनमें समराइच्च कहा के रचयिता हरिभद्र कौन है ?

ईसवीसन् की १८ वीं शताब्दि तक के उपलब्ध जैन साहित्य में हरिभद्र नाम के आठ आचार्यो का उल्लेख मिलता है। इनमे समराइच्च कहा प्रभृति प्राकृत ग्रथो के रचयिता आचार्य हरिभद्र सबसे प्राचीन हैं। ये हरिभद्र 'भवविरहसूरी' और विरहाक कवि, इन विशेषणो से प्रख्यात थे। इन्होने अपनी अधिकाश रचनाओ मे 'भवविरह' सामासिक पद का प्रयोग किया है।

कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि ने (शक ७००) अपना प्रमाण और न्याय पढानेवाला गुरु कहा है।

जो इच्छइ भवविरहं, भवविरह को ण वन्दए सुयणो।
समय-सय-सत्थ-गुरुणो, समरमयंका कहा जस्स ॥

(कु मा. ६ पृ. ४)

उपमिति भवप्रपच कथा के रचयिता सिद्धर्षि (९०६ ई.) धर्मबोधकरो गुरु के रूप में स्मरण किया है। जिनविजयजी ने अपने प्रबंध मे लिखा है–"एतत्कथनमवलब्यैव राजशेखरेण प्रबन्धकोषे, मुनि सुन्दरेण उपदेशरत्नाकरे रत्नशेखरेण च श्रद्धाप्रतिक्रमण सूत्रवृत्तौ सिद्धर्षि हरिभद्र-शिष्यत्वेन वर्णित । एव पडिवालगगच्छीयायामेकस्या प्राकृत पट्टावल्या-मपि सिद्धर्षिहरिभद्रयो. समसमयवर्तित्वलिखितं समुपलभ्यते (हरिभद्र

[illegible]

हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में [illegible] प्रचलित हैं-

१) [illegible] मान्यता—इसके अनुसार हरिभद्र का स्वर्गारोहण काल वि. स. ५८५ [illegible] माना जाता है।

२) मुनि जिनविजयजी की मान्यता [illegible] और [illegible] प्रमाणों से ई. स. ७०० से ७७० तक।

३) प्रोफेसर के. वी. अभ्यंकर की मान्यता—आ. हरिभद्र का समय वि. स. ८०० से ९५० तक।

४) पं. महेन्द्रकुमार की मान्यता—ई. स. ७२० से ८१० तक।

मुनि जिनविजयजी ने हरिभद्र द्वारा निर्दिष्ट आचार्यों की निम्न प्रकार नामावली दी है—धर्मकीर्ति (६००-६५०) धर्मपाल (६३५ ई.) वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (६००-६५०) कुमारिल (ई. ६२० से ७००) शुभगुप्त (६४० से ७००) शान्तरक्षित (ई. ७०५-७६२) हरिभद्र के द्वारा उल्लिखित इन आचार्यों की नामावली से यही ज्ञात होता है कि हरिभद्र का समय ई. स. ७०० के बाद होना चाहिये विचारसार प्रकरण में आई हुई—

पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्दो सूरिसूरो भवियाण दिसउ कल्लाणं॥
(मेरुतुंग विचार श्रेणी गाथा। प्रद्युम्न विचार गाथा ४३२।)

गाथा का अर्थ एच. ए. शाह ने बताया है कि विक्रम संवत् के स्थान पर गुप्त संवत् ग्रहण करना चाहिए। गुप्त संवत् ५८५ शक स. ७०७ विक्रम संवत् ८४२ ई. स. ७८५ में पड़ता है। जिनसेन के हरिवंश के अनुसार गुप्त संवत् वीर निर्वाण स. ७२७ शक स. १९२ वि. स. २५७ और ई. स. २०० से आरम्भ हुआ। इससे हरिभद्र का स्वर्गारोहण काल ई. स. ७८५ आता है। यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति के अनुसार वीर निर्वाण ४६१ वर्ष व्यतीत होने पर शकनरेन्द्र विक्रमादित्य उत्पन्न हुआ। इस

शकों का राज्यकाल २४२ वर्ष है और गुप्तों का राज्यकाल प्रमाण २५५ वर्ष है इस उल्लेख के अनुसार २४२ (५६-५७) १८६-१८५ में लगभग गुप्तवंश का आरंभ हुआ। अनन्तर गुप्तकाल के ४८५ वर्ष बाद देने पर ई. स. ७३०-७३१ के लगभग आचार्य हरिभद्रसूरि का स्वर्गारोहण समय आता है। आचार्य हरिभद्र के समय की उत्तरी सीमा का निर्धारण कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि के उल्लेख द्वारा हो जाता है। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला की प्रशस्ति में इस ग्रंथ की समाप्ति शक सं ७०० में बताई है और अपने गुरु का नाम हरिभद्र कहा है।

सो सिद्धंतेण गुरु जुत्ती सत्थेहिं जस्स हरिभद्दो।
बहु सत्थ-गंथ-वित्थर पत्थरिय-पयडं-सव्वत्थो ॥४३०॥

इससे स्पष्ट होता है कि शक संवत् ७०० के बाद हरिभद्र का समय नहीं हो सकता है। हरिभद्र आठवीं शती के उत्तरार्ध में अवश्य जीवित थे।

उपमिति भव प्रपंच के रचयिता सिद्धर्षिने अपनी कथा की प्रशस्ति में आचार्य हरिभद्र को अपना गुरु बताया है पर वे साक्षात् गुरु नहीं थे परंपरया गुरु थे। प्रो अभ्यंकर ने इन्हें साक्षात् गुरु बताया है। पर मुनि जिनविजयजी ने प्रशस्ति के अनागत शब्द के आधार पर परंपरया कहा है। अतएव प्रो अभ्यंकर ने माना हुआ समय ८००-९५० प्रामाणिक नहीं है, न उनका यह कहना यथार्थ है कि कुवलयमाला में उल्लिखित समय शक संवत् गुप्त संवत् है।

मुनि जिनविजयजी ने हरिभद्र को शंकराचार्य का पूर्ववर्ती माना है। सभी विद्वान् शंकराचार्य का समय ई स ७८८ से ८२० तक स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने अपने पूर्ववर्ती प्राय: सभी दार्शनिकों का उल्लेख किया है। शंकराचार्य ने जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त सप्तभंगी का खंडन किया है। इनके नाम का उल्लेख अथवा इनके द्वारा किए गए खंडन में प्रदत्त तर्कों का प्रत्युत्तर सर्वतोमुखी प्रतिभावान हरिभद्र ने नहीं दिया। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हरिभद्र-शंकर के उद्भव के पहले ही स्वर्गस्थ हो गए थे। अन्यथा वे किसी न किसी रूप में उनका अवश्य उल्लेख करते। अत निश्चित हो गया

१) [illegible] ... (११४९ ?)

निम्नलिखित ग्रन्थों से हरिभद्र के जीवनवृत्त पर प्रकाश पड़ता है—

१) गणधरसार्धशतक अन्तर्गत श्री जिनदत्तसूरि कृत, २) [illegible] पर गाथे संवत् ११६८–११७१ ई. (३) प्रभावक चरित्र वि. सं. १३३४, ४) राजशेखर प्रबंधकोश अथवा चतुर्विंशति प्रबंध ५) सुमति गणि गणधर सार्धशतक बृहद टीका (वि. सं. १२९५) उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुसार आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ (चित्रकूट) राजस्थान में हुआ था। जन्म से वे ब्राह्मण थे और अद्वितीय पांडित्य के कारण राजा जितारि के राजपुरोहित थे। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जिन शासन के रूप में इनका जीवन राजपूताना और गुजरात में विशेष रूप से व्यतीत हुआ। प्रभावक चरित्र से अवगत होता है कि इन्होंने पोरवाल वंश को पुनर्स्थापित किया और उसे जैन धर्म में दीक्षित कर धर्म मार्ग में लगाया नेमिनाथ चरित्र द्वारा ज्ञात होता है कि पोरवाल जाति की उत्पत्ति श्रीमाल में हुई। इस जाति का निमाय नाम का वीर पुरुष वनराज द्वारा प्रभावित होकर उसकी नई राजधानी अणहिलपट्टन में बस गया और वहाँ उसने विद्याधर गच्छ के लिये ऋषभदेव मंदिर बनवाया। प्रधान रूप से हरिभद्रसूरि राजपूताने और गुजरात में परिभ्रमण करते रहे थे। यों तो इनका विहार समग्र भारत वर्ष में हुआ।

समराइच्च कहा में आये हुए नगरों और ग्रामों के नामों से ज्ञात होता है कि हरिभद्र दक्षिण भारत में नहीं गए थे।

धर्म परिवर्तन—हरिभद्र के जीवन प्रवाह को बदलने वाली घटना उनके धर्म परिवर्तन की है। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जिसका वचन न समझूँ उनका शिष्य हो जाऊँ। एक बार हाथी भड़क कर इधर

उधर भागने लगा । हरिभद्र हाथी से बचने जैन साध्वी के उपाश्रय पहुँचा । साध्वी निम्नलिखित गाथा पढ़ती थी ।

> चक्कीदुगं हरिपणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
> केसवचक्की केसव दुचक्की केसव चक्की य ॥४•२२॥

इस गाथा का अर्थ समझ में नहीं आया । उन्होंने साध्वी से अर्थ पूछा-साध्वी ने उन्हें गच्छाधिपति जिनभद्र के पास भेजा । आचार्य से अर्थ सुनकर वे दीक्षितहुए । बाद में अपनी विद्वत्ता और श्रेष्ठता के कारण पट्टधर आचार्य बनाये गये ।

जिस याकिनी महत्तरा के निमित्त से हरिभद्र ने धर्म परिवर्तन किया था उसको उन्होंने अपनी धर्ममाता के समान पूज्य माना । और खुद को याकिनी महत्तरासुनु कहा । यद्यपि हरिभद्र के धर्म परिवर्तन की घटना का उल्लेख गणधर शतक में नहीं मिलता है फिर भी सभी विद्वान् इसे सत्य स्वीकार करते हैं । याकोबी का कहना है कि "आचार्य हरिभद्र को जैन धर्म का गंभीर ज्ञान रखकर भी अन्यान्य दर्शनों का इतना विशाल और तत्त्वग्राही ज्ञान था जो उस काल में एक ब्राह्मण कोटी परंपरागत शिक्षा के रूप मे प्राप्त होना स्वाभाविक था अन्य को नहीं ।

भवविरहसूरि-

१) आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों की अन्तिम गाथा या श्लोक में भवविरह अथवा विरहाक कवि शब्द का प्रयोग किया है । इसका रहस्य प्रबन्धकोश और कहावली दोनों मे मिलता है ।

प्रभावक चारित्र तथा प्रबन्धकोश-आचार्य हरिभद्र के दो भांजे शिष्य थे हंस-परमहंस । ये बौध धर्म और न्याय की शिक्षा ग्रहण करने चितौड़ मे बौद्धाचार्य के पास गये । वहाँ जैन होने का भेद खुल जाने पर हंस तो उनके हाथ वहीं मारा गया और परमहंस भी उसी तरह समाप्त हो गया । इससे आचार्य को अत्यंत संताप हुआ और इन शिष्यों की चिर स्मृति के रूप में उन्होंने विरह शब्द अपना लिया । कहावली में भी शिष्यों के मारे जाने की बात आती है पर नाम जिनभद्र वीरभद्र

दिए हैं जो उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उनके भवविरहसूरि कहे जाने और प्रसिद्ध होने की बात कहावल में निम्न प्रकार है। मुनि कल्याण-विजयी आदि विद्वानों ने इस कथा को प्राचीन माना है।

२) भवविरहसूरि के लिये दूसरी भी एक कथा प्रचलित है।

हरिभद्र जिनभट्ट आचार्य के पास दीक्षित होने गए और उनसे धर्म फल पूछा। आचार्य ने धर्म के दो भेद बतलाए सस्पृह (निदानसहित-सकाम) और निःस्पृह (निष्काम) सस्पृह कर्म का आचरण करनेवाला स्वर्गादि सुख और निःस्पृह धर्म का आचरण करनेवाला भवविरह-मुक्ति, जन्म मरण से छुटकारा प्राप्त करता है। हरिभद्र ने भवविरह को उपादेय समझकर ग्रहण किया।

भोजन या अन्य अवसरों पर जो भी उन्हें नमस्कार वंदना करता उसे वे भवविरह करने में उद्यमवत होओ यह आशीर्वाद देते। भक्त लोग भवविरहसूरि चिरंजीवी हो कहते हुए चले जाते। इस प्रकार भवविरह अत्यन्त प्रिय होने से इन्होंने स्वयं भवविरह शब्द को ग्रहण किया और भवविरहसूरि या विरहांक कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कहावली के अनुसार, अन्य आधार पर हरिभद्र जन्मस्थान पिवगुई नाम की कोई ब्रह्मपुरी लिखा है, माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर भट्ट मिलता है। इनके द्वारा १४००, १४४०, १४४४ प्रकरणों के लिखे जाने की सूचना भी मिलती है।

युगप्रधान होने के नाते हरिभद्र की ख्याति उनकी अगणित साहित्यिक कृतियों पर आश्रित है। जैन साहित्य में यह बहुत ही मेधावी और विचारक लेखक है। इनके धर्म, दर्शन, न्याय, कथा-साहित्य एवं योग साधनादि संबंधी विविध विषयों पर गंभीर, पांडित्यपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं। यह आश्चर्य की बात है कि समराइच्च कहा और धूर्ताख्यान जैसे सरल, मनोरंजक आख्यान ग्रंथों का रचयिता अनेकान्त जयपताका जैसे क्लिष्ट न्याय ग्रंथों का रचयिता हो सकता है। एक ओर सहृदयता और सरसता टपकती है तो दूसरी ओर मस्तिष्क की प्रौढ़ता। हरिभद्र की साहित्य प्रतिभा के मूलतः दो वर्ग किये जा सकते हैं—भाष्य, चूर्णि और टीका के रूप में तथा मौलिक ग्रंथ रचना के रूप में।

हरिभद्र ने अपने पूर्वजों के ग्रन्थों से लाभान्वित होकर ५... ग्रन्थों पर भाष्य, चूर्णि, वृत्तियाँ संस्कृत मे लिखीं। इनकी अपनी एक शैली है। अर्थ संस्कृत मे लिखते हैं किन्तु कथाओं तथा चूर्णियों के अन्य भागों को प्राकृत मे ही छोड़ देते हैं। हरिभद्र से पहले आगम ग्रन्थों की व्याख्या संस्कृत मे नही लिखी गई। हरिभद्र की इस शैली का बाद में विकास हुआ।

ग्रंथ समृद्धि—अभयदेवसूरि ने पंचाशग टीका मे, मुनिचन्द्र ने उपदेशपद टीका मे और वादी देवसूरि ने स्याद्वाद रत्नाकर मे आचार्य हरिभद्र को १४०० प्रकरणों का रचयिता कहा है।

२) राजशेखरसूरि ने प्रबंध कोष मे इनको १४४० प्रकरणों का रचयिता बताया है।

३) राजशेखरसूरि ने अर्थदीपिका तथा विजयलक्ष्मीसूरि ने उपदेश प्रासाद में १४४४ प्रकरणों का रचयिता इस संख्या और इस प्रबंध कथानकों को विद्वानो ने प्रामाणिक नही माना है।

संक्षिप्त कथानक—हंस परमहंस के वध के पश्चात् हरिभद्र को अत्यन्त संताप और बौद्ध साधुओं के प्रति प्रतिशोध की तीव्रता उत्पन्न हुई। इन्होंने बौद्धों से शास्त्रार्थ की घोषणा की—जो जो बौद्ध साधु हारते थे उन सबको उबलते तेल की कड़ाह मे जिन्दा ही गिरना पड़ता था। इस प्रकार लगभग १४०० बौद्ध साधुओं की उक्त दशा आचार्य के हाथों हुई। यह संवाद जब उनके गुरु को मिला तो उन्होंने निदान और उसके ऊपर तीन गाथाएं हरिभद्र को भेजी, जिन्हें पढ़कर हरिभद्र का क्रोध शांत हुआ। उन गाथाओं का आधार मानकर हरिभद्र ने समराइच्च कहा की रचना की। जितने बौद्ध साधु स्वाहा हुये पश्चात्ताप स्वरूप उतनें प्रकरण लिखने की प्रतिज्ञा की।

भद्रेश्वर की कथावली मे क्लेश निराशा से आत्महत्या पर उतारू हुए, परन्तु गुरु ने दु:ख का आवेश शांत किया और ग्रंथ संतति को ही अपनी शिष्य संतति मानकर ग्रंथ रचना मे प्रवृत्त किया।

शोध मनीषियों ने शास्त्रार्थ संबंधी कथा को नितांत कल्पित किंवदंतिका कहा है। याकोबी का अभिमत है कि हरिभद्र ने सहस्त्राधिक

व्रताचरण करके भी जो लौकिक या पारलौकिक भोगों की आकांक्षा करता है वह अनंत संसार का पात्र बनता है।

स्थूलजातीय और धार्मिक साधना की जीवन प्रक्रिया को कला के आवरण मे रख जीवन के बाहरी और भीतरी सत्यों की अवतारणा का प्रयास विशेष इस कथा का प्रधान स्वर है। सहनशीलता सद्भावना के बल से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। धार्मिक परवश के महत्त्वपूर्ण दायित्व के प्रति इस कथा का रूपविन्यास दो तत्त्वो मे संघटित है।

१) कर्म—जन्मान्तर के संस्कार और हीनत्व की भावना के कारण अपने विकारो को इतर व्यक्तियो पर आक्षिप्त करना। अग्निशर्मा अपने बचपन के सस्कार उस समय उत्पन्न हुई हीनत्व की भावना के कारण गुणसेन द्वारा पारणा के भूल जाने से क्रुद्ध हो निदान बाँधता है।

गुणसेन का व्यक्तित्व गुणात्मक गुणवृद्धि के रूप में और अग्निशर्मा का व्यक्तित्व भावात्मक भागवृद्धि के रूप मे गतिमान संघर्षशील है। इन दोनो व्यक्तित्वो ने कथानक की रूप—रचना ने ऐसी मोडें उत्पन्न की है जिनसे कार्य व्यापार की एकता, परिपूर्णता एव आरम्भ, मध्य और अन्त की कथा योजना को अनेक रूप और सन्तुलन मिलते चलते हैं। यह कथा किसी व्यक्ति विशेष का इतिवृत्त मात्र नही है किन्तु जीवनी चरित्रो की सृष्टि को मानवता की ओर ले जानेवाली है। धार्मिक कथानक के चौकठ मे सजीव चरित्रो को फिट कर कथा को सप्राण बनाने की पूरी चेष्टा की गई है।

देशकाल के अनुरूप पात्रो के धार्मिक और सामाजिक सस्कार घटना को गौण रख उनकी चरित्र-निष्ठा को प्रधानता प्रधान बनाती है। घटनाओं के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण और उसके द्वारा तत्कालीन सामन्तवर्गीय जन-समाज एव उसकी रुचि तथा प्रवृत्तियो का प्रकटीकरण इस कथा को देशकाल की चेतना से अभिभूत करता है।

इसके अतिरिक्त गुणसेन के हृदय मे भावनाओ का उत्थान पतन मानव की मूल प्रकृति में न्यस्त मनोवैज्ञानिक ससार को चित्रित करता है। क्रोध, घृणा आदि मौलिक आधारभूत वृत्तियों का प्रकटीकरण

मंता प्रकट होती है। यहाँ प्रेम की शिष्ट और स्वाभाविक अनुभूति है। प्रेम का उद्भव संयम, नैतिक और स्वाभाविक है। अन्तर्कथा के रूप में अमरगुप्त की कथा मुग्ध कथा ने विराग में सहायक है। अनान्तर कथाओं के द्वारा प्रधान पात्र में सामाजिक नश्वरता और वैराग्य की चेतना जागृत करते हैं।

शैली की दृष्टि से इस भव की कथा तर्कपूर्ण व्यावहारिक शैली में लिखी गई है। स्वप्न में देखे गये सिंह की आकृति, रूप, तेज, और प्रभाव का चित्रात्मक वर्णन कथा की गति को तथ्य विश्लेषण के साथ निश्चित प्रभाव की ओर ले जाता है।

तीसरा भव : जालिनी और शिखिन्–

इस कथा में देश नगर और पितृपरंपरा को लेकर जो व्यक्ति-वाचक संज्ञाएँ आई हैं वह कोई निरर्थक जमघट नहीं हैं। नाम तो सांकेतिक हैं ही, पर इनके चलते कथाओं में नाद तत्त्व आ गया है। एक विशिष्ट वातावरण की सृष्टि हुई है। सांकेतिकता और संगीतात्मकता के सामंजस्य द्वारा एक गंभीर वातावरण की सृष्टि होती है। जिसका जिस प्रकार का गुण उसका वैसा ही नामकरण किया गया है। अधिकांश ध्वनिवाचक नाम सार्थक हैं। इन ध्वनिवाचक नामों द्वारा लेखक ने तीन उद्देश्यों की सिद्धि की है।

१) नादतत्त्व का सृजन, २) चारित्रिक संकेत, ३) अन्यापदेशिक शैली में घटनाओं की सूचना–

धर्मकथा होने पर भी इस कथा के पात्रों में असामान्यता है। कहीं कहीं हास्य की सरसता भी है। भूत चैतन्यवाद का खंडन कर आत्मतत्त्व की सिद्धि करनेवाले आचार्य का शील आत्मतत्त्व निरूपण अपेक्षा अधिक प्रखर है।

मालिनी–जालिनी अनेक दृष्टियों से सबसे कम प्रेरणा और 'प्रतिभाव में अर्वाचीन नारी है।

पुत्र की प्राप्ति माता की ममता वात्सल्य और त्याग की परम्परित भावना से भिन्न माता की ऐसी पाशविकता और पाशविकता से ऐसे

कालगवसाद दिवसागर कलाकार ने यथार्थवाद के प्रति सामान्य व्यक्ति अन्तिम साहसवाद का परिचय दिया है। ऐसी मात्राएँ साहित्य में अब एक परिचय जीर्ण हो गई। पर सब विद्वान का मद्गुरु दिवसाना उद्देश्य होने पर भी पुत्र कार्तिकी माता का ज्ञान, ऐसी क्रिया की अन्वेषणा दिवसाकर प्रारब्ध की उस उदात्त पैताम्बरता का दर्शन कराया गया है।

विनय और विजयसिंह की वादविवाद की सूक्ष्मता आद्योपान्त अपनी विदग्धता द्वारा कथाविचार पक्ष को पुष्ट, समृद्ध और तीक्ष्ण बनाती है।

अजित की कथा से अन्यजन्मान्तर के कारण कार्य का पूर्वापार जो सिद्ध हो गया उसमें–

१) वस्तुत: जो आत्मा स्वयसिद्ध सी थी। उसे तर्क की कसौटी पर प्रतिवाद के द्वारा सिद्ध कराकर मर्म के मर्म को प्रमाणित कराकर कथा की सार्थकता अमोघ बना दी गई है।

२) जो उदाहरण दिए जाते हैं उनसे रूढ़िमुक्त, स्वच्छन्द, श्रद्धा-रहित, मुँहफट, निश्शील तथा व्यंग्यपटु व्यक्तित्व का पता चलता है।

आत्मा की सिद्धि इस प्रकार तर्क के उदाहरणों द्वारा हास्य-व्यंग्य की शैली में निरूपित की है।

३) प्रतीकों का प्रयोग–पुण्यकथा की निष्पत्ति के लिए लेखक अनेक प्रतीकों का प्रयोग कर भावों की अभिव्यंजना की है। प्रतीक कथा के प्रभाव को केवल स्थायित्व ही नहीं प्रदान करते बल्कि उसमें एक नवीन रस उत्पन्न करते हैं। स्वर्ण घट टूटने का स्वप्न प्रतीक है।

गर्भधारण के दस हिरण्यगर्भक में वर्ण विलास या धातुभावना है। घट उदर का, रहस्य का जीव के मण्डलाकार चक्र का प्रतीक है। आर्जव, परंपरा सबलता, काव्य गुण सम्पन्नता, दार्शनिक लाक्षणिकता, यथा स्वर्ण आदि रंगों के प्रतिदिव्य कांतीमयता एवं द्रव्य के प्रति विलासिता आदि भी इस प्रतीक के द्वारा अभिव्यंजित होती है। टूटना गर्भविनाश तथा गर्भस्थप्राणी की हत्या की अभिव्यंजना है। प्रतीक से लेखक घटना के पूर्व ही उसका भविष्य अंकित कर देता है नारीकेल

की जिज्ञासा ही जन्मजन्मान्तर के कर्मों की परंपरा का रहस्य बताया है।
कर्मफल के अनुसार जन्मजन्मान्तरों के परिवेश में सांकेतिक है।

निम्न किया–सांप बना और ... रहा है। सांप मारा गया तो
लिए बना–आक्रमण का अनुसार दोनों ने एक दूसरे को मारा–दोनों
पाण्डाल बने–अधमता का प्रतीक। एक ने गुरु का आश्रय ग्रहण किया
की जन्म और चरित्र में भेद।

स्थापन की दृष्टि से भाव द्वन्द्वात्मक है।

लोककथातत्त्व–

यों तो हरिभद्र की प्राकृत कथाएँ धर्मकथाएँ हैं पर इनमें लोककथा तत्त्व भी समाहित है। लोककथाएँ मानवजाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उसके विभिन्न विश्वासों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती है। लौकिक सौन्दर्य बोध, लोकचिन्ता की एकरूपता, और सामान्य अभिव्यंजन प्रणाली विश्व की लोककथाओं में समान रूप से हैं।

हरिभद्र ने प्राकृत कथाओं को लोकभाषा में लिखा है। अतः इनकी लोकभाषाओं में लोककथा के लोकधर्म, लोकचित्र और लोकभाषा ये तीनों तत्त्व विद्यमान हैं। इनकी लोककथाओं में मध्ययुग के दलित और मध्यम इन दोनों वर्गों के तत्कालीन रीतिरिवाज, विश्वास, मान्यताएँ, रहन-सहन आदि का सजीव रूप अंकित है। अतः इनकी प्राकृत कथाओं में लोकपरंपरा की ऐतिहासिक, सामूहिक विरासत की मनोवैज्ञानिक और लोकरंजन की सामाजिक पृष्ठभूमि वर्तमान है। इसका सबसे बड़ा प्रबल कारण यह है कि लोकतत्त्वों के योग से की गई अभिजात्य साहित्य की रचना लोकसंस्कृति का दिग्दर्शन कराने में पूर्ण सक्षम होती है। जनता का सच्चा प्रतिनिधि हरिभद्र जनजीवन और उसकी प्राचीन संस्कृति का विवेचन करता है। प्रबुद्ध साहित्यकार पर समकालीन सामाजिक परिस्थितियों का घना प्रभाव पड़ता है। हरिभद्र के युग में अंधविश्वास, तन्त्रमन्त्र, हिंसामयी पूजा, नाना मतवाद एवं पाखण्ड संबंधी विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित थी अतः इन्होंने शास्त्रीय दृष्टि से कथाओं को मंडित करने पर भी अपनी कथाकृतियों में लोक-

चेतना एवं लोकसंस्कृति की अनेक छवियाँ अंकित की १) लोककथा का देशकाल बहुधा आश्चर्यजनक और कल्पना मंडित होता है। २) इनमें अप्राकृतिक, अतिप्राकृतिक तथा अमानवीय तत्वों का समावेश होता है। ३) ये लोकरुचि का लोकरंजक चित्रण करती है। ४) लोक चित्त को आन्दोलित करना, प्रेरित करना और निश्चित उद्देश्य की ओर ये ले जाती हैं। ५) लोकभाषा में ही लोकानुश्रुति से प्राप्त कथाओं को लिपिबद्ध करती है। ६) ऐतिहासिक, रूढिगत पौराणिक घटनाओं का कल्पना के साथ सम्मिश्रण होता है।

हरिभद्र की समराइच्च कहा जैसी बहुमूल्य प्राकृत कथाकृति में लोककथा के पर्याप्त गुणधर्म विद्यमान हैं। प्राकृत भाषा लोक-भाषा है और लोकभाषा में लोकपरम्परा से प्राप्त कथानक सूत्रों को संघटित कर लोकमानस को आन्दोलित करनेवाली लोकानुरंजक कथाएँ लिखकर हरिभद्र ने लोककथा साहित्य का प्रणयन किया है। विश्लेषण करने पर हरिभद्र की प्राकृत कथाओं में निम्नांकित लोककथा के तत्त्व उपलब्ध है–१) प्रेम का अभिन्न पुट, २) स्वस्थ शृंगारिकता, ३) मूल प्रवृत्तियों का निरंतर साश्चर्य, ४) लोकमंगल, ५) धर्मश्रद्धा, ६) आदिम मानस, ७) रहस्य, ८) कुतुहल, ९) मनोरंजन, १०) अमानवीय, तत्त्व, ११) अप्राकृतिकता, १२) अति प्राकृतिकता, १३) अन्ध विश्वास, १४) उपदेशात्मकता, १५) अनुश्रुतिमूलकता, १६) आश्चर्य तत्त्व का समावेश, १७) हास्यविनोद, १८) पारिवारिक जीवन चित्रण, १९) मिलन बाधाएँ, २०) लोक मानस की तरलता, २१) पूर्वजन्म के संस्कार तथा फलोपभोग, २२) महत्त्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति, २३) जनभाषा तत्त्व, २४) सरल अभिव्यंजना, २५) जनमानस का प्रतिपालन, २६) परंपरा की अक्षुण्णता।

सक्षेप में शैली घटना चमत्कार, एवं अभिव्यक्ति में हरिभद्र की प्राकृत कथाएँ लोककथा के निकट है। यद्यपि अभिजात कथाओं के गुणधर्म इनमें बहुलता से पाये जाते हैं तो भी लोककथा तत्त्वो की कमी नहीं।

भाषा शैली और उद्देश्य–

भाषा मनोभावों और विचारों का वहन करती है और शैली उन्

इनका रसास्वाद अद्भुत है। कर्म सिद्धांत, पुनर्जन्म, दया, गुणस्तव, धर्मोपदेश प्रभृति के साथ कथारस वर्तमान है। वातावरण का अधिकाधिक सुवासित कर घटनाओं के संयोग घटित किये गये हैं। कथा का विकास विरोध और द्वन्द्व के बीच होता है। कुतूहल और जिज्ञासा सर्वत्र अपना आधिपत्य बनाये रखती है। जीवन की आन्तरिक भावनाओं का विश्लेषण उत्तरोत्तर होता जाता है। भावात्मक संवादों के द्वारा कथा का विस्तार भार हल्का होता है। आन्तरिक भावनाओं का यथास्थान उद्घाटन होता चलता है। दैनिक और पारिवारिक जीवन की सहज सामान्य अनुभूतियों के मार्मिक चित्रण में विशेष पटुता है। इतिवृत्त में विदग्धतापूर्ण स्थलों की कमी नहीं।

— पी. बी. शाह



प्रकाशकीय

जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी की उच्च परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन का निर्णय श्रद्धेय आचार्य सम्राट् के अमृत महोत्सव में हुआ था तब से इस प्रकाशन विभाग की ओर से न्यायदर्शन, दर्शन, आगम के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित होकर उपाधि परीक्षार्थियों और जिज्ञासु पाठकों के करकमलों में पहुँच चुके हैं। प्रमाण मीमांसा जैन तर्क भाषा जैसे कठिनतम ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद यह प्रकाशन की अन्यान्य संस्थाओं और सुप्रसिद्ध पुरातत्व विशेषज्ञों ने अत्यन्त उपयुक्त माना है। इन पुस्तकों की मांग को देखते हुए द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का प्रसंग भी आ रहा है, यह समाधान का विषय है।

हमारा यह नया प्रकाशन 'समराइच्चकहा–समरादित्य कथा' के तीन भव सानुवाद जो कि जैन सिद्धान्त शास्त्री परीक्षा के पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित है, परीक्षार्थियों तथा सम्माननीय अन्यान्य पाठकों के पास पहुँच रहा है, हमें पूरा विश्वास है कि इसे भी वही सम्मान उपलब्ध होगा जो और प्रकाशनों को प्राप्त है।

श्री हरिभद्रसूरि के इस विशिष्ट कथा ग्रन्थ का जैन साहित्य में जो स्थान है और कर्मसिद्धान्त का निरूपण जिस रोचक शैली में प्रतिपादन इसमें हुआ है वह सचमुच अनुपम और सराहनीय है। इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार का वैशिष्ट्य भूमिका में विस्तार से बताया गया है, पाठकवृन्द वहीं से साक्षात्कार करेंगे।

इस दुर्लभ ग्रन्थ का हिन्दी सुगम अनुवाद हमारे मित्र प. कन्हैयालालजी दक ने बहुत अच्छे ढंग से किया है। इसके लिये हम उनको शतशः धन्यवाद देते हैं।

इस पुस्तक की भूमिका श्री नेमिनाथ जैन ब्रह्मचर्याश्रम चांदवड के विशिष्ट विद्वान जी. डी. शाह ने लिखकर हमारे इस प्रकाशन पर

भार भाद लगाने की उचित की सार्थक कर दिखाए हैं। इससे परीक्षा र्थियों को भी विशेष सुविधा मिलेगी, बोर्ड या प्रकाशन विभाग आप इस महत्त्वपूर्ण लेख के लिये हार्दिक आभार प्रकट करता है।

समराइच्च कहा के सानुवाद प्रकाशन के लिये कई साहित्य प्रेमियों ने विशेष रूप से आर्थिक आश्रय प्रदान किया है, उनकी शु नामावली साभार प्रकट की जा रही है~

२००१)	श्री नवलचंदजी सरदारमलजी पुगलिया	नागपु
१२०१)	श्री चिमणभाई	मम्ब
११००)	सौ पदमवाई श्रीमल नवलखा	जयपुर
१००१)	सौ धनीबेन न्यालचदजी शाह	बंबई (नारायणवाडी)
१००१)	श्री फकीरचंदजी बालारामजी गुगले	चिचोडी (शिराल)
१०००)	*श्री नवलखा एण्ड सन्स (श्री पोपटलालजी)*	*पुणे*
५०१)	श्रीमती घोडाबाई तिलोकचंदजी गुंदेचा	घादा (अ. नगर)
५०१)	श्रीमती शक्करबाई रतनचदजी सुराणा	दुर्ग
५०१)	सौ. वसन्ताबाई आनंदरामजी चोरडिया	खेड (पुणे)
५०१)	श्री तिलोकचन्दजी संचेती	मद्रास
४००)	सौ रतनबाई ताराचंदजी दुग्गड	मद्रास
२५१)	श्री गिरधारीलालजी पानाचंदजी मेहता	बबई
२५१)	श्री आत्माराम एण्ड सन्स	अम्बाला छावणी
२५१)	श्री झुंवरलालजी दामोदरदासजी मेहेर	जलगाव
२५०)	श्री जसवंतराजजी सोहनलालजी बाफना	बेंगलोर
२४२)	श्री शक्तिनगर संघ से	दिल्ली
२२१)	श्री गुलाबचन्दजी विनयचंदजी जैन	दिल्ली
२२१)	सौ. हजारीबाई गुलाबचन्दजी जैन	दिल्ली
२०२)	श्री धनराजजी शान्तीलालजी पितलिया	अहमदनगर
२०१)	श्री केसरचंदजी लालचंदजी चोरडिया	बोरी (पुणे)
२०१)	श्री रूपचंदजी दौलतरामजी फिरोदिया (प्रवरासगम)	अ नगर
२०१)	श्री पुनमकुमारजी माणकचंदजी कटारिया	इचलकरजी
२०१)	श्री दर्शनलालजी जैन (ओसवाल होजरी)	लुधियाना
२०१)	श्री दगडूलालजी रामचन्दजी गांधी	प्रवरासगम

		समरांईन्यारहा
२०१)	श्री पुखराजजी हिरालालजी तातेड	हिंगणघाट
२०१)	श्री शान्तीलालजी सतीशकुमारजी	राजगुरुनगर
२०१)	श्री पुखराजजी किसनलालजी तातेड	सिकंद्राबाद
२०१)	श्री मोहनलालजी डुगरवाल	"
२०१)	सौ पतारावाई पुखराजजी चोरडिया (बोरीवाला)	पुणे
२००)	श्री बनारसीदासजी पूर्णचंदजी गोगी	दिल्ली
२००)	सौ राजनवाई उत्तमचदजी पगारिया	जलगाव
१५१)	श्री मदनलालजी हिरालालजी बोरा	अहमदनगर
१५१)	श्री पुनमचन्दजी मगनरामजी नाहर	घोडेगाव (नगर)
१५१)	श्री भागचन्दजी हरीचदजी कटारिया	गराफवाडी
१५१)	श्री ज्ञानचंदजी चमनलालजी जैन	मालेरकोटला
१०१)	श्री सुरेशचन्दजी उत्तमचन्दजी देसर्डा	चालीसगांव
१०१)	श्री रतनचन्दजी चांदमलजी बोरा (पिपलावाला)	अहमदनगर
१०१)	सौ. गजराबाई बनेचन्द गांधी	श्रीगोंदा
१०१)	सौ. इचरजबाई कुंवरलालजी मुथा	बंबई (अंधेरी)
१०१)	श्री कचरदासजी अमरचंदजी भटेवडा	राहू
१०१)	सौ. शान्ताबाई केसरचदजी चोरडिया	"
१०१)	श्री केवलचदजी हिरालालजी भंडारी	पुणे
१०१)	श्री कस्तूरीलालजी बचनलालजी ओसवाल	मालेरकोटला
१०१)	श्री प्रेमचन्दजी फूलचदजी फूलफगर	औरंगाबाद
१००)	बन्सीलालजी भागचन्दजी मुथा	गोरेगाव
५१)	श्री पवनकुमारजी जैन	धुरी (पंजाब)

— बदरीनारायण शुक्ल

ॐ

याकिनीमहत्तरासूनु-परमगुणानुरागि-परममत्यप्रिय-परमकारुणिक
भगवत्-श्रीहरिभद्र-सूरिवररचिता-

❋ समराइच्चकहा ❋



पणमह विजिअसुदुज्जय-निज्जिअसुरमणुअ-विसमसरपसरं।
तिहुअणमंगलनिलयं वसहगइगयं जिणं उसहं ॥१॥
परमसिरिवद्धमाणं पणट्ठमाणं विसुद्धवरनाणं ।
गयजोअं जोईसं सयंभुवं वद्धमाणं च ॥२॥
सेसे च्चिय बावीसे जाइ-जरा-मरणबन्धणविमुक्के ।
तेलोक्कमत्थयत्थे तित्थयरे भावओ नमह ॥३॥
उवणेउ मंगलं वो जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ ।
तित्थपवत्तणसमए तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी ॥४॥

समरादित्यकथा–

प्रणमत विजितसुदुर्जय-निर्जितसुरमनुज-विषमशरप्रसरम् ।
त्रिभुवनमङ्गलनिलयं वृषभगतिगतं जिनम्-ऋषभम् ॥१॥
परमश्रीवर्धमानं प्रनष्टमानं विशुद्धवरज्ञानम् ।
गतयोगं योगीशं स्वयंभुवं वर्धमानं च ॥२॥
शेषांश्चैव द्वाविंशति जाति-जरा-मरणबन्धनविमुक्तान् ।
त्रैलोक्यमस्तकस्थान् तीर्थंकरान् भावतो नमत ॥३॥
उपनयतु मङ्गलं वो जिनानां मुखरालिजालसंवलिता ।
तीर्थप्रवर्तनसमये त्रिदशविमुक्ता कुसुमवृष्टिः ॥४॥

देउ सुहं वो सुर-सिद्ध-मणुअवन्देहि सायरं नमिआ।
तित्थयरवयणपङ्कयविणिग्गया मणहरा वाणी ॥५॥

अलं पवित्थरेण। सुणह सोअव्वाइं, पसंसह पसंसणिज्जाइं, परिहरह परिहरिअव्वाइं, आयरह आयरिअव्वाइं। तत्थ–

सोअव्वाइं नरा-ऽमर-सिवसुहजणयाइं अत्थसाराइं।
सव्वण्णुभासिआइं भुवणम्मि पइट्ठिअजसाइं ॥६॥
ताइं चिय विबुहाणं पसंसणिज्जाइं तह य जाइं च।
तेहिं चिय भणिआइं सम्मत्त-णाण-चरणाइं ॥७॥
परिहरिअव्वाइं तहा कुगईवासस्स हेउभूआइं।
मिच्छत्तमाइआइं लोगविरुद्धाइं य तहेव ॥८॥
आयरिअव्वाइं अणिस्सिएण सम्मत्त-नाण-चरणाइं।
दोगच्चविउडणाइं चिन्तामणिरयणभूआइं ॥९॥

ददातु सुखं वः सुर-सिद्ध-मनुजवृन्दैः सादरं नता।
तीर्थंकरवदनपङ्कजविनिर्गता मनोहरा वाणी ॥५॥

अलं प्रविस्तरेण। शृणुत श्रोतव्यानि, प्रशंसत प्रशंसनीयानि, परिहरत परिहर्तव्यानि, आचरत आचरितव्यानि। तत्र–

श्रोतव्यानि नरा-ऽमर-शिवसुखजनकानि अर्थसाराणि।
सर्वज्ञभाषितानि भुवने प्रतिष्ठितयशांसि ॥६॥
तान्येव विबुधानां प्रशंसनीयानि तथा च यानि च।
तैरेव भणितानि सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानि ॥७॥
परिहर्तव्यानि तथा कुगतिवासस्य हेतुभूतानि।
मिथ्यात्वादिकानि लोकविरुद्धानि च तथैव ॥८॥
आचरितव्यानि अनिश्रितेन सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानि।
दौर्गत्यविद्रावणानि चिन्तामणिरत्नभूतानि ॥९॥

एत्थं पुण अहिगारो ता सोअव्वेहि पत्थुअपबन्धे ।
सव्वण्णुभासिआइं सोअव्वाइं ति भणियमिणं ॥१०॥
वोच्छं तप्पडिबद्धं भवियजणाणन्दयारिणि परमं ।
संखेवओ महत्थं चरिअकहं तं निसामेह ॥११॥

तत्थ य 'तिविहं कहावत्थुं' ति पुव्वायरियपवाओ। तं जहा–दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्वं नाम, जत्थ केवलमेव देवचरिअं वण्णिज्जइ। दिव्वमाणुसं पुण, जत्थ दोण्हं पि दिव्वमाणुसाणं। माणुसं तु, जत्थ केवलं माणुसचरियं ति। एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवन्ति। तं जहा–अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, संकिण्णकहा य। तत्थ अत्थकहा नाम, जा अत्थोवायाणपडिबद्धा, असि-मसि-कसि-वाणिज्ज-सिप्पसंगया, विचित्तधाउवायाइपमुहमहोवायसपउत्ता, साम-भेयउप्पयाण-दण्डाइपयत्थविरइआ सा अत्थकह त्ति भण्णइ। जा उण कामो-वायाणविसया, वित्त-वपु-व्वय-कला-दक्खिण्णपरिगया, अणुरायपुलइ-अपडिवत्तिजोअसारा, दूईवावार-रमियभावाणुवत्तणाइपयत्थसगया सा

अत्र पुनरधिकारस्तावत् श्रोतव्यै. प्रस्तुतप्रबन्धे ।
सर्वज्ञभाषितानि श्रोतव्यानीति भणितमिदम् ॥१०॥
वक्ष्ये तत्प्रतिबद्धा भव्यजनानन्दकारिणीं परमाम् ।
सक्षेपतो महार्थां चरितकथा ता निशाम्यत ॥११॥

तत्र च 'त्रिविध कथावस्तु' इति पूर्वाचार्यप्रवाद.। तद्यथा–दिव्यम्, दिव्यमानुषम्, मानुषं च। तत्र दिव्य नाम, यत्र केवलमेव देवचरितं वर्ण्यते। दिव्यमानुषं पुनः, यत्र द्वयोरपि दिव्यमानुषयो (चरितम्)। मानुषं तु, यत्र केवलं मानुषचरितमिति। अत्र सामान्यत चतस्रः कथा भवन्ति। तद्यथा–अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, संकीर्णकथा च। तत्र अर्थकथा नाम, या अर्थोपादानप्रतिबद्धा, असि-मसि-कृषि-वाणिज्य-शिल्पसगता, विचित्रधातुवादादिप्रमुखमहोपायसप्रयुक्ता, साम-भेदो-दानदण्डादिपदार्थविरचिता सा 'अर्थकथा' इति भण्यते। या कामोपादानविषया, वित्त-वपुर्वय-कला-दाक्षिण्यपरिगता, अनुराग-पुलकितप्रतिपत्तियोगसारा, दूतीव्यापार-रतभावानुवर्तनादिपदार्थसगता

कामकह त्ति भण्णइ। जा उण धम्मोवायाणगोयरा, खमा-मद्दव-ऽज्जव-मुत्ति-तव-संजम-सच्च-सोया-ऽऽकिंचण्ण-बंभचेर-पहाणा, अणुव्वय-दिसि-देस-ऽणत्थ-दण्डविरई-सामाइय-पोसहोववासोवभोग-परिभोग-ऽतिहिसंविभाग-कलिया, अणुकम्पा-ऽकामनिज्जराइपयत्थसंपउत्ता सा धम्मकह त्ति। जा उण तिवग्गोवायाणसंबद्धा, कव्व-कहा-गन्थत्थवित्थरविरइया, लोइय-वेय-समयपसिद्धा, उयाहरण-हेउ-कारणोववेया सा संकिण्णकह त्ति वुच्चइ। एयाणं च कहाणं तिविहा सोयारो हवन्ति। तं जहा-अहमा, मज्झिमा उत्तम त्ति। तत्थ जे कोह-माण-माया-लोह-समाच्छाइयमई, परलोयदंसणपरंमुहा, इहलोगपरमत्थदंसिणो, निरणुकम्पा जीवेसु, ते तहाविहा तामसा अहमपुरिसा दुग्गइगमणकन्दुज्जमाए, सुगइपडिवक्खभूयाए, परमत्थओ ऽणत्थबहुलाए अत्थकहाए अणुरज्जन्ति। ते उण सद्दाइविसयविसमोहियमणा, भावरिउ-इन्दियाणुकूलवत्तिणो, अभावियपरमत्थमग्गा, 'इमं सुन्दरं, इमं सुन्दरयरं' ति सुन्दरासुन्दरेसु अविणिच्छियमई ते रायसा मज्झिमपुरिसा बहुजणोवहसणिज्जाए विडम्बणमेत्तपडिबद्धाए, इह परभवे य

'कामकथा' इति भण्यते। या पुनर्धर्मोपादानगोचरा, क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तपः-संयम-सत्य-शौचा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यप्रधाना, अनुव्रत-दिग्-देशा-ऽनर्थदण्डविरति-सामायिक-पौषधोपवासोपभोग-परिभोगा-ऽतिथिसंविभागकलिता, अनुकम्पा-ऽकामनिर्जरादिपदार्थसंप्रयुक्ता सा 'धर्मकथा' इति (भण्यते)। या पुनस्त्रिवर्गोपादानसंबद्धा, काव्य-कथा-ग्रन्थार्थविस्तरविरचिता, लौकिक-वेदसमयप्रसिद्धा, उदाहरण-हेतु-कारणोपेता सा 'सकीर्णकथा' इति उच्यते। एतासां च कथानां त्रिविधाः श्रोतारो भवन्ति। तद्यथा—अधमाः, मध्यमाः, उत्तमा इति। तत्र ये क्रोध-मान-माया-लोभसमाच्छादितमतयः, परलोकदर्शनपराङ्मुखा, निरनुकम्पा जीवेषु, ते तथाविधाः तामसा अधमपुरुषाः दुर्गतिगमनकन्दोद्यतायाम्, सुगतिप्रतिपक्षभूतायाम्, परमार्थतः अनर्थबहुलायाम्-अर्थकथायाम्-अनुरज्यन्ति। ये पुनः शब्दादिविषयविषमोहितमनसः, भावरिपु-इन्द्रियानुकूलवर्तिनः, अभावितपरमार्थमार्गाः, 'इदं सुन्दरम्' इदं सुन्दरतरम्' इति सुन्दरासुन्दरेषु अविनिश्चितमतयः, ते राजसा मध्यमपुरुषा बहुजनोपहसनीयायाम् विडम्बनमात्रप्रतिबद्धायाम्, इह परभवे च

दुक्खसंवड्डियाए कामकहाए अणुसज्जन्ति । जे उण मणयं सुन्दरयरा, सावेक्खा उभयलोएसु, कुसला ववहारनयमएणं, परमत्थओ सारविन्नाणरहिया, खुद्दभोएसु अबहुमाणिणो, अवितण्हा उदारभोगाणं, ते किंचि सत्तिया मज्झिमपुरिसा चेव आसयविसेसओ सुगइ-दुग्गइवत्तिणीए, जीव-लोगसभावविब्भमाए, सयलरसनीसन्दसगयाए, विविहभावपसूइनिबन्धणाए संकिण्णकहाए अणुसज्जन्ति । जे उण जाइ-जरामरणजणियवेरग्गा, जम्मन्तरम्मि वि कुसलभाविअमई, निव्विण्णा कामभोगाण, मुक्कपाया पावलेवेण, विन्नायपरमपयसरूवा, आसन्ना सिद्धिसंपत्तीए, ते सत्तिया उत्तमपुरिसा सग्ग-निव्वाणसमारुहणवत्तिणीए, बहुजणपसंसणिज्जाए, सयलकहासुन्दराए, महापुरिससेवियाए धम्मकहाए चेव अणुसज्जन्ति ।

तओ अहं पि इयाणि दिव्व-माणुसवत्थुगयं धम्मकहं चेव कित्तइस्सामि । भणियं च अकयपरोवयारनिरएहिं, उवलद्धपरमपयमग्गेहिं, सम-तिण-मणि-मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणेहिं सासयसिवसोक्खबद्धराएहिं धम्मसत्थयारेहिं—

दु खसंवर्धिकायां कामकथायाम्-अनुपजन्ति । ये पुनर्मनाक् सुन्दरतराः, सापेक्षा उभयलोकेषु, कुशला व्यवहारनयमतेन, परमार्थत सारविज्ञानरहिता, क्षुद्रभोगेषु अबहुमानिनः, अवितृष्णा उदारभोगानाम् ते किञ्चित् सात्त्विका मध्यमपुरुषादचैव आशयविशेषत सुगति-दुर्गतिवर्तिन्याम्, जीव-लोकस्वभावविभ्रमायाम् सकलरसनिःष्यन्दसगतायाम्, विविधभावप्रसूतिनिबन्धनाया संकीर्णकथायाम्-अनुपजन्ति । ये पुनर्जाति-जरा-मरणजातवैराग्या., जन्मान्तरेऽपि कुशलभावितमतय , निर्विण्णा कामभोगेभ्यः, मुक्तप्राया पापलेपेन, विज्ञातपरमपदस्वरूपा , आसन्ना सिद्धिसप्राप्त्यै, ते सात्त्विका उत्तमपुरुषा स्वर्ग-निर्वाणसमारोहणवर्तिन्याम्, बहुजनप्रशसनीयायाम्, सकलकथासुन्दरायाम्, महापुरुषसेवितायां धर्मकथायामेव अनुपजन्ति ।

ततोऽहमपि इदानीं दिव्य-मानुषवस्तुगता धर्मकथामेव कीर्तयिष्यामि । भणित च अकृतपरोपकारनिरतै., उपलब्धपरमपदमार्गै., समतृण-मणि-मुक्ता-लेष्टु-काञ्चनैः शाश्वतशिवसौख्यबद्धरागैर्धर्मशास्त्रकारैः—

नवपुव्वभयनिबद्धं संवेगकरं च भव्वसत्ताणं ।
चरियं समराइच्चस्स ऽवन्तिरन्नो सुणह, वोच्छं । १
एत्थं बहुया उ भवा बोण्ह वि उवओगिणो न ते स
नवसु परोप्परजोगो जत्तो संखा इमा भणिया ।।२
जह तेणेव भगवया गिरिसेणुवसग्गसहणपज्जन्ते ।
संजायकेवलेणं सिट्ठं वेलंधरसुरस्स ।।२१।।
मुणिवन्द(चन्द)स्स य रन्नो देवीण य नम्मयापह
संखेवेण फुडत्यं अहमवि तं संपवक्खामि ।।२२।।

भणियं च पुव्वायरिएहिं.—

गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहा-ऽऽणन्दा य तह पिया-उ
सिहि-जालिणि माइ-सुया धण-धण-सिरिमो य पइ-भज्ज
जय-विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई-
सेण-विसेणा पित्तिय-उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ।।२
गुणचन्द-वाणमतर समराइच्च गिरिसेणपाणो उ ।

नवपूर्वभवनिबद्ध संवेगकर च भव्यसत्त्वानाम् ।
चरितं समरादित्यस्य अवन्तीराजस्य शृणुत, वक्ष्ये ।।१९।
अत्र बहुकास्तु भवा द्वयोरपि उपयोगिनो न ते सर्वे ।
नवसु परस्परयोगो यत संख्या इय भणिता ।।२०।।
यथा तेनैव भगवता गिरिसेनोपसर्गसहनपर्यन्ते ।
संजातकेवलेन शिष्टं वेलंधरसुरस्य ।।२१।।
मुनिवन्द्य(चन्द्र)स्य च राज्ञ देवीना च नर्मदाप्रधानानाम्
सक्षेपेण स्फुटार्थम्, अहमपि त सप्रवक्ष्यामि ।।२२।।

भणितं च पूर्वाचार्यै.—

गुणसेन-अग्निशर्माणौ सिंहा—ऽऽनन्दौ च तथा पितृ—पुत्रौ
शिखि-जालिन्यौ मातृ-सुते धन-धनश्रियौ च पति-भार्ये ।।२३।।
जय-विजयौ च सहोदरौ धरणो लक्ष्मीश्च तथा पति-भार्ये ।
सेन-विसेनौ पितृव्य-पुत्रौ जन्मनि सप्तमके ।।२४
———— ——मन्तरौ समरादित्य, गिरिसेनप्राण

एक्कस्स तओ मोक्खो बीयस्स अणन्तरमगारो ॥२५॥
नगराइ-निइपइट्ठं जयउर-कोसंबि-सुहम्मनयरं च ।
कायन्दी, मायन्दी, चम्पा, ओज्झा, य उज्जेणी ॥२६॥
गुणसेणस्सुववाओ सोहम्म-सणंकुमार-बम्भेसु ।
सुक्का-ऽऽणया-ऽऽरणेसुं गेवेज्जा-ऽणुत्तरेसुं च ॥२७॥
इयरस्स उ उववाओ विज्जुकुमारेसु होइ नायव्वो ।
सेसो अणन्तरो उण रयणाईसुं अहाकमसो ॥२८॥
सागरमेगं पञ्च य नव-पण्णरसेव तह य अट्ठारा ।
वीसं तीसं तेत्तीसमेव पढमस्स देवेसु ॥२९॥
देवेसु सड्ढपलियं सागरतिय सत्त दस य सत्तरस ।
बावीसं तेत्तीसं बीयस्स ठिई उ नरएसु ॥३०॥

एवमेयाओ चरियसंगहणिगाहाओ । संपयं एयासिं चेव गुरुवएसाणुसारेणं वित्थरेणं भावत्थो कहिज्जइ–

एकस्य ततो मोक्षः द्वितीयस्य अनन्तरमगारः ॥२५॥
नगरादि-क्षितिप्रतिष्ठम्, जयपुर-कौशाम्बी-सुशर्मनगरं च ।
काकन्दी, माकन्दी, चम्पा, अयोध्या च उज्जयिनी ॥२६॥
गुणसेनस्योपपातः, सौधर्म-सनत्कुमार-ब्रह्मेषु ।
शुक्रा-ऽऽनता-ऽऽरणेषु ग्रैवेयका-ऽनुत्तरेषु च ॥२७॥
इतरस्य च उपपातः विद्युत्कुमारेषु भवति ज्ञातव्यः ।
शेषोऽनन्तरः पुनः रत्नादिषु यथाक्रमशः ॥२८॥
सागरमेकं पञ्च च नव पञ्चदशैव तथा चाष्टादश ।
विंशतिः, त्रिंशत्, त्रयस्त्रिंशद् एव प्रथमस्य देवेषु ॥२९॥
देवेषु सार्धपल्यम्, सागरत्रिकं सप्त दश च सप्तदश ।
द्वाविंशति - त्रयस्त्रिंशद् द्वितीयस्य स्थितिस्तु नरकेषु ॥३०॥
। । । साम्प्रतमेतासां चैव गुरूपदेशानुसारेण

पढमो भवो



अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे दीवे, अवरविदेहे वासे उत्तुंगधवलपागार-मण्डियं, नलिणिवणसंछन्नपरिहासणाहं, सुविभत्ततिय-चउक्क-चच्चरं भवणेहिं जियसुरिन्दभवणसोहं खिइपइट्ठियं नाम नयरं।

जत्थ विलयाउ कमलाइं कोइलं कुवलयाइं कलहंसे।
वयणेहिं जंपिएण य नयणेहिं गईहिं य जिणन्ति ॥१॥
जत्थ य नराण वसणं विज्जासु, जसम्मि निम्मले लोहो।
पावेसु सया भीरुत्तणं, च धम्मम्मि घणबुद्धी ॥२॥
तत्थ य राया संपुण्णमण्डलो मयकलङ्कपरिहीणो।
जणमणनयणाणन्दो नामेणं पुण्णचन्दो त्ति ॥३॥
अन्तेउरप्पहाणा देवी नामेण कुमुइणी तस्स।
सइ वड्ढियविसयसुहा इट्ठा य रइ व्व मयणस्स ॥४॥

प्रथमो भवः

अस्ति इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे, अपरविदेहे वर्षे, उत्तुङ्गधवलप्राकार-मण्डितम्, नलिनीवनसंछन्नपरिखासनाथम्, सुविभक्तत्रिकचतुष्क-चत्वरम्, भवनैर्जितसुरेन्द्रभवनशोभं क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरम्।

यत्र वनिताः कमलानि, कोकिलां, कुवलयानि, कलहंसान्।
वदनैः, जल्पितेन च नयनैः, गतिभिश्च जयन्ति ॥१॥
यत्र च नराणां व्यसनं विद्यासु, यशसि निर्मले लोभः।
पापेषु सदा भीरुत्व, च धर्मे धनबुद्धिः ॥२॥
तत्र च राजा संपूर्णमण्डलो मृग(मद) कलङ्कपरिहीणः।
जनमनो-नयनानन्दो नाम्ना पूर्णचन्द्र इति ॥३॥
अन्तःपुरप्रधाना देवी नाम्ना कुमुदिनी तस्य।
सदा वर्धितविषयसुखा इष्टा च रतिरिव मदनस्य ॥४॥

सुतुरियतुरियं हिण्डावेइ । एयं च पइदिणं कयन्तेणेव तेण कयत्थिज्जन्तस्स तस्स वेरग्गभावणा जाया । चिन्तियं च णेण–

बहुजणधिक्कारहया ओहसणिज्जा य सव्वलोयस्स ।
पुव्विं अकयसुपुण्णा सहन्ति परपरिभवं पुरिसा ॥६॥
जइ ता न कओ धम्मो सप्पुरिसनिसेविओ अहन्नेणं ।
जम्मन्तरम्मि धणियं सुहावहो मूढहियएणं ॥७॥
एण्हिं पि फलविवागं उग्गं दट्ठूणमकयपुण्णाणं ।
परलोयबन्धुभूयं करेमि मुणिसेवियं धम्मं ॥८॥
जम्मन्तरे वि जेणं पावेमि न एरिसं महाभीमं ।
सयलजणोहसणिज्जं विडम्बणं दुज्जणजणाओ ॥९॥

एवं च चिन्तिय पवन्नवेरग्गमग्गो, निग्गओ नयराओ, पत्तो य मासमेत्तेण कालेण तद्दियसयसन्धिसंठियं, बउल-चम्पगा-ऽसोग-पुन्नाग-नागाउलं, पसन्तमय-मयाहिवपमुहविरुद्धसावयगणं, सुरहिहुविगन्ध-

---

सुत्वरितत्वरित हिण्डयति । एव प्रतिदिन कृतान्तेनेव तेन कदर्थ्यमानस्य तस्य वैराग्यभावना जाता । चिन्तित चानेन–

बहुजनधिक्कारहता अपहसनीयाश्च सर्वलोकस्य ।
पूर्वमकृतसुपुण्या सहन्ते परपरिभव पुरुषा ॥६॥
यदि तावद् न कृतो धर्म. सुपुरुषनिसेवितोऽधन्येन ।
जन्मान्तरे गाढ सुखावहो मूढहृदयेन ॥७॥
एतेनेहापि फलविपाकमुग्र दृष्ट्वाऽकृतपुण्यानाम् ।
परलोकबन्धुभूत करोमि मुनिसेवित धर्मम् ॥८॥
जन्मान्तरेऽपि येन प्राप्नोमि नैतादृशीं महाभीमाम् ।
सकलजनोपहसनीया विडम्बना दुर्जनजनात् ॥९॥

एवं च चिन्तयित्वा प्रपन्नवैराग्यमार्गो निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च मासमात्रेण कालेन तद्दिवसयसधिसंस्थितम्, बकुल-चम्पका-ऽशोक-पुन्नाग-नागाकुलम् प्रशान्तमृग-मृगाधिपप्रमुखविरुद्धश्वापदगणम्, सुरभिहविर्गन्ध-

गब्भिणुद्दामधूमपडलं, विमलसलिलगिरि-नईपसाहियवियडपेरन्तं, ताव-
सजणजणियहियपरिओसं सुपरिओसं नाम तवोवणं ति ।

संपाविऊण य तओ दीहद्धाणपरिखेइयसरीरो ।
वीसमिऊण मुहुत्तं तवोवणं अह पविट्ठो सो ॥१०॥
दिट्ठो य तेण वक्कल-वियडजडा-ऽजिण-तिदण्डधारी य ।
भूइरयकयतिपुण्डो आसन्नकमण्डलू सोमो ॥११॥
भिसियाए सुहनिसण्णो कयलीहरयन्तरम्मि झाणगओ ।
परियत्तेन्तो दाहिणकरेण रुद्दक्खमालं ति ॥१२॥
मन्तक्खरजवणेण य ईसिं विलयन्तकण्ठउट्ठउडो ।
नासाए निमियदिट्ठी विणिवारियसेसवावारो ॥१३॥
अयसिमयजोगपट्टयपमाणसंगयकयासणविसेसो ।
तावसकुलप्पहाणो अज्जवकोडिण्णनामो त्ति ॥१४॥

पेच्छिऊण य हरिसवसुल्लसियरोमञ्चेणं, धरणिनिमियजाणुकरय-
लेणं, उत्तिमंगेण पुणो पुणो पहयखिइतलेणं 'अहो ! धन्नो, अहो ! धन्नो'

गर्भितोद्दामधूमपटलम्, विमलसलिलगिरि-नदीप्रसाधितविकटपर्यन्तम्,
तापसजनजनितहृदयपरितोषं सुपरितोषं नाम तपोवनमिति ।

सम्प्राप्य च ततो दीर्घाध्वपरिखेदितशरीरः ।
विश्रम्य मुहूर्तं तपोवनमथ प्रविष्टः सः ॥१०॥
दृष्टश्च तेन वल्कल-विकटजटा-ऽजिन-त्रिदण्डधारी च ।
भूतिरजस्कृतत्रिपुण्ड्रः आसन्नकमण्डलुः सोमः ॥११॥
वृषिकायां (कुशासने) सुखनिषण्णः कदलीगृहान्तरे ध्यानगतः ।
परिवर्तयन् दक्षिणकरेण रुद्राक्षमालामिति ॥१२॥
मन्त्राक्षरजपनेन च ईषद् विचलत्कण्ठोष्ठपुटः ।
नासया निमितदृष्टिः विनिवारितशेषव्यापारः ॥१३॥
अतसीमययोगपट्टकप्रमाणसंगतकृतासनविशेषः ।
तापसकुलप्रधानः आर्जवकौण्डिन्यनामेति ॥१४॥

प्रेक्ष्य च हर्षवशोल्लसितरोमाञ्चेन, धरणीन्यस्तजानुकरतलेन,
उत्तमाङ्गेन पुनः पुनः प्रहतक्षितितलेन 'अ[illegible]न्यः, अहो ! धन्यः'

त्ति भणमाणेणं पणमिओ तेणं वि य सं तहा पेच्छिऊण अतिहिबहुमान-करणलालसेण झाणजोगं पमोत्तूणं सागयवयणपुरस्सरं 'अहो ! आसणं आसणं' ति भणमाणेणं बहुमन्निओ। तओ उडयंगणनिसेवितावसकुमारोवणीए इसिणा य 'उवविससु एत्थ' त्ति भणिओ सविणयं उवविट्ठो विट्ठरे त्ति। पुच्छिओ इसिणा—कुओ भवं आगओ ?' त्ति। तओ तेण सवित्थरो निवेइओ से अत्तणो वुत्तन्तो। भणिओ य इसिणा—वच्छ ! पुव्वकयकम्मपरिणइवसेणं एवं परिकिलेसभाइणो जीवा हवन्ति। ता नरिन्दावमाणपीडियाणं, दारिद्ददुक्खपरिभूयाणं, दोहग्ग-कलङ्कदूमियाणं, इट्ठजणविओगदहणतत्ताण य एयं परं इह-परलोयसुहावहं परमनिव्वुइट्ठाणं ति। एत्थ—

पेच्छन्ति न संगकयं दुक्खं अवमाणणं च लोगाओ।
दोग्गइपडणं च तहा वणवासी सव्वहा धन्ना ॥१५॥

एवमणुसासिएण भणियं अग्गिसम्मेणं—भगवं ! एवमेयं, न संदेहो त्ति। ता जइ भयवओ ममोवरि अणुकम्पा, उचिओ वा अहं

इति भणता प्रणतस्तेन। तेनाऽपि च तं तथा प्रेक्ष्य अतिथिबहुमान-करणलालसेन ध्यानयोगं प्रमुच्य स्वागतवचनपुरस्सरम् 'अहो ! आसनम्, आसनम्' इति भणता बहुमानितः। तत उटजाङ्गणनिसेवितापसकुमारोपनीते ऋषिणा च 'उपविश अत्र' इति भणितः सविनयम्, उपविष्टो विष्टरे इति। पृष्ठ ऋषिणा—'कुतो भवान् आगतः'? इति। ततस्तेन सविस्तरो निवेदितस्तस्य आत्मनो वृत्तान्तः। भणितश्च ऋषिणा—वत्स ! पूर्वकृतकर्मपरिणतिवशेनैव परिक्लेशभाजिनो जीवा भवन्ति। तस्माद् नरेन्द्रापमानपीडितानाम्, दारिद्रयदुःखपरिभूतानाम्, दौर्भाग्य-कलङ्कदूनानाम्, इष्टजनवियोगदहनतप्तानां चैतत् परं इह-परलोकसुखावहं परमनिर्वृतिस्थानमिति। अत्र—

प्रेक्षन्ते न सगकृतं दुःखम् अवमाननं च लोकात्।
दुर्गतिपतनं च तथा वनवासिनः सर्वथा धन्याः ॥१५॥

एवमनुशासितेन भणितमग्निशर्मणा—भगवन् ! एवमेतत्, न संदेह इति। तस्माद् यदि भगवतो ममोपरि अनुकम्पा, उचितो वा अ

एयस्स वयविसेसस्स, ता करेहि मे एययप्पयाणेणाणुग्गहं ति। इसिप
भणियं–वच्छ ! वेरग्गमग्गाणुगओ तुमं ति करेमि अणुग्गहं, को अन्नो
एयस्स उचिओ त्ति । तओ अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु संसिऊण य सवित्थरं
नियमायारं, पसत्थे तिहिकरण-मुहुत्त-जोग-लग्गे दिन्ना से तावसदिक्खा।
महापरिभवजणियवेरग्गाइसयभाविएण याणेण तम्मि चेव दिक्खादिवसे
सयलतावसलोयपरियरियगुरुसमक्खं कया महापइन्ना । जहा–जावज्जीवं
मए मासाओ चेव भोत्तव्वं, पारणगदिवसे य पढमपविट्ठेणं पढमगेहाओ
चेव लाभे वा अलाभे वा नियत्तियव्व, न गेहन्तरमभिगन्तव्वं ति। एवं
कयपइन्नस्स तस्स जहाकय पइन्नमणुपालिन्तस्स अइक्कन्ता बहवे पुव्व-
लक्खा । तवोवणासन्नवसन्तउरनिवासिणो य लोयस्स गुणराइणो जाओ
तं पइ अईव भत्तिबहुमाणो । अहो ? अयं महातवस्सी इहलोयनिप्पिवासो,
सरीरे वि दढमप्पडिबद्धो, एयस्स सफलं जीवियं ति। भणियं च–

जणवयरायबहुमाणिणा वि जत्तो गुणेसु कायव्वो ।
आवज्जन्ति गुणा खलु अबुहं पि जणं अमच्छरियं ॥१६॥

एतस्य व्रतविशेषस्य, तस्मात् कुरु मम एतद्व्रतप्रदानेन अनुग्रहमिति ।
ऋषिणा भणितम्–वत्स ! वैराग्यमार्गानुगतस्त्वमिति करोमि अनुग्रहम्,
कोऽन्य एतस्य उचित इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु शंसित्वा च
सविस्तरं निजकमाचारम्, प्रशस्ते तिथिकरण-मुहूर्त-योग-लग्ने दत्ता
तस्य तापसदीक्षा महापरिभवजनितवैराग्यातिशयभावितेन चानेन तस्मि-
न्नेव दीक्षादिवसे सकलतापसलोकपरिकरितगुरुसमक्षं कृता महाप्रतिज्ञा।
यथा–यावज्जीवं मया मासाद् मासाद् एव भोक्तव्यम्, पारणकदिवसे च
प्रथमप्रविष्टेन प्रथमगेहाद् एव लाभे वाऽलाभे वा निवर्तितव्यम्, न
गेहान्तरमभिगन्तव्यमिति । एवं च कृतप्रतिज्ञस्य तस्य यथाकृता प्रतिज्ञा-
मनुपालयतोऽतिक्रान्तानि बहूनि पूर्वलक्षाणि । तपोवनासन्नवसन्तपुर-
निवासिनश्च लोकस्य गुणरागिणो जातस्तं प्रति अतीव भक्ति-बहुमानः।
अहो ! अयं महातपस्वी इहलोकनिष्पिपासः, शरीरेऽपि दृढमप्रतिबद्धः,
एतस्य सफलं जीवितमिति । भणितं च–

जनपदराजबहुमानिनाऽपि यत्नो गुणेषु कर्तव्यः ।
(आवर्जयन्ति) आवर्जयन्ति गुणा खलु अबुधमपि जनममात्सर्यम् ॥१६॥

इओ य पुण्णचन्दो राया कुमारगुणसेणं कयदारपरिग्गहं रज्जे अभिसिञ्चिऊण सहकुमुइणीए देवीए तवोवणवासी जाओ। सो य कुमारगुणसेणो अणेयसामन्तपणिवइयचलणजुयलो, निज्जियनियमण्डलाहियाणेगमण्डलो, दसदिसि विसट्टनिम्मलविसुयजसो, धम्म-त्थ-कामलक्खणतिवग्गसंपायणरओ महाराया संवुत्तो त्ति। अन्नया य कालक्कमेणेव जहासुहं सयलजणसलाहणिज्जं सह वसन्तसेणाए महादेवीए रज्जसोक्खं अणुहवन्तो आगओ वसन्तउरं, पविट्ठो य महामङ्गलोवयारेणं, पूजिओ य पउरेहिं, गओ समं तेहिं पाउसलीलावलम्बिसोहियं विमाणच्छन्दयं नाम पासायं। जत्थ मेहदुद्दिणच्छायाणुयारिणीओ बहलकालागरुधूमसंतईओ, सोयामणीओ विव विहायन्ति रयणावलीओ, जलधाराओ विव दीसन्ति मुत्तावलीओ, बलायापन्तियाओ विव विहायन्ति चमरपन्तियाओ, इन्दाउहच्छायावहारिणीओ पलम्बियाओ पट्टंसुयमालाओ, गन्धोयगावसेयसुरभिगन्धा भूमिभागा, रुन्दन्तमहुयरकुलावइण्णा पुप्फोवयारा। किं बहुणा जंपिएण ?।

पुरिसाण मोहनिद्दासुत्ताण वि सिमिणयं पिव कहेइ।
पुव्विं कयाण वियडं फलं च जो भागधेयाणं ॥१७॥

इतश्च पूर्णचन्द्रो राजा कुमारगुणसेनं कृतदारपरिग्रहं राज्येऽभिषिच्य सह कुमुदिन्या देव्या तपोवनवासी जातः। स च कुमारगुणसेनोऽनेकसामन्तप्रणिपतितचरणयुगलः, निर्जितनिजमण्डलाधिकानेकमण्डलः, दशदिशि विकसितनिर्मलविश्रुतयशाः, धर्मार्थकामलक्षणत्रिवर्गसंपादनरतो महाराजः संवृत्त इति। अन्यदा च कालक्रमेणैव यथासुखं सकलजनश्लाघनीयं सह वसन्तसेनया महादेव्या राज्यसौख्यमनुभवन् आगतो वसन्तपुरम्, प्रविष्टश्च महामङ्गलोपचारेण, पूजितश्च पौरैः, गतः समं तैः प्रावृड्लीलावलम्बिशोभितं विमानच्छन्दकं नाम प्रासादम्। यत्र मेघदुर्दिनच्छायानुकारिण्यो बहलकालागुरुधूमसंततयः, सौदामिन्य इव विभान्ति रत्नावल्यः, जलधारा इव दृश्यन्ते मुक्तावल्यः, बलाकापङ्क्तय इव विभान्ति चमरपङ्क्तिकाः, इन्द्रायुधच्छायापहारिण्यः प्रलम्बिताः पट्टांशुकमालाः, गन्धोदकावसेकसुरभिगन्धा भूमिभागाः, रटन्मधुकरकुलाकुलावकीर्णाः पुष्पोपचाराः। किं बहुना जल्पितेन ?

पुरुषाणां मोहनिद्रासुप्तानामपि स्वप्नमिव कथयति।
पूर्वं कृतानां विकटं फलं च यो [illegible]

भणियं राइणा – भयवं ! किं ते इमस्स महादुक्करस्स तवचरणववसायस्स कारणं ? । अग्गिसम्मतावसेण भणियं – भो महासत्त ! दारिद्दुक्खं, परपरिहवो, विरूवया, तहा महारायपुत्तो य गुणसेणो नाम कल्लाणमित्तो त्ति । तओ संजायनियनामासंकेण भणियं राइणा–भयवं ! चिट्ठउ ताव दारिद्ददुक्खाइयं ववसायकारणं, अह कहं पुण महारायपुत्तो गुणसेणो नाम कल्लाणमित्तो त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–महासत्त ! एवं कल्लाणमित्तो । सुण–

जे होन्ति उत्तमनरा धम्मं सयमेव ते पवज्जन्ति ।
मज्झिमपयई संचोइया, उ न कयाइ वि जहन्ना ॥१८॥
चोएइ य जो धम्मे जीवं विविहेण केणइ नएण ।
संसारचारयगयं, सो नणु कल्लाणमित्तो त्ति ॥१९॥

तओ राइणा कुमारवुत्तन्तं सुमरिऊण भणियं लज्जावणयवयणेण–भयवं ! कहं पुण तुमं तेण तेलोक्कबन्धुभूए धम्मे चोइओ ? । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–भो महासत्त ! नाणाविहाओ चोयणाओ, ता

भणितं राज्ञा–भगवन् ! किं तव अस्य महादुष्करस्य तपश्चरणव्यवसायस्य कारणम् ? । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–भो महासत्त्व ! दारिद्र्यदुःखम्, परपरिभव, विरूपता, तथा महाराजपुत्रश्च गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्–इति । तत सजातनिजनामाऽऽशङ्केन भणित राज्ञा–भगवन् ! तिष्ठतु तावद् दारिद्र्यदुःखादिकं व्यवसायकारणम्, अथ कथ पुनर्महाराजपुत्रो गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्–इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–महासत्त्व ! एवं कल्याणमित्रम् । शृणु–

ये भवन्ति उत्तमनरा धर्मं स्वयमेव ते प्रपद्यन्ते ।
मध्यमप्रकृतयः सचोदिता, तु न कदाचिदपि जघन्याः ॥१८॥
चोदयति च यो धर्मे जीव विविधेन केनचिद् नयेन ।
समारचारकगतम्, स ननु कल्याणमित्रम्–इति ॥१९॥

ततो राजा कुमारवृतान्त स्मृत्वा भणित लज्जावनतवदनेन–भगवन् ! कथ पुनस्त्व तेन त्रैलोक्यबन्धुभूते धर्मे चोदित ? । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–भो महासत्त्व ! नानाविधाश्चोदनाः, तस्मात्

कहंचि निमित्तमेत्तेणं चेव चोइओ म्हि । तओ राइणा चिन्तियं । अहो ! से महाणुभावया–परिभवो वि याणेणोवयारचोयण त्ति गहिओ । परपरिवायं च परिहरन्तो सुद्धसहावत्तणओ न तं पि मन्नेइ । अहो ! दारुणं अकज्जं मए पावकम्मेणाणुचिट्ठियं । ता कहेमि से अकज्जायरणकलङ्कदूसियं अप्पाणं । एवं चिन्तिऊण जंपियमणेण–भयवं ! अहं सो महापावकम्मयारी तुह हिययसंतावयारी अगुणसेणो त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–भो महाराय ! सागयं ते । कहं तुमं अगुणसेणो ?, जेण तए परपिण्डजीवियमेत्तविहवो अहं ईइसिं तवविभूइं पाविओ त्ति । राइणा भणियं–अहो ! ते महाणुभावया, किं वा तवस्सिजणो पियं वज्जिय अन्नं भणिउं जाणइ ? । न य मियङ्कबिम्बाओ अङ्गारवुट्ठीओ पडन्ति । ता अलं एइणा । भयवं ! कया ते पारणगं भविस्सइ ? । अग्गिसम्मेण भणियं–महाराय ! पञ्चहिं दिणेहिं । राइणा भणियं–भयवं जइ ते नाईव उवरोहो, ता कायव्वो मम गेहे पारणएणं पसाओ । विन्नाओ य मए कुलवइणो सयासाओ तुज्झ पइन्नाविसेसो, अओ अणागयं पत्थेमि त्ति ।

कथचिद् निमित्तमात्रेण एव चोदितोऽस्मि । ततो राज्ञा चिन्तितम् । अहो ! अस्य महानुभावता परिभवोऽपि चानेन उपकारचोदनेति गृहीतः । परपरिवाद च परिहरन् शुद्धस्वभावत्वाद् न तमपि मन्यते । अहो ! दारुण्यमकार्यं मया पापकर्मणाऽनुष्ठितम् । तस्मात् कथयामि तस्य अकार्याचरणकलङ्कदूषितमात्मानम् । एव चिन्तयित्वा जल्पितमनेन–भगवन् ! अहं स महापापकर्मकारी तव हृदयसतापकारी अगुणसेन इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–भो महाराज ! स्वागतं तव । कथं त्वमगुणसेनः ?, येन त्वया परपिण्डजीवितमात्रविभवः अहं ईदृशीं तपोविभूतिं प्रापित इति राज्ञा भणितम्–अहो ! तव महानुभावता, किं वा तपस्विजनः प्रिय वर्जयित्वा अन्यद् भणितु जानाति ? । न च मृगाङ्कबिम्बाद् अङ्गारवृष्टयः पतन्ति । तस्माद् अलमेतेन । भगवन् ! कदा तव पारणकं भविष्यति ? । अग्निशर्मणा भणितम्–महाराज ! पञ्चभिर्दिनैः । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! यदि तव नातीव उपरोधः, तस्मात् कर्तव्यो मम गेहे पारणकेन प्रसादः । विज्ञातश्च मया कुलपतेः सकाशात् तव प्रतिज्ञाविशेष, अतोऽनागतं प्रार्थयामीति ।

अग्गिसम्मेण भणियं–महाराय ! आगच्छउ ताव सो दियहो, को जाणइ अन्तरे किंपि भविस्सइ । अवि य–

एयं करेमि एण्हिं एयं काऊण पुण इमं कल्लं ।
काहिमि, को णु मन्नइ सुविणयतुल्लम्मि जियलोए ? ॥२०॥

अन्नं च महाराय !

धी जियलोयसहावो, जहियं नेहाणुरायकलिया वि ।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा ते अवरण्हे न दीसन्ति ॥२१॥

ता महाराय ! आगच्छउ ताव सो दियहो त्ति । राइणा भणियं–भयवं ! विग्घ मोत्तूण सगच्छउ अग्गिसम्मतावसेण भणियं–जइ एवं ते निब्बन्धो, ता एव पडिवन्ना ते पत्थणा । तओ राया पणमिऊण हरिसवसपुलइयंगो कंचि वेलं गमेऊण पविट्ठो नयरं । कया कुलवइणो सपरिवारस्स भत्तिविभवाणुरूवा पूया । अइक्कन्तेसु य पञ्चसु दिणेसु पारणगदिवसे पढमं चेव पविट्ठो अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं रायगेहं ति । तम्मि य दियहे कहंचि राइणो गुणसेणस्स

अग्निशर्मणाभणितम्–महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस., को जानाति अन्तरे किमपि भविष्यति । अपि च–

एतत् करोमि इदानी एतत् कृत्वा पुनरिद ।
करिष्यामि, को नु मन्यते स्वप्नकतुल्ये जीवलोके ? ॥२०॥

अन्यच्च महाराज !

धिग् जीवलोकस्वभावम्, यत्र स्नेहानुरागकलिता अपि ।
ये पूर्वाह्णे दृष्टा तेऽपराह्णे न दृश्यन्ते ॥२१॥

तस्मात् महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस इति । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! विघ्न मुक्त्वा सगच्छन्ताम् । अग्निशर्मतापसेन भणितम् यदि एष तव निर्बन्ध., तस्माद् एव प्रतिपन्ना तव प्रार्थना । ततो राजा प्रणम्य हर्षवशपुलकिताङ्ग काचिद् वेलां गमयित्वा प्रविष्टो नगरम् । कृता कुलपते सपरिवारस्य भक्तिविभवानुरूपा पूजा । अतिक्रान्तेषु च पञ्चसु दिनेषु पारणकदिवसे प्रथममेव प्रविष्टोऽग्निशर्मतापसः पारणकनिमित्त राजगेहमिति । तस्मिश्च दिवसे कथंचिद् राज्ञो गुणसेनस्य

अतीव सीसवेयणा समुप्पन्ना। तओ आउलीहूयं सव्वं चेव रायउलं। पविट्ठा य तत्थ वेज्जसत्थविसारया वेज्जा उग्गाहेन्ति नाणाविहाओ चिगिच्छा-संहियाओ, पीसिज्जन्ति बहुविहाइ ओसहाइं, दिज्जन्ति सिरोखेयावहारिणो विचित्तरयणलेवा। किंकायव्वमूढा उवहसियसुरक-विहस्सइबुद्धिविवहा-वि मन्तिणो। पत्थुय पुरोहिएहिं मन्तगब्भिणाहुइप्पयाणसार सन्तिकम्मं। तहा मिलाणसुरहिमल्लदामसोह, सुवण्णगड्डुविपलियङ्गरायं, बाहजल-धोयकवोलपत्तलेहं, करयलपणामियपव्वायवयणपङ्कयं, उव्विग्गमन्तेउरं। तहा विरत्तकन्दुयकीलं, परिचत्तचित्तयम्मवावारं, विरयगोय-नच्चणारम्भं, अवहत्थियभूसणकलावं, दुम्मणविमणं कन्नयन्तेउरं। वेत्तजट्ठिनिमिय-विच्छायमुहसोहा य पडिहारा, रन्नो वेयणाइसयसूयगा, दुम्मणा मडह-कञ्चुइया, परिचत्तनिययवावारा, विचित्ता सूयगागारप्पमुहा निओग-कारिणो त्ति। तओसो अग्गिसम्मतावसो एवंविहे रायकुले कंचि वेलं गमेऊण वयणमेत्तेणावि केणवि अकयपडिवत्ती निग्गओ रायगेहाओ त्ति। निग्गन्तूण गओ तवोवणं, दिट्ठो य तावसेहिं, भणिओ य तेहिं—भयवं! अकयपारणगो

अतीव शीर्षवेदना समुत्पन्ना। तत आकुलीभूतं सर्वमेव राज-कुलम्। प्रविष्टा च तत्र वैद्यशास्त्रविशारदा वैद्याः, उद्ग्राहयन्ति नानाविधाः चिकित्सासंहिताः, पिष्यन्ते बहुविधानि ओषधानि, दीयन्ते शिरःखेदा-पहारिणो विचित्ररत्नलेपाः। किंकर्तव्यमूढा उपहसितगुरुबृहस्पतिबुद्धि-विभवा अपि मन्त्रिणः। प्रस्तुतं पुरोहितैः मन्त्रगर्भिताऽऽहुतिप्रदानसार शान्तिकर्म। तथा म्लानसुरभिमाल्यदामशोभम्, सुवर्णकाढ्यविचलिताऽ-ङ्गरागम्, बाष्पजलधौतकपोलपत्रलेखम्, करतलप्रणामितम्लानवदन-पङ्कजम्, उद्विग्नम्—अन्तःपुरम्। तथा विरतकन्दुकक्रीडम्, परित्यक्त-चित्रकर्मव्यापारम्, विरतगीत—नर्तनाऽऽरम्भम्, अपहस्तितभूषणकलापम्, दुर्मनोविमन कन्यकान्तःपुरम्। वेत्रयष्टिन्यस्त—विच्छायमुखशोभाश्च प्रतीहाराः, राज्ञो वेदनातिशयसूचकाः दुर्मनसो लघुकञ्चुकिनः, परि-त्यक्तनिजकव्यापाराः, विचित्राः सूपकारप्रमुखा नियोगकारिण इति। ततः सोऽग्निशर्मतापस एवंविधे राजकुले काञ्चिद् वेलां गमयित्वा वचन-मात्रेणाऽपि केनापि अकृतप्रतिपत्तिर्निगतो राजगेहादिति। स्तपोवनम्, दृष्ट[illegible]।

भणियं—वच्छ ! सव्वस्स जणणीभूओ च्चेव होइ तवस्सिजणो । तओ का तं पइ लज्ज त्ति । ता कहेउ भयवं, जेण मुणियवुत्तन्तो भविय केणइ उवाएण-अवणेमि तं उव्वेवं ति । राइणा भणियं—भयवं ! जइ एवं, ता सुणसु । एस अग्गिसम्मतावसो पढमं चेव मम मन्दपुण्णस्स, असमिक्खियकारिणो, असरिसजणसरिसायरणनिरयस्स संबन्धिणा निव्वेएण तावसो संवुत्तो । एयस्स पवन्नमासवयस्स वि न मए असरिसजणायरणं न परिचत्तं ति इयमुव्विग्गो म्हि । कुलवइणा भणियं—वच्छ ! जइ एवं, ता अलं संतप्पिएण, किं कारणं । जइ तुह संबन्धिणा कारणेण तावसो संवुत्तो, ता तुमं चेव इमस्स धम्मपवत्तगो कल्लाणमित्तो त्ति; किमुव्विग्गो सि ? । न यावि एण्हिं तुह परलोयभीरुणो, अहिगयधम्मसत्थस्स किंचि असज्जणायरणं संभावेमि । किं वा से कयमियाणिं निवेएहि मे । राइणा भणियं—भयवं ! इयाणि ताव एयं उवणिमन्तिऊण मासपारणयपविट्ठस्स सीसवेयणाभिभूएण पमायओ अणिउत्तपरियणेण आहारन्तरायकरणेण कयं से धम्मन्तरायं ति । कुलवइणा भणियं—वच्छ ! ज किंचि एयं, न तुमं एत्थ

भणितम्—वत्स ! सर्वस्य जननीभूतः खलु भवति तपस्विजनः । ततः का त प्रति लज्जा इति । तस्मात् कथयतु भवान्, येन ज्ञातवृत्तान्तो भूत्वा केनचिद् उपायेन अपनयामि तम् उद्वेगमिति । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! यद्येवम्, तत शृणु । एषोऽग्निशर्मतापसः प्रथममेव मम मन्दपुण्यस्य, असमीक्षितकारिण, असदृशजनसदृशाचरणनिरतस्य सबन्धिना निर्वेदेन तापस. सवृत्त । एतस्य प्रपन्नोतमव्रतस्यापि तद् मया असदृशजनाचरण न परित्यक्तमिति इदम्—उद्विग्नोऽस्मि । कुलपतिना भणितम् वत्स ! यद्येवम्, ततोऽल सतप्तेन, कि कारण । यदि तव सबन्धिना कारणेन तापस सवृत्त, ततस्त्वमेव अस्य धर्मप्रवर्तकः कल्याणमित्रम् इति; किम्—उद्विग्नोऽसि ? । न चाऽपि इदानी तव परलोकभीरो, अधिगतधर्मशास्त्रस्य किमपि असज्जनाचरण सभावयामि । कि वा तत् कृतमिदानी निवेदय मे । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! इदानी तावद् एतम्—उपनिमन्त्र्य मासपारणकप्रविष्टस्य शीर्षवेदनाऽभिभूतेन प्रमादतोऽनियुक्तपरिजनेन आहारान्तरायकरणेन कृतस्तस्य धर्मान्तराय इति । कुलपतिना भणितम्—वत्स ! यत् किचिद् एतत्, न त्वम्-अत्र

अवरज्झसि । न तिव्ववेयणाभिभूया पुरिसा कज्जमकज्जं वा वियाणन्ति । न य तस्स आहारन्तरायकरणेणं धम्मन्तरायं हवइ, अवि य तवसंपया । ता अलमुव्वेगेण त्ति । राइणा भणियं-भयवं! जाव तेण महाणुभावेण मम गेहे आहारगहणं न कयं, ताव कहमुव्वेवो अवेइ ? कुलवइणा भणियं-वच्छ ! इयाणि से अविग्घेण जं पारणगं भविस्सइ, तहि ते गेहे आहारगहणं करिस्सइ त्ति । तओ कुलवइणा सद्दाविओ अग्गिसम्मतावसो, सबहुमाणं हत्थे गिण्हिऊण भणिओ य णेण-वच्छ ! जं तुमं अकयपारणगो निग्गओ नरिन्दगेहाओ, एएण दढं संतप्पइ राया । कल्लं च एयस्स अईव सीसवेयणा आसि, अओ वेयणापरवसेण न तुमं पडियग्गिओ त्ति; न एस अवरज्झइ । भणियं च णेण 'जाव मम गेहे अग्गिसम्मतावसेण आहारगहणं न कयं, न ताव मे वेवो अवेइ' । अओ इण्हिं संपत्तपारणगकालेण भवया अविग्घेण मम णाओ नरिन्दबहुमाणओ य एयस्स गेहे पारणगं करियव्वं ति । अग्गिमतावसेण भणियं-भयवं! जं तुब्भे आणवेह । अकारणे संतइ राया, जओ न किंचि मे परलोयविरुद्धमणुचिट्ठियमणेणं । तओ

राध्यसि । न तीव्रवेदनाभिभूता पुरुषा कार्यमकार्यं वा विजानन्ति । च तस्य आहारान्तरायकरणेन धर्मान्तरायो भवति, अपि च तपःसपदा । तोऽलम्-उद्वेगेनेति । राज्ञा भणितम्-भगवन्! यावत् तेन महानुभावेन गेहे आहारग्रहणं न कृतम्, तावत् कथम्-उद्वेगोऽपैति ? कुलपतिना णितम्-वत्स ! इदानीं तस्य अविघ्नेन यत् पारणकं भविष्यति, तदा गेहे आहारग्रहणं करिष्यतीति । ततः कुलपतिना शब्दायितः सबहुमान ते गृहीत्वा भणितश्चानेन-वत्स ! यत् त्वम्-अकृतपारणको निर्गतो रेन्द्रगेहात्, एतेन दृढं सतप्यते राजा । कल्यं चैतस्य अतीव शीर्षवेद सीत्, अतो वेदनापरवशेन न त्वं प्रत्यर्थित इति, नैषोऽपराध्यति णित चानेन 'यावद् मम गेहे अग्निशर्मतापसेन आहारग्रहणं न कृ न तावद् मम उद्वेगोऽपैति' । अत इदानीं संप्राप्तपारणककालेन भवत विघ्नेन मम वचनाद् नरेन्द्रबहुमानतश्च एतस्य पारणकं कर्तव्यमिति अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भगवन् ! यद् यूयम्-आज्ञापयत । अका सतप्यते राजा, यतो न किंचिद् मम परलोकविरुद्धमनुष्ठितमनेन । त

राया 'अहो !! से महाणुभावय' त्ति कलिऊण पणमिऊण तवस्सिजणं य कंचि वेलं पज्जुवासिय पविट्ठो नयरं। पुणो य कालक्कमेण राइणो विसयसुहमणुहवन्तस्स, अग्गिसम्मस्स य दुक्करं तवचरणविहिं करेन्तस्स समइक्कन्तो मासो त्ति। एत्थंतरम्मि य संपत्ते पारणगदिवसे निवेइयं से रन्नो विसयवालएहिं नियपुरिसेहिं। जहा—महाराय ! अइविसमपरक्कमसन्नियं, विग्गहदोणीमुहप्पविट्ठं, अकयपरिरक्खणोवायं अप्पमत्तेण माणभंगनरवइणा, इहरहा विसयविणासमवलोइऊण, धीरचरियमवलम्बिय, थोवेसु नरिन्दसाहारेसु जाए अद्धरत्तसमए, अत्थमिए रयणिगड्डनिवहम्मि तेओरुम्मडगलाइ निमयड्डे सयलबलसहिएणमवक्कन्तं राइणा अइरमणं ते विणिज्जिय सेन्नं। संपइ देवो पमाणं ति। तओ राइणा एयं सुणिऊण पयाणमायण्णिऊण कोवाणलजलियरत्तलोयणेणं, तिवलिभिउडिभासुरेणं, निद्दयकराभिहयधरणिवट्ठेण अमरिससवसपरिचत्तकज्जेणं समाणत्तो परियणो। जहा—देह तुरियं पयाणयपडहं, सज्जेह दुग्गं करिबलं, पल्लाणेह वुप्परपुरं आससाहणं, संजवेह धय-मालोवसोहियं रहवरनियरं, पयट्टावेह नाणापहरणमालिनं पाइक्कसेन्नं ति।

राजा 'अहो ! ! एष महानुभावकः' इति कलयित्वा, प्रणम्य तपस्विजनं च काञ्चिद् वेलां पर्युपास्य प्रविष्टो नगरम्। पुनश्च कालक्रमेण राज्ञो [illegible] अग्निशर्मणश्च दुष्करं तपश्चरणविधिं कुर्वतः समतिक्रान्तो मासः। अत्रान्तरे च सम्प्राप्ते पारणकदिवसे निवेदितं तस्य राज्ञो [illegible]। यथा—महाराज ! अतिविषमपराक्रमशालि[illegible], अकृतपरिरक्षणोपायम्—अप्रमत्तेन मानभङ्गनरपतिना, इतरथा विषयविनाशमवलोक्य धीरचरितमवलम्ब्य, [illegible] अर्धरात्रसमये, अस्तमिते रजनी[illegible] सकलबलसहितेन [illegible] हत्वा अति-[illegible] सैन्यम्। सम्प्रति देव एव प्रमाणमिति। ततो राज्ञा [illegible] कोपानलज्वलितरक्तलोचनेन, त्रिवलि-[illegible], अमर्षवशपरित्यक्तकार्येण समाज्ञप्तः परिजनः। यथा—[illegible] प्रयाणकपटहम्, सज्जयत दुर्ग [illegible] ध्वज-माला-[illegible] पदातिसैन्यमिति।

सओ नरवइसमाएसाणन्तरमेवायण्णिय पयाणयपडहसद्दं, करिवरविराय-
मेहजालं, ऊसियधय-चमर-छत्तसंघायबलायपरियरियं, निसियकरवाल-
न्तसोयामणिसणाहं, सङ्ख-काहलातूरनिग्घोसगज्जियरवपूरियादिसं,
गालदुद्दिणं पिव समन्तओ वियम्भियं नरिन्दसाहणं ति। एत्थन्तरम्मि।
रहवरारूढे नरिन्दगुणसेणे, ठाविए पुरओ सलिलपुण्णे कणयकलसे,
ए जयसिरिसमुप्फालए मङ्गलतूरे, पढन्तेसु विविहमङ्गलाइ बन्दि-
द्रेसु, अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं पविट्ठो नरिन्दगेहं ति। तओ
म्मि महाजणसमुदए आउलीहूए नरिन्दनिग्गमणनिमित्तं पहाणपरियणे
न केणइ समुवलक्खिओ त्ति। तओ कंचि वेलं गमेऊण दरियकरि-
तुरयसंघायचमढणभीओ निग्गओ नरवइगेहाओ। एत्थन्तरम्मि य गहिय-
सङ्कुच्छाएहिं, मुणियजोइससत्थपरमत्थेहिं भणियं जोइसिएहिं–देव!
पसत्थं मुहुत्तं, निगच्छमु त्ति। राइणा भणियं–अज्ज तस्स अग्गिसम्म-
तावसस्स पारणगदिवसो, पडिवन्नं च तेण कुलवइवयणाओ मम गेहे
आहारगहणं कायव्वं ति। ता आगच्छउ ताव सो महाणुभावो। तओ तं
कयभोयणविहाणं पणमिऊण गमिस्सामो। तओ आसन्नवत्तिणा भणियं

ततो नरपतिसमादेशानन्तरमेव आकर्ण्य प्रयाणकपटहशब्दम्, करिवर-
विराजद्मेघजालम्, उच्छ्रितध्वज-चामर-छत्रसंघातवलाकापरिगतम्,
निशितकरवाल-कुन्तसौदामिनीसनाथम् शङ्ख-काहलतूरनिर्घोषगर्जित-
रवपूरितम्, अकालदुर्दिनमिव समन्ततो विजृम्भित नरेन्द्रसाधनमिति
अत्रान्तरे च रथवरारूढे नरेन्द्रगुणसेने, स्थापिते पुरतः सलिलपूर्णे कनक
कलशे, प्रहते जयश्रीसमुत्फालके मङ्गलतूरे, पठत्सु विविधमङ्गलानि
बन्दिवृन्देषु, अग्निशर्मतापसः पारणकनिमित्तं प्रविष्टो नरेन्द्रगेहमिति।
ततस्तस्मिन महाजनसमुदये आकुलीभूते नरेन्द्रनिर्गमननिमित्तं प्रधान-
परिजने न केनचित् समुपलक्षित इति। ततः कांचिद् वेलां गमयित्वा
दृप्तकरि-तुरगसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो नरपतिगेहात्। अत्रान्तरे च
गृहीतशङ्कुच्छायै:, ज्ञातज्योतिश्शास्त्रपरमार्थै: भणित ज्योतिषिकैः–
देव! प्रशस्त मुहूर्तम् निर्गच्छेति। राज्ञा भणितम्–अद्य तस्य अग्नि-
शर्मतापसस्य पारणकदिवसः, प्रतिपन्नं च तेन कुलपतिवचनाद् मम गेहे
आहारग्रहण कर्तव्यमिति। तत आगच्छतु तावत् स महानुभाव.। ततस्त
कृतभोजनविधानं प्रणम्य गमिष्यामः। तत आसन्नवर्तिना भणित

कुलपुत्तएण-देव ! सो गु महाणुभावो संपयं चेव पविसिऊण दरियकरि-
तुरयसंघायचमद्दणभीओ निग्गओ रायगेहाओ। अज्ज वि य न नयराओ
निगच्छइ ति तक्केमि। तओ एयमायण्णिऊण ससंभन्तो राया पयट्टो
तस्स मग्गे, दिट्ठो य णेण नयराओ निगच्छन्तो अग्गिसम्मतावसो। तओ
ओयरिऊण रहवराओ, भत्तिनिब्भर निवडिऊण चलणेसु विन्नत्तो सबहु-
माणं। भयवं! करेह पसायं, विणिवत्तसु त्ति। अहमभिप्पेए वि गमणे
तुह चेयागमणमणुपालेन्तो एत्तिय वेल ठिओ म्हि, जाव तुमं पविसिऊण
मम गेहं अलक्खिओ चेव मे पहाणपरियणेण निग्गओ सि। ता नियत्तसु
त्ति। अग्गिसम्मतावसेण भणियं-महाराय! विइयवुत्तन्तो चेव मे तुमं
पइन्नाविसेसस्स; ता अलं ते इमिणा ववसाएणं। सच्चपइन्ना खु तव-
स्सिणो हवन्ति, निव्विसेसा य लाभालाभेसु। राइणा भणियं-भयवं!
लज्जिओ म्हि इमिणा पमायचरिएणं, तुह तिव्वतयजणियसरीरपीडाओ
वि मे अहिया सरीरपीडा, दढं दहइ म संतावाणलो, पणसइ विय मे
महापावकम्मकारिणं च मन्नेमि अप्पाणं; ता सयलदुहियसत्तबन्धुभूओ,

कुलपुत्रकेण-देव! स खलु महानुभावः साम्प्रतं चैव प्रविश्य दृप्तकरि-
तुरगसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो राजगेहात् अद्यापि च न नगराद् निर्ग-
च्छति इति तर्कयामि। तत एतद् आकर्ण्य ससम्भ्रान्तो राजा प्रवृत्तस्तस्य
मार्गे, दृष्टश्चानेन नगराद् निर्गच्छन् अग्निशर्मतापसः। तत अवतीर्य
रथवराद्, भक्तिनिर्भरं निपत्य चरणेषु विज्ञप्तः सबहुमानम्। भगवन्!
कुरुत प्रसादम्, विनिवर्तस्व इति। अहमभिप्रेयेऽपि गमने तवैव आगम-
नम्-अनुपालयन् एतावती वेला स्थितोऽस्मि, यावत् त्वं प्रविश्य मम
गेहम्-अलक्षित एव मम प्रधानपरिजनेन निर्गतोऽसि। ततो निवर्तस्व
इति। अग्निशर्मतापसेन भणितम्-महाराज! विदितवृत्तान्त एव मम
त्वं प्रतिज्ञाविशेषस्य, ततोऽलं तवानेन व्यवसायेन। सत्यप्रतिज्ञाः खलु
तपस्विनो भवन्ति, निर्विशेषाश्च लाभा-ऽलाभेषु। राज्ञा भणितम्-
भगवन्! लज्जितोऽस्मि अनेन प्रमादचरितेन, तव तीव्रतपोजनित-
शरीरपीडातोऽपि मम अधिका शरीरपीडा, दृढं दहति मा संतापाऽनलः,
प्रणश्यति इव मम हृदयम्, आक्षिप्यते च मम वाणी, महापाप-
कर्मकारिणं च मन्ये आत्मानम्; ततः सकलदुःखितसत्त्वबन्धुभूतः

अकारणवच्छलो य भयवं तुमं चेव मे इमस्स दुक्खस्स उवसमोवायं वि- न्तेहि । अग्गिसम्मतावसेण चिन्तियं । अहो !! से महारायस्स महाणुभा- वया । अकयपारणगेण मए एत्तियं खिज्जइ त्ति । अहो !! से गुरुयणसु- स्सूसाणुराओ । ता न जाव मए एयस्स गेहे पारणयं कयं, न ताव एस सत्थो होइ त्ति चिन्तिऊण भणियं च तेण–महाराय ! अनिमित्तं ते दुक्खं तहावि एयस्स इमो उवसमोवाओ । अविग्घेण संपत्ते पारणग- दिवसे पुणो वि तुह चेव गेहे आहारगहणं करिस्सामि त्ति पडिवन्नं मए । ता मा संतप्पसु त्ति । तओ धरणिनिहियजाणु-करयलेणं भणियं राइणा– भयवं ! सुट्ठु मुणिओ इमस्स दुक्खस्स उवसमोवाओ । अहवा विमल- नाणनयणो चेव तवस्सिजणो होइ, किं वा न याणइ ? त्ति । ता अणु- गिहीओ म्हि । सरिसं इमं तुह अकारणवच्छलयाए । ता गच्छ तुमं तवोवणं । अहं पुण न सक्कुणोमि पच्चग्गपमायकलङ्कदूसिओ भगवन्तं कुलवइमवलोइउं ति । एवं भणिय, पणमिऊण य अग्गिसम्मतावसं नियत्तो राया । 'न मए इयाणि गन्तव्वं' ति कलिऊण विसज्जिओ य तेणं माणभङ्गस्स उवरि विक्खेवो । अग्गिसम्मो वि य गन्तूण तवोवणं,

---

अकारणवत्सलश्च भगवान् त्वमेव मम अस्य दुःखस्य उपशमोपायं चिन्तय । अग्निशर्मतापसेन चिन्तितम् । अहो !! अस्य महाराजस्य महानुभावता । अकृतपारणकेन मया एतावत् खिद्यते इति । अहो ! ! अस्य गुरुजन- शुश्रूषानुरागः । ततो न यावद् मया एतस्य गेहे पारणकं कृतम्, न तावत् एष स्वस्थो भवतीति चिन्तयित्वा भणितं च तेन–महाराज ! अनिमित्तं तव दुःखम् । तथापि एतस्य अयम्-उपशमोपायः । अविघ्नेन सम्प्राप्ते पारणकदिवसे पुनरपि तवैव गेहे आहारग्रहणं करिष्यामि इति प्रतिपन्नं मया । ततः मा सन्तप्यस्वेति । ततो धरणिनिहितजानुकरतलेन भणितं राज्ञा–भगवन् ! सुष्ठु ज्ञातः अस्य दुःखस्य उपशमोपायः । अथवा विमलज्ञाननयन एव तपस्विजनो भवति, किं वा न जानाति ? इति । ततोऽनुगृहीतोऽस्मि । सदृशमिदं तव अकारणवत्सलतायाः । ततो गच्छ त्वं तपोवनं । अहं पुनः न शक्नोमि प्रत्यग्रप्रमादकलङ्कदूषितो भगवन्तं कुलपतिमवलोकितुम्–इति । एवं भणित्वा, प्रणम्य च अग्निशर्मतापसं निवृत्तो राजा । 'न मया इदानीं गन्तव्यम्।' इति कलयित्वा विसर्जि- तश्च तेन मानभङ्गस्य उपरि विक्षेपः अग्निशर्मापि च गत्वा तपोवनम्,

निवेइऊण कुलवइणो जहावित्तं वुत्तन्तं 'वच्छ ! साहु कयं' ति अहिणन्दिओ य कुलवइणा पयत्तो वयविसेसं ति । अणुदियहं च पवड्ढमाणसंवेगेण राइणा सेविज्जन्तस्स तस्स समइच्छिओ मासो, पत्तो य रन्नो मणोरहसएहिं पारणयदियहो । तम्मि य पारणयदियहे राइणो गुणसेणस्स देवी वसन्तसेणा दारयं पसूय त्ति । निवेइयं च राइणो हरिसवसेण पफुल्लवयणपङ्कयाए सपरितोसं पडिहारीए—महाराय ! देवी वसन्तसेणा तुम्हाणं अब्भुदयनिमित्तं पयाणं भागधेएहिं सुहंसुहेणं दारयं पसूय त्ति । तओ राइणा पुत्तजम्मब्भुदयसजायरोमञ्चेणं दाऊण पडिहारीए कडय-केऊर-कण्णालङ्काराइयं अङ्गाभरणं, दिन्ना समाणत्ती । वसुंधरे ! समाइससु णं मम वयणाओ जहासन्निहिये पडिहारे जहा—मोयावेह कालघण्टापओएण मम रज्जे सव्वबन्धणाणि, दवावेह घोसणापुव्वं अणवेक्खियमणुरूवं महादाणं, विसज्जावेह जियसत्तुप्पमुहाणं नरवईण मम पुत्तजम्मपउत्तिं, निवेएह देवीपुत्तजम्मब्भुदयं पउराणं, करावेह अयालच्छणभूयं नयरमहूसवं ति । समाइट्ठा य तीए जहाइट्ठं पडिहारा । अणुचिट्ठियं च रायसासणं पडिहारेहिं । अवि य—

निवेद्य कुलपतये यथावृत्तं, 'वत्स ! साधु कृतम्' इति अभिनन्दितश्च कुलपतिना प्रवृत्तो व्रतविशेषमिति । अनुदिवसं च प्रवर्धमानसंवेगेन राज्ञा सेव्यमानस्य तस्य समतिक्रान्तो मासः, प्राप्तश्च राज्ञो मनोरथशतैः पारणकदिवसः । तस्मिंश्च पारणकदिवसे राज्ञो गुणसेनस्य देवी वसन्तसेना दारकं प्रसूतेति । निवेदितं च राज्ञो हर्षवशेन प्रफुल्लवदनपङ्कजया सपरितोषं प्रतिहार्या—महाराज ! देवी वसन्तसेना युष्माकम्-अभ्युदयनिमित्तम्, प्रजानां भागधेयैः सुखसुखेन दारकं प्रसूतेति । ततो राज्ञा पुत्रजन्माभ्युदयसञ्जातरोमाञ्चेन दत्त्वा प्रतिहार्यै कटक-केयूर-कर्णालङ्कारादिकम्-अङ्गाभरणम्, दत्ता समाज्ञप्तिः । वसुन्धरे ! समादिश मम वचनाद् यथासन्निहितान् प्रतीहारान् यथा-मोचयत कालघण्टाप्रयोगेण मम राज्ये सर्वबन्धनानि, दापयत घोषणापूर्वकम्-अनपेक्षितानुरूपं महादानम्, विसर्जयत जितशत्रुप्रमुखानां नरपतीनां मम पुत्रजन्मप्रवृत्तिम्, निवेदयत देवीपुत्रजन्माभ्युदयं पौराणाम्, कारयत अकालक्षणभूतं नगरमहोत्सवमिति । समादिष्टाश्च यथादिष्टं प्रतीहाराः । अनुष्ठितं च राजशासनं प्रतीहारैः । अपि च—

करावियं च तेहिं तूररयपूरियदसदिसाभोयं ।
उन्नामिएक्ककरयलनच्चन्तविलासिणिसमूहं ॥२२॥
अन्तेउरियाहीरन्तपुण्णपत्तुत्तरीयवरपोत्तं ।
सविसेसपसाहियसंमिलन्तरामायणाइण्णं ॥२३॥
पिट्ठागयमुट्ठिपहारभीरुरामाविमुक्कसिक्कारं ।
मयवसविलासिणीजणनच्चाविज्जन्तकञ्चुइयं ॥२४॥
सुव्वन्तकरप्फालियतालायरमुरयमहुरनिग्घोसं ।
दाणपरितुट्ठबहुबन्दियन्द्रउग्घुट्ठजयसद्दं ॥२५॥
नच्चन्तमडहवामणचेडीहासिज्जमाणनरनाहं ।
बद्धावाणयनिवहं बद्धावणयं मणभिरामं ॥२६॥

पवत्तो य वसन्तउरे नयरे महामहूसवो । एयंविहे य देवीपुत्त-जम्मब्भुदयाणन्दिए महापमत्ते सह राइणा रायपरियणे अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं रायउलं पविसिऊण वयणमेत्तेणावि केणइ अकयपडिवत्ती असुहकम्मोदएणं अट्टज्झाणदूसियमणो सहं चेव निग्गओ । चिन्तियं

कारितं च तैः तूर्यरवपूरितदशदिशाभोगम् ।
उन्नामितैककरतलनृत्यमानविलासिनीसमूहम् ॥२२॥
अन्तःपुरिकाह्रियमाणपुण्यवस्त्रोत्तरीयवरपोत्रम् (?) ।
सविशेषप्रसाधितसंमीलद्रामाजनाकीर्णम् ॥२३॥
पृष्ठागतमुष्टिप्रहारभीरुरामाविमुक्तसीत्कारम् ।
मदवशविलासिनीजननर्त्यमानकञ्चुकिकम् ॥२४॥
श्रूयमाणकरास्फालिततालादरमुरजमधुरनिर्घोषम् ।
दानपरितुष्टबहुबन्दिवृन्दउद्घुष्टजयशब्दम् ॥२५॥
नृत्यमानलघुवामनचेटीहास्यमाननरनाथम् ।
बद्धाऽऽपानकनिवहं वर्धापनकं मनोऽभिरामम् ॥२६॥

प्रवृत्तश्च वसन्तपुरे नगरे महामहोत्सवः । एवंविधे च दे॰ जन्माभ्युदयानन्दिते महाप्रमत्ते सह राज्ञा राजपरिजने अग्निशर्म॰ पारणकनिमित्तं राजकुलं प्रविश्य वचनमात्रेणाऽपि केनापि अकृ॰ पत्तिः अशुभकर्मोदयेन आर्तध्यानदूषितमना लघ्वेव निर्गतः । चि॰

झाणेणं-अहो!! से राइणो आबालभावाओ चेव असरिसो ममोवरि वेराणुबन्धो त्ति। पेच्छह से अइनिगूढायारमायरियं, जेण तं तहा मम समक्खं मणाणुकूलं जंपिऊण करणेण विवरीयमायरइ त्ति चिन्तयन्तो सो निग्गओ नयराओ। एत्थन्तरम्मि य अन्नाणदोसेणं अभावियपरमत्थमग्गत्तणेण य गहिओ कसाएहिं, अवगया से परलोयवासणा, पणट्ठा धम्मसद्धा, समागया सयलदुक्खबीयभूया अमेत्ती, जाया य देहपीडाकरी अतीव बुभुक्खा। आकड्ढिओ बुभुक्खाए। तओ-

पढमपरीसहपडिएण तेण अन्नाणकोहवसएणं।
घोरं नियाणमेयं पडिवन्नं मूढहियएणं ॥२७॥
जइ होज्ज इमस्स फलं मए सुचिण्णस्स वयविसेसस्स।
ता एयस्स वहाए पइजम्मं होज्ज मे जम्मो ॥२८॥
न कुणइ पणईण पियं, जो पुरिसो विप्पियं च सत्तूणं।
किं तस्स जणणिजोव्वणविउडणमेत्तेण जम्मेणं ॥२९॥
सत्तू य एस राया मम सिसुभावाउ चेव पावो त्ति।
अवराहमन्तरेण वि, करेमि तो विप्पियमिमस्स ॥३०॥

ध्यानेन-अहो!! तस्य राज्ञः आबालभावात् चैव असदृशो ममोपरि वैरानुबन्ध इति। प्रेक्षध्व तस्य अतिनिगूढाचारमाचरितम्, येन तत् तथा मम समक्ष मनोऽनुकूलं कथयित्वा करणेन विपरीतमाचरतीति चिन्तयन् स निर्गतो नगरात्। अत्रान्तरे अज्ञानदोषेण अभावितपरमार्थमार्गत्वेन च गृहीतः कषायैः, अपगता तस्य परलोकवासना, प्रनष्टा धर्मश्रद्धा, समागता सकलदुःखतरुबीजभूता अमैत्री, जाता च देहपीडाकारी अतीव बुभुक्षा। आकृष्टो बुभुक्षया। ततः-

प्रथमपरीषहपतितेन तेन अज्ञान-क्रोधवशगेन।
घोरं निदानमेतत् प्रतिपन्नं मूढहृदयेन ॥२७॥
यदि भवेद् अस्य फलं मया सुचीर्णस्य व्रतविशेषस्य।
तस्माद् एतस्य वधाय प्रतिजन्म भवतु मम जन्म ॥२८॥
न करोति प्रणयिनां प्रियम्, यः पुरुषः विप्रियं च शत्रूणाम्।
किं तस्य जननीयौवनविकुटनमात्रेण जन्मना? ॥२९॥
शत्रुश्चैष राजा मम शिशुभावात् चैव पाप इति।
अपराधमन्तरेणाऽपि, करोमि ततः विप्रियमस्य ॥३०॥

इय काऊण नियाणं अप्पडिकन्तेण तस्स ठाणस्स ।
अह भावियं सुबहुसो कोहाणलजलियचित्तेन ॥३१॥

एत्यन्तरम्मि पत्तो एसो तवोवणं, अणेयवियप्पजणियकुचिन्ता-संधुक्कियपवड्ढमाणकोहाणलो य कुलवइं, सेसतावसे य परिहरिऊण अलक्खिओ चेव गओ सहयारवीहियं, उवविट्ठो य विमलसिलाविणि-म्मिए चाउरन्तपीढे त्ति । अणुसयवसेण पुणो वि चिन्तिउमारद्धो। अहो!! से राइणा ममोवरि पडिणीयभावो । कहं सव्वतावसमज्झे अहं से ओहसणिज्जो ? त्ति, जेण मे पइन्नाविसेसं नाऊण नियडिबहुलो तहा तहोवणिमन्तिय असंपाडणेण पारणयस्स किल मं खलीकरेइ त्ति। त मूढो खु सो राया कि मे एयावत्थगयस्स खलीकरीयइ । तहा अणाहाण, दुब्बलाणं, परपरिहूयाणं च सत्ताणं कयन्तेणेव विणिवाइयाणं जा खलि-यारणा, न सा माणिणो माणमापूरेइ त्ति, विसेसओ समसत्तु-मित्ताणं परलोयववारनिरयाणं तवस्सीणं ति । अहवा अपरिचत्ताहारमेत्तसंगस्स मे एत्तहमेत्ता कयत्यण त्ति । ता अलं मे जावज्जीवं चेव परिहवमेत्तेणं

इति कृत्वा निदानम्-अप्रतिक्रान्तेन तस्स स्थानस्य ।
अथ भावित सुबहुशः क्रोधानलज्वलितचित्तेन ॥३१॥

अत्रान्तरे प्राप्त एप तपोवनम्, अनेकविकल्पजनितकुचिन्तासंदीप्त-प्रवर्धमानक्रोधानलश्च कुलपतिम्, शेपतापसाश्च परिहृत्य अलक्षित एव गतः सहकारवीथिकाम्, उपविष्टश्च विमलशिलाविनिर्मिते चतुरन्तपीठे इति । अनुशयवशेन पुनरपि चिन्तयितुमारब्धः । अहो ! ! तस्य राज्ञो ममोपरि प्रत्यनीकभावः । कथं सर्वतापसमध्ये अहं तस्य अवहसनीय ? इति, येन मम प्रतिज्ञाविशेषं ज्ञात्वा निकृतिबहुल., तथा तथा उपनिमन्त्र्य असपातनेन पारणकस्य किल मां खलीकरोति इति। तद् मूढः खलु स राजा कि मम एतदवस्थागतस्य खलीकरोति। तथा अनाथानाम् दुर्बलानाम् परपरिभूतानां च सत्त्वानां कृतान्तेनेव विनिपातितानां या खलीकरणा, न सा मानिनो मानमापूरयति इति, विशेषतः समशत्रुमित्राणां परलोक-व्यापारनिरताना तपस्विनामिति । अथवा अपरित्यक्ताहारमात्रसंगस्य मम एतावन्मात्रा कदर्थनेति । ततोऽलं मम यावज्जीव मेव परिभवमात्रेण

न एवं तवस्सिजणवच्छले नरिन्दगुणसेणे संभावियइ, अहवा विचित्तसन्धिणो हि पुरिसा हवन्ति । किं वा न संभावियइ ? । नत्थि अविसओ कसायाणं ति भणिऊण निवेइयं तेहिं अच्चुव्विग्गेहिं कुलवइणो । जहा– भयवं ! न तस्स अग्गिसम्मतावसस्स इमिणा वुत्तन्तेण संपयं पि पारणयं संवुत्त ति । तओ ससंभन्तो तुरियमागओ अग्गिसम्मसमीव कुलवई, सपूइओ य तेण अग्गिसम्मेण जहाणुरूवेणोवयारेण । तओ तेण भणियं–वच्छ ! कह-मियाणि पि ते न संजायं पारणयं ? ति । अहो ! ! से असरिससमायरणं राइणो गुणसेणस्स । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–भयवं ! पमाइणो चेव रायाणो हवन्ति, को वा तस्स दोसो, मम चेवापरिचत्ताहारमेत्तसंगस्स एस दोसो, जेण तस्स वि गेहं पविसामि त्ति । परिचत्तो य मए संपयं जावज्जीवाए चेव सयलपरिहवबीयभूओ एद्दहमेत्तो वि संगो । अओ विन्नवेमि भयवन्तं एयम्मि अत्थे; नाहमन्नहा आणवेयव्वो त्ति । कुल-वइणा भणियं–वच्छ ! जइ परिचत्तो आहारो, गओ इयाणि कालो आणाए । सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति । किं तु तुमए नरिन्दस्स उवरिं कोवो न कायव्वो । जओ–

नैवं तपस्विजनवत्सले नरेन्द्रगुणसेने सभाव्यते, अथवा विचित्रसंधयो हि पुरुषा भवन्ति । किं वा न सभाव्यते ? । नास्ति अविषय. कषायाणामिति भणित्वा निवेदित तैरत्युद्विग्नै कुलपतये । यथा–न तस्य अग्निशर्मतापसस्य अनेन वृत्तान्तेन साप्रतमपि पारणकं सवृत्तमिति । ततः ससंभ्रान्तः त्वरितमागतः अग्निशर्मसमीप कुलपति', संपूजितश्च तेन अग्निशर्मणा यथानुरूपेणोपचारेण । ततस्तेन भणितम्- वत्स ! कथ-मिदानीमपि तव न सजातं पारणकम् ? इति । अहो ! ! तस्य असदृश-समाचरणं राज्ञो गुणसेनस्य । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–भगवन् ! प्रमादिन एव राजानो भवन्ति, को वा तस्य दोषः ? मम एव अपरित्य-क्ताहारमात्रसंगस्य एष दोषः, येन तस्यापि गेहं प्रविशामि इति । परित्यक्तश्च मया साप्रतं यावज्जीवमेव सकलपरिभवबीजभूत एता-वन्मात्रोऽपि सगः । अतो विज्ञापयामि भगवन्तम्–एतस्मिन्नर्थे; नाहम-न्यथा आज्ञापयितव्य इति । कुलपतिना भणितम् वत्स ! यदि प[रित्यक्त] आहारः, गत इदानीं काल आज्ञायाः । सत्यप्रतिज्ञाः खलु त[पस्विनो] भवन्ति । किं तु त्वया नरेन्द्रस्य उपरि को[पो न कर्तव्यः । यतः]

सव्वं पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलवियागं ।
अवराहेसु, गणेसु य निमित्तमेत्तं परो होइ ॥३२॥

एवमणुसासिऊणं पडियारगे तावसे निरूविय गओ कुलवई । इओ
य राइणा गुणसेणेणं तहा अयालक्खणगोक्खमणुहवन्ते परियणे अइक्क-
न्ताए पारणगवेलाए सुमरियं, जहा पारणयदियहो खु अज्ज तस्स महा-
तवस्सिस्स । अहो !! मे अहन्नया, न संपन्नं चेव महातवस्सिस्स पार-
णयं ति तक्केमि । पुच्छिओ य णेण जहासन्निहिओ परियणो । किं सो
महाणुभावो तावसो अज्ज इहागओ न व ? त्ति । तओ तेण निउणं
गवेसिऊणं निवेइयं—देव ! आगओ आसि, किं तु देवीपुत्तजम्मब्भुदया-
हिणन्दिए अइपमत्ते परियणे न केणइ उवयरिओ त्ति; तओ लहुं चेव
निग्गओ । राइणा भणियं—अहो !! मे पावपरिणई । तस्स महातवस्सिस्स
धम्मन्तरायकरणेणं देवीपुत्तजम्मब्भुदयं पि आवयं चेव समत्थेमि । सव्वहा
न मन्दपुण्णाणं गेहेसु वसुहारा पडन्ति । न य पमायदोसदूसिओ अहं उदन्त-
निमित्तं पि से पारेमि मुहमवलोइउं । ता गच्छ, भो सोमदेवपुरोहिय !

सर्वं पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकम् ।
अपराधेषु, गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ॥३२॥

एवमनुशास्य प्रतिचारकान् तापसान् निरूप्य गतः कुलपतिः ।
इतश्च राज्ञा गुणसेनेन (सह) तथा अकालक्षणसौख्यमनुभवति परिजने
अतिक्रान्तायां पारणकवेलायां स्मृतम्, यथा पारणकदिवसः खलु अद्य
तस्य महातपस्विनः । अहो !! मम अधन्यता, न सम्पन्नमेव महातपस्विनः
पारणकमिति तर्कयामि । पृष्टश्चानेन यथासन्निहितः परिजनः । किं स
महानुभावः तापसः अद्य इह आगतो नवा ? इति । ततस्तेन निपुणं
गवेषयित्वा निवेदितम्—देव ! आगत आसीत्, किं तु देवीपुत्रजन्मा-
भ्युदयाभिनन्दिते अतिप्रमत्ते परिजने न केनचिद् उपचरित इति;
ततो लघ्वेव निर्गतः । राज्ञा भणितम्—अहो !! मम पापपरि-
णतिः । तस्य महातपस्विनो धर्मान्तरायकरणेन देवीपुत्रजन्माभ्युदयमपि
आपदं चैव समर्थयामि । सर्वथा न मन्दपुण्यानां गेहेषु वसुधाराः
पतन्ति । न च प्रमाददोषदूषितः अहम्—उदन्तनिमित्तमपि तस्य
पारयामि मुखमवलोकितुम् । ततो गच्छ, भोः सोमदेव

ममाविन्नायपरियणभावो चेव गवेसिऊण तस्स महातवस्सिस्स वुत्तंतं 'किं तेण ववसियं ?' ति लहुं निवेएहि; आसङ्कइ विय मे हिययं। एवं च समाणत्तो सोमदेवपुरोहिओ गओ तवोवणं। दिट्ठो तेण बहुतवस्सिजण-परिवारिओ, गिरिनईतडासन्ननिविट्ठमण्डवगओ, दीहरकुसत्थरो-वविट्ठो, अमरिसवसाइद्धरायकहावावडो अग्गिसम्मतावसो त्ति। पणमिओ विणओणयउत्तिमङ्गेणं सोमदेवेणं। तेणं चिय आसीसापुव्वयं 'सागयं' ति भणिऊण 'उवविससु' त्ति आइट्ठो। उवविट्ठो सोमदेवपुरोहिओ। भणियं च णेण–भयवं ! अइपरिखीणदेहो लक्खिज्जसि, ता किमेयं ? ति। अग्गिसम्मतावसेण भणियं–निरीहाणं, अन्नओ समासाइयवित्तीणं अंगं चेव किसं तवस्सीणं ति। सोमदेवेण भणियं–एवं एयं, निरीहा चेव तवस्सिणो हवन्ति; किं तु धण-धन्न-हिरण्ण-सुवण्ण-मणि-मोत्तिय-पवाल-दुप्पय-चउप्पएसु, न उण धम्म-काओवयारगे आहारमेत्ते वि। न य ईइस[illegible] एत्थ लोया, जे तुमए वि सरिसाण मुत्तिमग्गपवन्नाणं, अविभिन्न[illegible]-मित्ताणं, समतण-मणि-मुत्त-कञ्चणाणं, संसारजलहिपोयाणं आ[illegible]

ममाऽविज्ञातपरिजनभाव एव गवेषयित्वा तस्य महातपस्विनः [illegible] 'किं तेन व्यवसितम् ?' इति लघु निवेदय, आशङ्कते इव मम हृ[illegible] एवं च समाज्ञप्तः सोमदेवपुरोहितो गतस्तपोवनम्। दृष्ट[illegible] स्विजनपरिवारितः, गिरिनदीतटाऽऽसन्ननिविष्टमण्डपगत. [illegible] स्तरोपविष्टः, अमर्षवशाऽऽरब्धराजकथाव्यापृत. अग्नि[illegible] प्रणतः विनयावनतोत्तमाङ्गेन सोमदेवेन। तेन [illegible] 'स्वागतम्' इति भणित्वा 'उपविश' इति आदिष्टः [illegible] देवपुरोहितः। भणितं चानेन–भगवन् !। अ[illegible] ततः किमेतत् ? इति। अग्निशर्मतापसेन भणित[illegible] समासादितवृत्तीनाम्–अङ्गमेव कृश तप[illegible] भणितम्-एवमेतत्, निरीहा एव तपस्विनो [illegible] हिरण्य-सुवर्ण-मणि-मौक्तिक-प्रवाल-द्विपद[illegible] पकारके (कारके) आहारमात्रेऽपि। [illegible] युष्माकमपि सदृशानां मुक्तिमार्ग[illegible] समतृण-मणि-मुक्ता-काञ्चनानाम्, [illegible]

महाराय ! कीस इयाणिं सकलत्तपरियारेणं अणुचियं एद्दहमेत्तं भूमिं चरणागमणमणुचिट्ठियं ? । राइणा भणियं-भयवं ! अणुचियकारिणो चेव अम्हे, अहवा मएजारिसाणं पुरिसाहमाणं इमं चेवोचियं, जं महातवस्सिजणस्स पमायओ वावायणेण धम्मन्तरायकरणं ति । ता किं एइणा अणिव्वुडियहियसब्भावेण निपडीमन्तिएण ? । भयवं ! कहिं पुण सो महाणुभावो अग्गिसम्मतावसो । पणमामि तं, सोहेमि तस्स दंसणेण पावकम्मकारिणं अप्पाणं ति । कुलवइणा भणियं-महाराय ! मा एद्दहमेत्तं संतप्पसु त्ति । न एएण तुह निव्वेएणमणसणं कयं ति; किं तु कप्पो चेवायं तवस्सिजणस्स, जं चरिमकालम्मि अणसणविहिणा देहपरिच्चयणं ति राइणा भणियं-भयवं ! किं बहुणा मन्तिएण ? पेच्छामि ताव तं महाणुभावं । कुलवइणा भणियं-महाराय ! अलमियाणिं ताव तस्स दंसणेणं । झाणवावडो खु सो, ता किं से अहिप्पेयकज्जन्तराएणं ? । गच्छ तुमं नयरिं, पुणो कहिंचि पेक्खेज्जसु त्ति । तओ 'जं भयवं आणवेइ, पुणो आगच्छिस्सामि' त्ति भणिऊण अच्चन्तदुम्मणो उट्ठिओ राया।

महाराज ! कस्माद् इदानीं सकलत्रपरिवारेण अनुचितम्-एतावन्मात्रीं भूमिं चरणागमनम्-अनुष्ठितम् ? । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! अनुचितकारिण एव वयम्, अथवा मादृशानाम् (?) पुरुषाधमानाम्-इदमेव उचितम्, यद् महातपस्विजनस्य प्रमादतो व्यापादनेन धर्मान्तरायकरणम्-इति । ततः किमेतेन अनिर्वृतहृदयसद्भावेन (स्वभावेन) निष्कृतिमन्त्रितेन ? भगवन् ! कुत्र पुनः स महानुभावोऽग्निशर्मतापसः ? प्रणमामि तम्, शोधयामि तस्य दर्शनेन पापकर्मकारिणम् आत्मानम्-इति । कुलपतिना भणितम्-महाराज ! मा एतावन्मात्रं सन्तप्यस्व इति । न एतेन तव निर्वेदेन अनशनं कृतम्-इति; किं तु कल्प एव अयं तपस्विजनस्य, यत् चरमकाले अनशनविधिना देहपरित्यजनम्-इति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! किं बहुना मन्त्रितेन ? प्रेक्षे तावत् तं महानुभावम् । कुलपतिना भणितम्-महाराज ! अलमिदानीं तावत् तस्य दर्शनेन । ध्यानव्यापृतः खलु सः, ततः किं तस्य अभिप्रेतकार्यान्तरायेण ? । गच्छ त्वं नगरीम्, पुनः कुत्रचित् प्रेक्षस्व इति । ततः 'यद् भगवान् आज्ञापयति, पुनरागमिष्यामि' इति भणित्वा अत्यन्तदुर्मना उत्थितो राजा ।

पणमिऊण कुलवइं पयट्टो नयरिं। तओ एक्केणं साणुक्कोसेणं च बाल-तावसकुमारेणं अणुगच्छिऊण थेवभूमिभायं निवेइओ से अग्गिसम्माभि-प्पाओ त्ति। तओ राइणा चिन्तियं-किमिह पुणागमणेणं ? जइ पर कुलवई आयासे पाडिज्जइ। ता न जुत्तं ममेहं नयरे वि चिट्ठिउ, मा से महाणुभावस्स तस्स असोयव्वं पि अवरं सुणिस्सं ति एवं चिन्तयन्तो पत्तो वसन्तउरं। पुच्छिया णेणं संवच्छरिया 'कया अम्हाण खिइपइ-ट्ठियगमणदियहो परिसुज्झइ' त्ति। तेहिं च निच्चं तक्कम्मवावडत्तणे-णोवलद्धसोहणदिणेहिं विन्नत्तं 'महाराय ! कल्लं चेव परिसुज्झइ' त्ति। तओ राइणा समाणत्तो परियणो 'पयट्टह लहुं कल्लं'ति। तओ बिइय-दियहे महया चडयरेण निग्गओ राया। अणवरयपयाणएहिं च पत्तो मास-मेत्तेण कालेण खिइपइट्ठियं। तओ ऊसियविचित्तकेउनिवहं, विविहकयट्ट-सोहं, सोहियसपुप्फोवयाररायमग्गं, धवलियपासायमालोवसोहियं, महावि-भूईए पविट्ठो नयरं, तत्थ वि य तोरणनिम्मियवन्दणमालं, सविसेससंपाइ-यमहोवयारं, सव्वओभद्दं नाम पासायं। तत्थ य तम्मि चेव दियहे आगओ

प्रणम्य कुलपति प्रवृत्तो नगरीम् . तत एकेन सानुक्रोशेन च बालतापस-कुमारेण अनुगम्य स्तोकभूमिभागं निवेदितस्तस्य अग्निशर्माऽभिप्राय इति। ततो राज्ञा चिन्तितम्-किमिह पुनरागमनेन ? यदि परं कुलपतिः आयासे पात्यते। ततो न युक्त मम इह नगरे अपि स्थातुम्, अथ मा महानु-भावस्य तस्य अश्रोतव्यमपि अपर श्रोष्यामि इति। एवं चिन्तयन् प्राप्तो वसन्तपुरम्। पृष्टाश्च तेन सांवत्सरिका. 'कदा अस्माकं क्षितिप्रति-ष्ठितगमनदिवस. परिशुध्यति ?' इति। तैश्च नित्यं तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनैः विज्ञप्तम्–'महाराज ! कल्यमेव परिशुध्यति' इति।
तैश्च नित्य तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनै विज्ञप्तम्–'महाराज ! कल्यमेव परिशुध्यति' इति। ततो राज्ञा समाज्ञप्त. परिजन. 'प्रवर्तध्वं लघु कल्यम्' इति। ततो द्वितीयदिवसे महता चटतरेण निर्गतो राजा। अनवरतप्रयाणैश्च प्राप्तो मासमात्रेण कालेन क्षितिप्रतिष्ठितम्। तत उच्छ्रितविचित्रकेतुनिवहम्, विविधकृताट्टशोभम्, शोभितसपुष्पोपचार-राजमार्गम्, धवलितप्रासादमालोपशोभितम्, महाविभूत्या प्रविष्टो नगरम्, तत्राऽपि च तोरणनिर्मितवन्दनमालम् सविशेषसम्पादितमहो-पचारम्, सर्वतोभद्रं नाम प्रसादम्। तत्र च तस्मिन्नेव दिवसे आगतः

महाराय ! कीस इयाणिं सकलत्तपरिवारेणं अणुचियं एयावन्तं भू-
मिचरणागमणमणुचिट्ठियं ? । राइणा भणियं-भयवं ! अणुचि-
यकारिणो चेव अम्हे, अहवा मारिसाणं पुरिसाहमाणं इमं चेव
जं महातवस्सिजणस्स पमायओ वावायणेण धम्मन्तरायकरणं ति ।
किं एइणा अणिव्वुयहिययसब्भावेण नियसीलेणं ? । भयवं ! क-
हिं पुण सो महाणुभावो अग्गिसम्मतावसो ? । पणमामि तं, सोहेमि य
दंसणेण पावकम्मकारिणं अप्पाणं ति । कुलवइणा भणियं-महाराय!
मा एयमेत्तं संतप्पसु त्ति । न एएण तुह निव्वेएण अणसणं कयं ति, न
उ कप्पो चेव एस तवस्सिजणस्स, जं परिमकालम्मि अणसणविहिणा दे-
हपरिच्चयणं ति । राइणा भणियं-भयवं ! किं बहुणा मन्तिएण ? पेच्छामि
ताव तं महाणुभावं । कुलवइणा भणियं-महाराय ! अलमियाणिं ता-
व तस्स दंसणेणं । झाणवावडो उ सो, ता किं से अहिप्पेयकज्जन्तराएणं? ।
गच्छ तुमं नयरिं, पुणो कहिंचि पेच्छेज्जसु त्ति । तओ 'जं भयवं आण-
वेइ, पुणो आगच्छिस्सामि' त्ति भणिऊण अच्चन्तदुम्मणो उट्ठिओ राया।

महाराज ! कस्माद् इदानीं सकलत्रपरिवारेण अनुचितम्-एतावन्मात्रं भूमि चरणागमनम्-अनुष्ठितम् ? । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! अनुचितकारिण एव वयम्, अथवा मादृशानाम् (?) पुरुषाधमानाम्-इदमेव उचितम्, यद् महातपस्विजनस्य प्रमादतो व्यापादनेन धर्मान्तरायकरणम्-इति । ततः किमेतेन अनिर्वृतहृदयसद्भावेन (स्वभावेन) निकृतिभणितेन ? भगवन् ! कुत्र पुनः स महानुभावोऽग्निशर्मतापसः ? प्रणमामि तम्, शोधयामि तस्य दर्शनेन पापकर्मकारिणम्-आत्मानम्-इति । कुलपतिना भणितम्--महाराज ! मा एतावन्मात्र सतप्यस्व इति । न एतेन तव निर्वेदेन अनशनं कृतम्-इति; किं तु कल्प एव अयं तपस्विजनस्य, यत् चरमकाले अनशनविधिना देहपरित्यजनम्-इति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! किं बहुना मन्त्रितेन ? प्रेक्षे तावत् त महानुभावम् । कुलपतिना भणितम्-महाराज ! अलमिदानीं तावत् तस्य दर्शनेन । ध्यानव्यापृतः खलु सः, ततः किं तस्य अभिप्रेयकार्यान्तरायेण ? । गच्छ त्वं नगरीम्, पुनः कुत्रचित् प्रेक्षस्व इति । ततः 'यद् भगवान् आज्ञापयति, पुनरागमिष्यामि' इति भणित्वा अत्यन्तदुर्मना उत्थितो

पणमिऊण कुलवइं पयट्टो नयरिं । तओ एक्केणं साणुक्कोसेणं च बाल-तावसकुमारेणं अणुगच्छिऊण थेवमूमिभायं निवेइओ से अग्गिसम्माभि-प्पाओ त्ति । तओ राइणा चिन्तियं–किमिह पुणागमणेणं ? अइ परं कुलवई आयासे पाडिज्जइ । ता न जुत्तं ममेहं नयरे वि चिट्ठिउ, मा से महाणुभावस्स तस्स असोयव्वं पि अवरं सुणिस्सं ति एवं चिन्तयन्तो पत्तो वसन्तउरं । पुच्छिया णेणं संवच्छरिया 'कया अम्हाण खिइपइ-ट्ठियगमणदियहो परिसुज्झइ' त्ति । तेहिं च निच्च तक्कम्मवावडत्तणे-णोवलद्धसोहणदिणेहिं विन्नत्तं 'महाराय ! कल्लं चेय परिसुज्झइ' त्ति । तओ राइणा समाणत्तो परियणो 'पयट्टह लहुं कल्लं'ति । तओ विइय-दियहे महया चडयरेण निग्गओ राया । अणवरयपयाणएहिं च पत्तो मास-मेत्तेण कालेण खिइपइट्ठियं । तओ ऊसियविचित्तकेउनिवहं,विविह कयट्ट-सोहं, सोहियसपुप्फोवयाररायमग्गं, धवलियपासायमालोवसोहियं, महावि-भूईए पविट्ठो नयरं, तत्थ वि य तोरणनिम्मियवन्दणमाल, सविसेससंपाइ-यमहोवयारं, सव्वओभद्दं नाम पासायं । तत्थ य तम्मि चेय वियहे आगओ

प्रणम्य कुलपति प्रवृत्तो नगरीम् । तत एकेन सानुक्रोशेन च बालतापस-कुमारेण अनुगम्य स्तोकमूमिभागं निवेदितस्तस्य अग्निशर्माऽभिप्राय इति । ततो राज्ञा चिन्तितम्-किमिह पुनरागमनेन ? यदि पर कुलपति. आयासे पात्यते । ततो न युक्त मम इह नगरे अपि स्थातुम्, अथ मा महानु-भावस्य तस्य अश्रोतव्यमपि अपर श्रोष्यामि इति । एव चिन्तयन् प्राप्तो वसन्तपुरम् । पृष्टाश्च तेन सांवत्सरिका 'कदा अस्माक क्षितिप्रति-ष्ठितगमनदिवसः परिशुध्यति ?' इति । तैश्च नित्य तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनैः विज्ञप्तम्–'महाराज ! कल्यमेव परिशुध्यति' इति । तैश्च नित्य तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनै विज्ञप्तम्–'महाराज ! कल्यमेव परिशुध्यति' इति । ततो राजा समाज्ञप्तः परिजनः 'प्रवर्तध्वं लघु कल्यम्' इति । ततो द्वितीयदिवसे महता चटत्तरेण निर्गतो राजा । अनवरतप्रयाणैश्च प्राप्तो मासमात्रेण कालेन क्षितिप्रतिष्ठितम् । तत उच्छ्रितविचित्रकेतुनिवहम्, विविधकृताट्टशोभम्, शोभितसपुष्पोपचार-राजमार्गम्, धवलितप्रासादमालोपशोभितम्, महाविभूत्या प्रविष्टो नगरम्, तत्रापि च तोरणनिर्मितवन्दनमालम् सविशेषसंपादितमहो-पचारम्, सर्वतोभद्र नाम प्रसादम् । तत्र च तस्मिन्नेव दिवसे आगतः

पुरिसा। निवेइओ तेहिं 'देव! एस सो सुणओ' त्ति। तओ सो मं दट्ठूण पयलंतदीहलंगूलो, बाहजलभरियलोयणो, उग्गीवमयचालियाणणो किंपि तहाविहं अणाचिक्खणीयं अवत्थन्तरं पाविऊणमारसिउमाढत्तो। तओ मए पुच्छिओ केवली। भयवं! किमेयं? त्ति। तेण भणियं-दुल्ल पुव्वभवब्भासओ पणओ त्ति। मए भणियं-भयवं! किमेस मं पच्चहियाणइ?। भयवया भणियं-न विसेसओ, किंतु सामन्नओ त्ति। ईइसो चेव एस संसारसहावो त्ति, जम्मणन्तरमब्भत्थया भावणा अणाभोगओ वि कंचि कालं अणुवत्तइ त्ति। तओ मए भणियं-भयवं! अह कस्स कम्मस्स एस विवागो?। भयवया भणियं-जाइमयमाणजणियस्स। मए भणियं-भयवं! को वि याणेण माणो कओ? त्ति। भयवया भणियं-सुण, एत्थ चेवाणन्तरजम्मे पयत्ते मयणमहूसवे, निग्गयासु विचित्तवेसासु नयरचच्चरीसु तरुणजणवन्द्रपरिगएण बहुजणसंसणिज्ज वसन्तकीलमणुहवन्तेण दिट्ठा समासन्नचारिणी वरयसोहगचच्चरि त्ति। दट्ठूण य अन्नाणदोसेणं जाइ-कुलाइगव्विएणं 'कहं णीयचच्चरी अम्हाणचच्चरीए समासन्न

पुरुषाः। निवेदितः तैः 'देव! एष स शुनकः' इति। ततः स मां दृष्ट्वा प्रचलद्दीर्घलांगूलः, बाष्पजलभृतलोचन, उद्ग्रीवमयचालिताननः किमपि तथाविधम्-अनाख्यानीयम् अवस्थान्तरं प्राप्य आरसितुमारब्धः। ततो मया पृष्टः केवली। भगवन्! किमेतत्? इति। तेन भणितम्-दुर्लभ पूर्वभवाऽभ्यासतः प्रणय इति। मया भणितम्-भगवन्! किमेष मां प्रत्यभिजानाति?। भगवता भणितम्-न विशेषतः, किन्तु सामान्यत इति। ईदृश एव एष संसारस्वभाव इति, जन्मान्तरमवाभ्यस्ता भावना अनाभोगतोऽपि कंचित् कालम्-अनुवर्तते इति। ततो मया भणितम्-भगवन्! अथ कस्य कर्मणः एष विपाकः?। भगवता भणितम्-जातिपदमानजनितस्य (कर्मणः)। मया भणितम्-भगवन्! कोऽपि च अनेन मानः कृतः? इति। भगवता भणितम्-शृणु, अत्र चैव अनन्तरजन्मानि प्रवृत्ते मदनमहोत्सवे, निर्गतासु विचित्रवेश्यासु, नगरचत्वरीषु तरुणजनवृन्दपरिगतेन बहुजनप्रशंसनीयां वसन्तक्रीडाम्-अनुभवता दृष्टा समासन्नचारिणी वरनशाधकचत्वरी इति। दृष्ट्वा च अज्ञानदोषेण जाति-कुलादिगर्वितेन 'कथं नीचचत्वरी अस्माकं चत्वर्याः समासन्न

परिस्सवइ' त्ति कयत्थियमा वत्थसोहगा। पहाणो त्ति करिय वड्डयरं कयत्थिऊण संजमियसव्वगत्तो नेमाविओ चारयं ऊसविन्नो। एत्थन्तरम्मि गरुयमाणपरिणामवत्तिणा बद्धं परभवाउयं। निवत्ते य मयणमहूसवे नगरलोएण मोयाविओ ऊसविन्नो। एसो य तक्कम्मपरिणामवसओ मरिऊण एत्थ उववन्नो त्ति। तओ मए चिन्तियं-अहो ! ! अप्पसुहं नियाणं बहुदुक्खफलं, धिरत्थु संसारवासस्स। ता पुच्छामि भयवन्तं 'किपज्जवसाणमेयं नियाणं ? किं वा एस भविओ, अभविओ वा ? सिद्धिगामी असिद्धिगामी संपत्तबोओ वा न व ?' त्ति चिन्तिऊण पुच्छियं मए। तओ भयवया भणियं-सुण, जपज्जवसाणमेयं नियाणं। इओ सुणयभवाओ एस अहाउयं पालिऊण उव्वट्टो समाणो इमस्स चेव ऊसविन्नस्स गहवसूयाए घोडयडिगाभिहाणाए रासहीए गब्भम्मि रासहत्ताए उववज्जिहि त्ति। तओ य निग्गओ समाणो ऊसविन्नस्स अमणोरमो, किलेससंपावियसरीरवित्ती, गरुयभारुव्वहणपरिखेइयसरीरो, जीवियसमयं चिट्ठिऊण मओ समाणो ऊसविन्नसंगयस्स चेव माइविन्नसन्नियस्स चण्डालस्स अणहियाभिहाणाए भारियाए

परि-श्रजति' इति कर्दयित्वा वस्त्रशोधकाः। प्रधान इति कृत्वा दृढतर कदर्थयित्वा सयमित (बद्ध) सर्वगात्रः नायितश्चारक पुष्पदत्तः। अत्रान्तरे गुरुकमानपरिणामवर्तिना बद्धं परभवायुष्कम्। निवृत्ते मदनमहोत्सवे नगरलोकेन मोचितः पुष्पदत्तः। एष च तत्कर्मपरिणामवशतः मृत्वा अत्र उपपन्न इति। ततो मया चिन्तितम्-अहो ! ! अल्पसुख निदान बहुदुःखफलम्, धिगस्तु ससारवासम्। ततः पृच्छामि भगवन्तम् 'किंपर्यवमानमेतद् निदानम् ? किं वा एष भव्यः, अभव्यो वा ? सिद्धिगामी असिद्धिगामी सप्राप्तबीजो वा न वा ?' इति चिन्तयित्वा पृष्ट मया। ततो भगवता भणितम्-शृणु, यत्पर्यवसानमेतद् निदानम्। इतः शुनकभवाद् एष ययायुष्कं उद्वृत्त. सन् अस्यैव पुष्पदत्तस्य गेहप्रसूताया घोटघटिकाभिधानाया रासभ्या गर्भे रासभतया (उपपत्स्यते) उत्पत्स्यते इति। ततश्च निर्गतः सन् पुष्पदत्तस्य अमनोरमः,क्लेशसंप्रापितशरीरवृत्तिः, गुरुकभारोद्वहनपरिखेदितशरीरः, जीवितसमयं स्थित्वा मृत.सन् पुष्पदत्तसगतस्यैव मातृदत्तसज्ञितस्य चाण्डालस्य अनधिकाभिधानाया भार्यायाः

कुच्छिसि नपुंसगत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ य निग्गन्तो समाणो कुरूवदोहग्गकलङ्कदूसिओ, अपरिन्नायविसयसंगो, कंचि कालं नपुंसगत्ताए जीविऊण सीहविणिवाइयसरीरो देहं पमोत्तूण तीसे चेव चण्डालमहिलियाए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि त्ति। तओ विणिग्गयमेत्तो चेव पढमबालभावत्तो भुयंगडक्को मरिऊण ऊसदिन्नस्स चेव गब्भदासीए वत्तियामिहाणाए कुच्छिसि नपुंसगत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ विणिग्गओ समाणो जच्चन्धमडहखुज्जो मच्चलोयपरिभूओ कंचि कालं नपुंसगत्तं परियालिऊण पयत्ते नयरडाहे किसाणुणा छारीकयसरीरो पञ्चत्तमुवगच्छिऊण तीसे चेव गब्भदासीए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि त्ति । समुप्पन्नो य पीढसप्पी भविस्सइ त्ति । तओ एत्थेव नयरे रायमग्गे गच्छन्तो वियरिएण मत्तहत्थिणा वावाइया समाणी इमस्स चेव ऊसदिन्नस्स कालञ्जणियाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि त्ति । जाया समाणी कमेण सपत्तजोव्वणा । दिन्ना य ऊसविसेण ऊसरविलयाभिहाणस्स अच्चन्तदारिद्दाभिभूयस्स । इत्थिया कयपाणिग्गहणा आवन्नसत्ता होऊण पसूइसमए चेव महावेयणाहिभूया कालं

कुक्षौ नपुंसकतया उत्पत्स्यते इति । ततश्च निष्क्रान्तः सन् कुरूपदौर्भाग्यकलङ्कदूषित, अपरिज्ञातविषयसङ्गः, कंचित् कालं नपुंसकतया जीवित्वा सिंहविनिपातितशरीरो देहं प्रमुच्य तस्या एव चाण्डालमहिलाया कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यते इति ततो विनिर्गतमात्र एव प्रथमबाल्यभाववर्ती भुजगदष्ट. मृत्वा पुष्यदत्तस्य एव गर्भदास्याः (प्रसूतिकर्मकारिण्या, गृहदास्या वा) वर्त्तकाभिधानाया. कुक्षौ नपुंसकतया उपपत्स्यते इति । तत विनिर्गतः सन् जात्यन्धलघुकुब्जः मर्त्यलोकपरिभूतः कंचित् कालं नपुंसकत्वं परिपाल्य प्रवृत्ते नगरदाहे कृशानुना भस्मीकृतशरीरः पञ्चत्वमुपगम्य तस्या एव गर्भदास्याः कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यते इति । समुत्पन्नश्च पीठसर्पी भविष्यति इति । ततोऽत्रैव नगरे राजमार्गे गच्छन्ती विदृप्तेन मत्तहस्तिना व्यापादिता सती अस्यैव पुष्यदत्तस्य कालाञ्जनिकाभिधानाया भार्यायाः कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यते इति । जाता सती क्रमेण सम्प्राप्तयौवना । दत्ता च एतस्मै पुष्यदत्तस्य ऊसरविलयाभिधानस्य अत्यन्तदारिद्र्याभिभूतस्य । स्त्री कृतपाणिग्रहणा आपन्नसत्त्वा भूत्वा प्रसूतिसमये एव महावेदनाऽभिभूता कालं

काऊण सजणणीए चेव पुत्तत्ताए उववज्जिहि त्ति । उववन्नो य सो बाल-भावे चेव गन्धारनिन्नगातीरम्मि खेल्लमाणो ऊसदिन्नसत्तुणा चिलाय-नामेण 'रिउपुत्तो' त्ति गिण्हिऊण सिरोहरानिबद्धगरुयसिलायलो दहम्मि परिक्खिप्पिहिइ । एयपज्जवसाणमेयं नियाणं । भविओ य एसो सिद्धि-गामी य, केवलमसंपत्तबीओ त्ति । तओ मए भणियं–भयवं ! कहिं पुणो सो जलमरणाणन्तरं उववज्जिहिइ ? त्ति, कया वा बीयसंपत्ती य भवि-स्सइ ? भगवया भणियं–सुण, जलमरणाणन्तरं वाणमन्तरेसु उववज्जिहि त्ति । तओ तम्मि चेव जम्मे आणन्दतित्थयरसमीवे सासयसुहकप्पपाय-वेक्कबीयं सम्मत्तं पाविहिइ । तओ चउगइसमावन्नो संखेज्जेसु समइच्छि-एसु भवग्गहणेसु, इहेव गन्धारजणवए पाविऊण नरवइत्तणं, अमरतेय-विज्जाहरसमणगणिसमीवे पवज्जिऊण पव्वज्जं, संपत्तकेवलो मुत्तिं पावि-स्सइ त्ति । तओ ममेयं सोऊण जाओ संवेओ, नियत्ता भवचारगाओ मई । तओ अणुन्नविय जणणि-जणए,काऊण जहोचियं करणिज्जं,निक्खंतो सुगही-यनामधेयस्स भगवओ इन्ददत्तगणहरस्स समीवे । ता एयं मे निव्वेयकारणं

कृत्वा स्वजनन्या एव पुत्रतया उपपत्स्यत इति । उपपन्नश्च स बालभावे एव गान्धारनिम्नगातीरे खेलन् पुष्पदत्तशत्रुणा चिलात (किरात) नाम्ना 'रिपुपुत्रः' इति गृहीत्वा शिरोधरानिबद्धगुरुकशिलातलः ह्रदे परिक्षेप-स्यिष्यते । एतत्पर्यवसानमेतद् निदानम् । भव्यश्च एष सिद्धिगामी च, केवलम्-असंप्राप्तबीजः–इति । ततो मया भणितम्–भगवन् ! कुत्र पुन. स जलमरणानन्तरम्-उपपत्स्यते ? इति, कदा वा बीज–सम्यक्त्व–सप्राप्तिः, मुक्तिसंप्राप्तिश्च भविष्यति ? । भगवता भणितम्–शृणु, जलमरणानन्तर वानव्यन्तरेषु उपपत्स्यते इति । ततः तस्मिन् एव जन्मनि आनन्दतीर्थकरसमीपे शाश्वतसुखकल्पपादपैकबीज सम्यक्त्वं प्राप्स्यति । तत. चतुर्गतिसमापन्नः संख्येयेषु समतिगतेषु भवग्रहणेषु, इहैव गान्धारजनपदे प्राप्य नरपतित्वम्, अमरतेजोविद्याधरश्रमणगणिसमीपे प्रपद्य प्रव्रज्याम्, संप्राप्तकेवलः मुक्तिं प्राप्स्यति इति । ततो मम एतत् श्रुत्वा जातः संवेगः, निवृत्ता भवचारकाद् मतिः । ततोऽनुज्ञाप्य जननी-जनकान्, कृत्वा यथोचितं करणीयम्,. निष्क्रान्त. सुगृहीतनाम भगवत इन्द्रदत्तगणधरस्य समीपे । तत एतद् मम निर्वेदका

खन्ती य मद्दव-ऽज्जव-मुत्ती तव-संजमे य बोधव्वे ।
सच्चं सोयं आकिञ्चणं च बम्भं च जइधम्मो ॥४१॥

एयस्स उण दुविहस्स वि धम्मस्स मूलवत्थु सम्मत्तं । तं पुणो अणाइकम्मसंताणवेढियस्स जन्तुणो दुल्लहं हवइ त्ति । तं च कम्मं अट्ठहा । तं जहा-नाणावरणिज्जं, दरिसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं, अन्तरायं च । एयस्स उण निमित्तं-मिच्छत्तं, अन्नाणं, अविरई, पमाओ, कसाया, जोगा य त्ति । एगपरिणामसंचियस्स दुविहा ठिई समक्खाया । तं जहा-उक्कोसिया य, जहन्निया य । तत्थ णं जा सा उक्कोसिया, सा तिव्वासुहपरिणामजणियाणं नाणावरण-दरिसणावरण-वेयणीय-अन्तरायाणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, मोहणिज्जस्स य सत्तरि, नाम-गोयाणं वीसं, तेत्तीसं च सागरोवमाइं आउयस्स त्ति । जहन्ना उण तहाविहपरिणामसंचियस्स वेयणीयस्स बारस मुहुत्ता, नाम-गोयाणं अट्ठ, सेसाणं भिन्नमुहुत्तं ति । एवठियस्स य इमस्स कम्मस्स अहापवत्तकरणेण जया घंसणघोलणाए कहवि एगं सागरोवमकोडाकोडिं मोत्तूण

क्षान्तिश्च मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति. तप.-संयमौ च बोद्धव्यौ ।
सत्य शौचं आकिञ्चन्यं च ब्रह्म च यतिधर्मः ॥४१॥

एतस्य पुनः द्विविधस्य अपि धर्मस्य मूलवस्तु सम्यक्त्वम् । तत् पुनः अनादिकर्मसंतानवेष्टितस्य जन्तोः दुर्लभं भवति इति । तच्च कर्म अष्टधा । तद्यथा-ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, वेदनीयम्, मोहनीयम्, आयुष्यम्, नाम, गोत्रम्, अन्तरायं च । एतस्य पुनर्निमित्तम्-मिथ्यात्वम्, अज्ञानम्, अविरतिः, प्रमादः, कषायाः, योगाश्चेति । एकपरिणामसंचितस्य एतस्य द्विविधा स्थितिः समाख्याता । तद्यथा-उत्कृष्टा च, जघन्या च । तत्र या सा उत्कृष्टा, सा तीव्राऽशुभपरिणामजनितानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-अन्तरायाणां त्रिंशत् सागरोपमकोटाकोटिः, मोहनीयस्य सप्ततिः, नाम-गोत्रयोः विंशतिः, त्रयस्त्रिंशच्च सागरोपमाणि आयुष्कस्य इति । जघन्या पुनः तथाविधपरिणामसंचितस्य वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः, नाम-गोत्रयोः अष्ट, शेषाणां भिन्नमुहूर्तम्-इति । एवस्थितस्य च अस्य कर्मणः यथाप्रवृत्तकरणेन यदा घर्षणघूर्णनया कथमपि एकां सागरोपमकोटाकोटिं मुक्त्वा

मन्नइ तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहि पन्नत्तं ।
सुहपरिणामो सव्वं कंखाइविसोत्तियारहिओ ॥४९॥
एवंविहपरिणामो सम्मद्दिट्ठी जिणेहि पन्नत्तो ।
एसो य भवसमुद्दं लंघइ थेवेण कालेणं ॥५०॥

तओ य तीसे वि य णं ठिईए पलिओवमपुहुत्तमेत्ते खीणे प- मत्थओ सुहयरपरिणामगब्भं देसविरइं पडिवज्जइ । तं जहा–थूलगपा- णाइवायविरमणं वा, थूलगमुसावायविरमणं वा, थूलयादत्तादाणवि- रमणं वा, परदारगमणविरमणं वा, सदारसंतोसं वा, अपरिमिय- परिग्गहविरमणं वा । से य एए देसविरइपरिणामजुत्ते, पडिवन्ना- णुव्वए, भावओ अपरिवडियपरिणामे नो खलु समायरइ इमे अ- यारे । तं जहा–बन्धं वा, वहं वा, छविच्छेयं वा, अइभारारोवणं वा, भत्तपाणवोच्छेयं वा; तहा सहसब्भक्खाणं वा, रहस्सब्भक्खाणं वा, सदारमन्तभेयं वा, मोसोवएसं वा, कूडलेहकरणं वा; तहा तेणाहडं वा, तक्करपओगं वा, विरुद्धरज्जाइक्कमं वा, कूडतुल-कूडमाणं वा,

---

मन्यते तदेव सत्यं निःशङ्कं यद् जिनैः प्रज्ञप्तम् ।
शुभपरिणामः सर्वं काङ्क्षादिविस्रोतसिकारहितः ॥४९॥
एवंविधपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्जिनैः प्रज्ञप्तः ।
एष च भवसमुद्रं लङ्घते स्तोकेन कालेन ॥५०॥

ततश्च तस्या अपि च स्थितेः पल्योपमपृथक्त्वमात्रे क्षीणे परमार्थतः शुभतरपरिणामगर्भां देशविरतिं प्रतिपद्यते । तद्यथा–स्थूलकप्राणातिपातविरमणं वा, स्थूलकमृषावादविरमणं वा, स्थूलकादत्तादानविरमणं वा, परदारगमनविरमणं वा, स्वदारसंतोषं वा, अपरिमितपरिग्रहविरमणं वा । स च एव देशविरतिपरिणामयुक्तः, प्रतिपन्नाणुव्रतः भावतोऽपरिपतितपरिणामः नो खलु समाचरति इमान् अतिचारान् । तद्यथा–बन्धं वा, वधं वा, छवि(शरीर)च्छेदं वा, अतिभारारोपणं वा, भक्तपानव्यवच्छेदं वा; तथा सहसाऽभ्याख्यानं वा, रहस्याभ्याख्यानं वा, स्वदारमन्त्रभेदं वा, मृषोपदेशं वा, कूटलेखकरणं वा; तथा स्तेनाहृतं वा, तस्करप्रयोगं वा, विरुद्धराज्यातिक्रमं वा, कूटतुला-कूटमानं वा,

तप्पडिरूवगववहारं वा; तहा इत्तिरियपरिग्गहियागमणं वा, अपरिग्गहियागमणं वा, अणंगकीडं वा, परविवाहकरणं वा, कामभोगतिव्वाहिलासं वा; तहा खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमं वा, हिरण्ण-सुवण्णपमाणाइक्कमं वा, धण-धन्नपमाणाइक्कमं वा, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमं वा, कुविय-पमाणाइक्कमं वा; तहा अन्ने य एवजाइए संसारसागरहिण्डणनिमित्त-भूए सुहपरिणामभावओ चेव नो आयरइ त्ति। तहा इमे एयारूवे उत्तर-गुणे य पडिवज्जइ। तं जहा-उड्ढदिसिगुणव्वयं वा, अहोदिसिगुणव्वयं वा, तिरियदिसिगुणव्वयं वा; तहा भोगोवभोगपरिमाणलक्खणगुणव्वयं वा, उवभोग-परिभोगहेउ-खरकम्माइपरिवज्जणं वा; तहा अवज्झाणाय-रिय-पमायायरिय-हिंसप्पयाण-पावकम्मोवएसलक्खणाणत्थदण्डविरइगुण-व्वयं वा, तहा सावज्जजोगपरिवज्जण-निरवज्जजोगपडिसेवणालक्खण-सिक्खावयं वा, तहा दिसिवयगहियस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणपमाण-करणदेसावगासियसिक्खावयं वा, तहा आहार-सरीरसक्कार-बम्भचेर-अव्वावारलक्खणपोसहसिक्खावयं वा, तहा नायागयाणं, कप्पणिज्जाणं, अन्न-पाणाईणं दव्वाणं देसकाल-सद्धा-सक्कारक्कमजुयं पराए भत्तीए

तत्प्रतिरूपकव्यवहारं वा; तथा इत्वरिकपरिगृहीतागमनं वा, अपरि-गृहीतागमनं वा, अनङ्गक्रीडा वा, परविवाहकरणं वा, कामभोगतीव्राऽ-भिलाषं वा; तथा क्षेत्रवस्तुप्रमाणाऽतिक्रमं वा, हिरण्य-सुवर्णप्रमाणाऽ-तिक्रमं वा, धन-धान्यप्रमाणातिक्रमं वा, द्विपद-चतुष्पदप्रमाणातिक्रमं वा, कुप्यप्रमाणातिक्रमं वा; तथा अन्यांश्च एवंजातिकान् संसारसागर-हिण्डननिमित्तभूतान् शुभपरिणामभावत एव नो आचरति इति। तथा इमान् एतद्रूपान् उत्तरगुणांश्च प्रतिपद्यते। तद्यथा-ऊर्ध्वदिग्गुणव्रतं वा; अधोदिग्गुणव्रतं वा, तिर्यग्दिग्गुणव्रतं वा, तथा भोगोपभोगपरिमाण-लक्षणगुणव्रतं वा, उपभोग-परिभोगहेतु-खरकर्मादिपरिवर्जनं वा; तथा अपध्यानाचरित-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदान-पापकर्मोपदेशलक्षणानर्थदण्ड-विरतिगुणव्रतं वा, तथा सावद्ययोगपरिवर्जन-निरवद्ययोगप्रतिसेवना-लक्षणशिक्षाव्रतं वा, तथा दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिन-प्रमाणकरणदेशावकाशिकशिक्षाव्रतं वा, तथा आहार-शरीरसत्कारब्रह्म-चर्य-अव्यापारलक्षणपौषधशिक्षाव्रतं वा, तथा न्यायागतानाम्, कल्पनीया-नाम्, अन्न-पानादीनां द्रव्याणां देशकाल-श्रद्धा-सत्कारक्रमयुतं परया भक्त्या

तओ खवगसेढिपरिसमत्तीए सासयं, अणन्तं, केवलवरनाणदंसणं पाउणइ। तओ कमेणं खवियसेसभवोवग्गाहिकम्मंसे, सव्वकम्मविप्पमुक्के पाउणइ सासयं थामं ति ॥ एयन्तरम्मि य गुरुवयणायण्णणजणियसुह-परिणामाणलदड्ढबहुकम्मेन्धणेणं, भावओ पवन्नसम्मत्ता-ऽणुव्वय-गुणव्वय-सिक्खावयगुणट्ठाणेण भणियं गुणसेणेण—भयवं! धन्नोऽहं, जेण मए पावमलपक्खालणं, रागाइविसघायणं, पसमाइगुणकारणं, भवचारयनिस्सारणं सुयं ते वयणं ति। ता आइसाहु संपयं, जं मए कायव्वं ति। अहवा आइट्ठं चेव भयवया। ता देहि मे ताव गिहिधम्मसारभूए अणुव्वयाइए गुणट्ठाणे। गुरुणा भणियं—'किच्चमेयं तुम्हारिसाणं भव्वसत्ताणं' ति विहिपुव्वयं दिन्नाणि से अणुव्वयाणि, अणुसासिओ य बहुविहं। तओ वन्दिऊण परमभत्तीए सपरियारं गुरुं पविट्ठो नयरं। कयभोयणोवयारो य परिणयप्पाए दियहे पुणो वि निग्गओ त्ति। वन्दिया य णेण देवगुरवो। कालोइयमणुसासिओ य गुरुणा। तओ य कंचि वेलं पज्जुवासिऊण विहिणा पुणो नयरं पविट्ठो त्ति। एवं उभयकालं गुरुदंसण-तव्व-

---

ततः क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ शाश्वतम्, अनन्तम्, केवलवरज्ञान-दर्शनं प्राप्नोति। ततः क्रमेण क्षपितशेषभवोपग्राहिकर्मांशः सर्वकर्म-विप्रमुक्तः प्राप्नोति शाश्वतं स्थाम इति ॥ अत्रान्तरे च गुरुवचनाऽऽकर्णनजनितशुभपरिणामानलदग्धबहुकर्मेन्धनेन, भावतः प्रपन्नसम्यक्त्वा-ऽणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतगुणस्थानेन भणितं गुणसेनेन—भगवन्! धन्योऽहम्, येन मया पापमलप्रक्षालनम्, रागादिविषघातनम्, प्रशमादिगुण-कारणम्, भवचारकनिस्सारणं श्रुतं तव वचनम् इति। तत आदिशत साम्प्रतम्, यद् मया कर्तव्यमिति। अथवा आदिष्टमेव भगवता। ततो देहि मम तावद् गृहिधर्मसारभूतानि अणुव्रतादिकानि गुणस्थानानि। गुरुणा भणितम्—'कृत्यमेतत् त्वादृशानां भव्यसत्त्वानाम्' इति विधि-पूर्वकं दत्तानि तस्य अणुव्रतानि, अनुशासितश्च बहुविधम्। ततो वन्दित्वा परमभक्त्या सपरिवारं गुरुं प्रविष्टो नगरम्। कृतभोजनोपचारश्च परिणतप्राये दिवसे पुनरपि निर्गत इति। वन्दिताश्च अनेन देवगुरवः। कालोचितमनुशासितश्च गुरुणा। ततश्च काञ्चिद् वेलां पर्युपास्य विधिना पुनर्नगरं प्रविष्ट इति। एवम्—उभयकालं गुरुदर्शन-तद्वचनश्रवणतोष-

पणसुणणसोक्खमणुहवन्तस्स अईओ मासो, परिणओ से धम्मो। कप्प-समत्तीए य गयो अन्नत्थ भयव विजयसेणायरिओ त्ति। तओ अइ-क्कन्तेसु कइवयदिणेसु राइणो गुणसेणस्स पासायतलसंठियस्स कहवि सोऊण हाहारवगब्भिणं मरणनरवइणो विव पयाणढक्क, ससाररक्खसस्स विव अट्टट्टहासं, जीवलोयस्स विव पमायचरियमयगडिण्डिमसद्दं; पेच्छि-ऊण तं कयन्तवसवत्तिणं चउपुरिसधरियकायं, कन्दन्तबन्धुजणपरिवारिय सवं; परमसंवेगभावियमइस्स, इन्दयालसरिसजीवलोयमवगच्छिऊण धम्म-ज्झाणजलपक्खालियपावलेवस्स समुप्पन्ना चिन्ता-अम्हे वि एवं चेव मरण-धम्माणो त्ति। अहो ! ! णु खलु एव विरसावसाणे जीवलोए ते धन्ना, जे तेलोक्कबन्धुभूए, अचिन्तचिन्तामणिसन्निहे, परमरिसिसव्वन्नुदेसिए धम्मे कयाणुराया अगारवासाओ अणगारियं पव्वयन्ति। तओ य पाणवह-मुसावाय-अदत्तादाण-मेहुण-परिग्गहविरया, बायालीसेसणादोसपरिसुद्ध-पिण्डग्गाहिणो, संजोयणाइपञ्चदोसरहियमियकालभोइणो, पञ्चसमिया, तिगुत्ता, निरइयारवयपरिपालणमत्यमेव इरियासमियाइपणवीसभावणो ववेया, अणसणमूणोयरियाइ-पायच्छित्त-विणयाइसबाहिरब्भिन्तरतवो-

---

मनुभवतः अतीतो मासः, परिणतस्तस्य धर्मः। कल्पसमाप्तौ च गतोऽन्यत्र भगवान् विजयसेनाचार्य इति। ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु राज्ञो गुणसेनस्य प्रासादतलसंस्थितस्य कथमपि श्रुत्वा हाहारवगर्भाणं मरण-नरपतेरिव प्रयाणढक्काम्, संसारराक्षसस्य इव अट्टाट्टहासम्, जीवलोकस्य इव प्रमादचरित मृतकडिण्डिमशब्दम्; प्रेक्ष्य तत् कृतान्तवशवर्ति चतु-ष्पुरुषधृतकायम्, क्रन्दद्बन्धुजनपरिवारित शवम्; परमसंवेगभावितमतेः, इन्द्रजालसदृशजीवलोकम्-अवगम्य धर्मध्यानजलप्रक्षालितपापलेपस्य समु-त्पन्ना चिन्ता-वयमपि एवमेव -मरणधर्माण इति। अहो ! ! नु खलु एव विरसावसाने जीवलोके ते धन्याः, ये त्रैलोक्यबन्धुभूते, अचिन्त्य-चिन्तामणिसंनिभे, परमर्षिसर्वज्ञदेशिते धर्मे कृतानुरागा आगार-वासाद् अनगारितां प्रव्रजन्ति। ततश्च प्राणवध-मृषावाद-अदत्ताऽऽ-दान मैथुनपरिग्रहविरताः, द्विचत्वारिंशदेषणादोषपरिशुद्धपिण्डग्राहिणः, संयोजनादिपञ्चदोषरहितमितकालभोजिनः, पञ्चसमिताः, त्रिगुप्ताः, निरतिचारव्रतपरिपालनार्थमेव ईर्यासमितादिपञ्चविंशतिभावनोप-पेताः, अनशन-ऊनोदरिकादि-प्रायश्चित्त-विनयादिसबाह्याभ्यन्तरतपो-

गुणप्पहाणा, मासाइयाणेगपडिमाधारिणो, विचित्तदव्वाभिग्गह
अण्हाण-लोय-लद्धावलद्धवत्तिणो, निप्पडिकम्मसरीरा, सम-तण-मणि
मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणा, किं बहुणा, अट्ठारससीलंगसहस्सधारिणो, उव
माईपविबुहजणपसंसियपसमसुहमेया, अणेगगामा-ऽऽयर-नगर-पट्ट
मडम्ब-दोणमुह-संनिवेससयसंकुल विहरिऊण मेइणिं, मिच्छत्तपङ्कम
पडिबद्धे य सद्धम्मकहणदिवायरोदएणं बोहिऊण भव्वकमलायरे, मह
तवच्चरणपरिकम्मियसरीरा जिणोवइट्ठेण मग्गेण कालमासे कालं का
पाओवगमणेण देह परिच्चयन्ति। तओ अहं पि इयाणिं इमेण
विहिणा देहं परिच्चइस्स ति। पत्तो य मए भवसयसहस्सदुल्लहो, स
ललोयालोयदिवायरो, सासयसुहप्पयाणेक्ककप्पपयायो, सयलतेलो
निरुवमचिन्तामणी, वियडसंसारजलहिपोयभूओ, धम्मसारहो, भ
विजयसेणायरिओ त्ति। अओ पवज्जामो धीरपुरिससेवियं कम्म
वायानल एयस्स समीवे महापव्वज्जं ति चिन्तिऊण सद्दाविया
सुबुद्धिपमुहा मन्तिणो। कहिओ य तेसिं निययाहिप्पाओ। तओ
संगओ वेयोवलद्धजिणवयणसारेहिं भणियं च तेहिं—अहो! महापु

गुणप्रधानाः, मासादिकानेकप्रतिमाधारिणः, विचित्रद्रव्याभिग्रह
अस्नान-लोचलब्धवृत्तयः, निष्प्रतिकर्मशरीराः, समतृण-मणि-मु
लेष्टु-काञ्चना, किं बहुना, अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः, उपमा
विबुधजनप्रशंसितप्रशमसुखमेताः, अनेकग्रामा-ऽऽकर-नगर-पट्टन-म
द्रोणमुख-सनिवेशशतसंकुलां विहृत्य मेदिनीम्, मिथ्यात्वपङ्कमग्न
डास्च सद्धर्मकथनदिवाकरोदयेन बोधयित्वा भव्यकमलाकरान्, महात
रणपरिकर्मितशरीरा. जिनोपदिष्टेन मार्गेण कालमासे काल कृत्वा
पोपगमनेन देह परित्यजन्ति। ततोऽहमपि इदानीम्—अनेन एव विधिन
परित्यक्ष्यामि इति। प्राप्तश्च मया भवशतसहस्रदुर्लभः, सकललोका
दिवाकरः, शाश्वतसुखप्रदानैककल्पपादपः, सकलत्रैलोक्यनिरुपम
मणि, विकटसंसारजलधिपोतभूतः, धर्मसारथिः, भगवान् विजय
चार्य इति। अतः प्रव्रजामः धीरपुरुषसेवितां कर्मवनदावानलम्
समीपे महाप्रव्रज्याम्—इति चिन्तयित्वा शब्दायिताः तेन सुबुद्धि
मन्त्रिणः। कथितश्च तेषां निजकाभिप्रायः। ततः तत्प्रसङ्गतः
उपलब्धजिनवचनसारैः भणितं च तैः—अहो! महापुरुषप्रभाव

सहावाणुरूवं देवेण मन्तियं । खरपवणचालियनलिणजलमज्झगयचन्द-बिम्बचञ्चलम्मि जीवलोए किच्चमेयं भवियाणं, अहासुहं, मा करेह पडिबन्धं ति । अन्नं च-देव ! को नाम कस्सइ सुहित्तणं पवज्जिऊणं तं पलित्तजालावलीपरिगयाओ गेहाओ निसरन्तं वारेइ ? पलित्तं च सव्वदुक्खजलणेण संसारगेहं ति । ता बहुमयं नाम अम्हाणमेयं देवस्स ववसियं । असमत्था य अम्हे बुद्धिविहवेण भवओ मरणं निवारेउं ति । तओ राइणा एयमायण्णिऊण 'एवमेयं' ति, 'को तुम्हे मोत्तूण मम अन्नो हिओ' अहिणन्दिऊण सबहुमाणं पहट्ठमुहकमलेणं दवावियं आघोसणापुव्वयं महादानं, काराविया भत्तिविहवाणुरूवा जिणाययणाईसु अट्ठाहिया महिमा, सम्माणिओ य पणइवग्गो, बहुमाणिया पउरजणवया, दिन्नं चन्दसेणाभिहाणस्स जेट्ठपुत्तस्स रज्जं, पडिवन्ना भावओ पव्वज्जा । 'एए य इओ गमिस्सामि, जत्थ भयवं विजयसेणायरिओ' त्ति चिन्तिऊण ठिओ विवित्तदेसम्मि सव्वराइयं पडिमं । इओ य सो अग्गिसम्मतावसो अपडिक्कन्तो चेव तन्नियाणाओ कालं काऊण विज्जुकुमारेसु दिवड्ढपलिओवमट्ठिई देवो जाओ त्ति । दिन्नो य तेण उवओगो 'किं मए हुयं वा,

---

देवेन मन्त्रितम् । खरपवनचालितनलिनजलमध्यगतचन्द्रबिम्बचञ्चले जीवलोके कृत्यमेतद् भव्यानाम्, यथासुखम्, मा कुरुत प्रतिबन्धम्-इति । अन्यच्च-देव ! को नाम कस्यचित् सुधीत्वं प्रपद्य तं प्रदीप्तज्वालावलीपरिगताद् गेहाद् निस्सरन्तं वारयति ? प्रदीप्तं च सर्वदुःखज्वलनेन ससारगेहम्-इति । ततो बहुमतं नाम अस्माकम्-एतद् देवस्य व्यवसितम् । असमर्थाश्च वयं बुद्धिविभवेन भवतो मरणं निवारयितुम्-इति । ततो राज्ञ एतद् आकर्ण्य 'एवमेतद्' इति, 'को युष्मान् मुक्त्वा मम अन्यो हितः' अभिनन्द्य सबहुमानं प्रहृष्टमुखकमलेन दापितम्-आघोषणापूर्वकं महादानम्, कारिता भक्तिविभवानुरूपा जिनायतनादिषु अष्टाह्निका महिमा, सम्मानितश्च प्रणयिवर्गः, बहुमानिताः पौरजनपदाः, दत्तं चन्द्रसेनाभिधानस्य ज्येष्ठपुत्रस्य राज्यम्, प्रतिपन्ना भावतः प्रव्रज्या । 'इतश्च इतो गमिष्यामि, यत्र भगवान् विजयसेनाचार्यः' इति चिन्तयित्वा स्थितो विविक्तदेशे सर्वरात्रिकीं प्रतिमाम् । इतश्च सः अग्निशर्मतापसः अप्रतिक्रान्त एव तन्निदानात् कालं कृत्वा विद्युत्कुमारेषु द्व्यर्धपल्योपमस्थितिर्देवो जात इति । दत्तश्च तेन उपयोगः 'किं मया हुतं वा,

जट्ठं वा, दाणं वा दिन्नं, जेण मए एसा दिव्वा देवड्ढी पत्त' त्ति। आभोइओ णेण पुव्वजम्मवुत्तन्तो, कुविओ य उवरिं गुणसेणस्स। विहंगेणाहोइऊण आगओ तस्स समीवं। दिट्ठो य णेण पडिमं ठिओ गुणसेणो। तओ य–

पडिमं ठियस्स तेणं विउव्विया कोहमूढहियएण ।
निरयाणलजलियसिहा अइघोरा पंसुवुट्ठि त्ति ॥५३॥
तीए य डज्झमाणो अणाउलं गरुयसत्तसंपन्नो ।
चिन्तेइ भावियमणो धम्मम्मि जिणप्पणीयम्मि ॥५४॥
सारीर-माणसेहिं दुक्खेहि अभिद्दुयम्मि संसारे ।
सुलहमिणं जं दुक्खं दुलहा सद्धम्मपडिवत्ती ॥५५॥
धन्नोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
भवसयसहस्सदुलहं लद्धं सद्धम्मरयणमिणं ॥५६॥
एयस्स पभावेण पालिज्जन्तस्स सइ पयत्तेणं ।
जम्मन्तरम्मि जीवा पावन्ति न दुक्खदोगच्चं ॥५७॥

इष्टं वा, दानं वा, दत्तम्, येन मया एषा दिव्या देवर्धिः प्राप्ता' इति। आभोगितश्च तेन पूर्वजन्मवृत्तान्तः, कुपितश्च उपरि गुणसेनस्य विभङ्गेन आभोग्य आगतस्तस्य समीपम्। दृष्टश्च तेन प्रतिमां स्थितः गुणसेनः। ततश्च–

प्रतिमां स्थितस्य तेन विकुर्विता क्रोधमूढहृदयेन ।
निरयानलज्वलितशिखा अतिघोरा पांशुवृष्टिरिति ॥५३॥
तया च दह्यमानोऽनाकुलं गुरुकसत्त्वसम्पन्नः ।
चिन्तयति भावितमना धर्मे जिनप्रणीते ॥५४॥
शारीर-मानसैर्दुःखैः अभिद्रुते संसारे ।
सुलभमिदं यद् दुःखं दुर्लभा सद्धर्मप्रतिपत्तिः ॥५५॥
धन्योऽहं येन मया अनवरपारे भवसमुद्रे ।
भवशतसहस्रदुर्लभं लब्धं सद्धर्मरत्नमिदम् ॥५६॥
एतस्य प्रभावेण पाल्यमानस्य सदा प्रयत्नेन ।
जन्मान्तरे जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम् ॥५७॥

ता एसो च्चिय सफलो मज्झ मणायरणदोसपरिहीणो ।
सद्धम्मलाभगरुओ जम्मो णाइम्मि संसारे ॥५८॥
विलिहइ य मज्झ हिययम्मि जो कओ तस्स अग्गिसम्मस्स ।
परिभववोच्छेयाओ 'तवइ अकज्जं कयं पच्छा' ॥५९॥
एण्हिं पुण पडिवन्नो मेत्तिं सव्वेसु चेव जीवेसु ।
जिणवयणाओ अहयं विसेसओ अग्गिसम्मम्मि ॥६०॥
इय सो सुहपरिणामो तेणं विणिवाइओ उ पावेणं ।
मरिऊणं उववन्नो देवो सोहम्मकप्पम्मि ॥६१॥
अह सागरोवमाऊ जाओ चन्दाणणे विमाणम्मि ।
देवाणुप्पत्तिविहिं समासओ एत्थ वुच्छामि ॥६२॥
ओहेणं चिय जह ते हवन्ति जं च ऽच्छराइओ तेसिं ।
निव्वत्तन्तिपरे जह परमं देवस्स करणिज्जं ॥६३॥
जह मेहा-ऽसणि-निग्घोससंघाय-विज्जुण संभवो होइ ।
गयणम्मि खणेण तहा देवाण वि होइ उप्पत्ती ॥६४॥

तत एतद् एव सफलं मम मनाचरणदोषपरिहीनम् ।
सद्धर्मलाभगुरुकं जन्म अनादौ संसारे ॥५८॥
विलिखति च मम हृदये यः कृतस्तस्य अग्निशर्मणः ।
परिभवव्यापारात् 'तपति अकार्यं कृतं पश्चात्' ॥५९॥
इदानीं पुनः प्रतिपन्नो मैत्रीं सर्वेषु एव जीवेषु ।
जिनवचनाद् अहं विशेषतः अग्निशर्मणि ॥६०॥
इतः स शुभपरिणामः तेन विनिपातितस्तु पापेन ।
मृत्वा उपपन्नो देवः सौधर्मकल्पे ॥६१॥
अथ सागरोपमायुः जातः चन्द्रानने विमाने ।
देवानाम्-उत्पत्तिविधिं समागतोऽत्र वक्ष्यामि ॥६२॥
ओघेन एव यथा ते भवन्ति यच्च अप्सरआदयस्तेषाम् ।
निर्वर्तयन्ति इतरे (?) यथा परमं देवस्य करणीयम् ॥६३॥
यथा मेघा-ऽशनि-निर्घोषसंघात-विद्युतां संभवो भवति ।
गगने क्षणेन तथा देवानामपि भवति उत्पत्तिः ॥६····

सो पुण मोत्तूण इमं विमलम्मि देवसयणिज्जे ।
निव्वत्तेइ सरीरं दिव्वं अन्तोमुहुत्तेणं ॥६५॥
तम्मि समयम्मि तत्थ य गायन्ति मणोहराइ गेयाइं ।
कुसुमपयरं मुयन्ति य सभमरयं तियसविलयाओ ॥६६॥
नच्चन्ति दिव्वविब्भमसंपाडियतियसकोउहल्लाओ ।
वज्जन्तविविहमणहरतिसरीवीणासणाहाओ ॥६७॥
देवा य हरिसियमणा करेन्ति उक्किट्ठसीहणायं च ।
मुणिऊण तस्स जम्मं सुदुल्लहं सयलभुवणम्मि ॥६८॥
इयरो वि य कामगुणे सद्द-प्फास-रस-रूव-गन्धे य ।
दिव्वे समणुहवन्तो हिट्ठो उट्ठेइ सयराहं ॥६९॥
सुरयणनयणाणन्दो दिव्वं देवसुयं अहिक्खिवन्तो ।
भासुरवरबोन्दिधरो संपुण्णो सारयससि व्व ॥७०॥
तियसविलया उ तत्थ य तेहि य लडहाउ महुरवयणेहिं ।
जय जय जय त्ति नन्दा ! थुणन्ति हिट्ठाउ एएहिं ॥७१॥

स पुनः मुक्त्वा इमं देहं विमले देवशयनीये ।
निर्वर्तयति शरीरं दिव्यम्-अन्तर्मुहूर्तेन ॥६५॥
तस्मिन् समये यत्र च गायन्ति मनोहराणि गेयानि ।
कुसुमप्रकरं मुञ्चन्ति च सभ्रमरकं त्रिदशवनिताः ॥६६॥
नृत्यन्ति दिव्यविभ्रमसंपादितत्रिदशकुतूहलाः ।
वाद्यमानविविधमनोहरत्रिस्वरीवीणासनाथाः ॥६७॥
देवाश्च हृष्टमनसः कुर्वन्ति उत्कृष्टसिंहनादं च ।
ज्ञात्वा तस्य जन्म सुदुर्लभं सकलभुवने ॥६८॥
इतरोऽपि च कामगुणान् शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् च ।
दिव्यान् समनुभवन् हृष्ट उत्तिष्ठति शीघ्रम् ॥६९॥
सुरजननयनानन्दः दिव्यं देवांशुकम्-अधिक्षिपन् ।
भासुरवरशरीरधरः संपूर्णः शारदशशीव ॥७०॥
त्रिदशवनितास्तत्र च तैश्च सुन्दरा मधुरवचनैः ।
जय जय जय इति नन्द ! स्तुवन्ति हृष्टा एतैः ॥७१॥

तियसा वि परमहिट्ठा गण्डयलावडियकुण्डलुज्जोया ।
सुरतरुकुसुमाहरणा नमन्ति जयसद्दहलबोलं ॥७२॥
अह तं दिव्वपरियणं दट्ठूणं लोयणेण संभन्तो ।
विन्नं हुयं व किं मे इमं फलं जस्स दिव्वं ति ॥७३॥
काऊण य उयओगं दिव्वेणं ओहिणा विसुद्धेणं ।
मुणिऊण सुचरियं तो करेइ अह देवकरणिज्जं ॥७४॥
सासयजिणपडिमाणं पूयं पूयारुहो महारम्मं ।
पोत्थयरयणं च तहा वाएइ मुहुत्तमेत्तं तु ॥७५॥
अह तियससुन्दरीओ निज्जियमुहयन्दचन्दबिम्बाओ ।
पीणुन्नयसुपसाहियवरत्थणहरबन्धुरंगीओ ॥७६॥
तवलीतरंगभंगुरमज्झविरायन्तहाररम्माओ ।
मुहलरसणाहिणन्दियवित्थिण्णनियम्बबिम्बाओ ॥७७॥
तत्ततवणिज्जसन्निहमणहरथोरोरुजुयलकलियाओ ।
नहयन्दसमुज्जोवियकुम्मुन्नयचलणसोहाओ ॥७८॥

त्रिदशा अपि परमहृष्टा गण्डतलापतितकुण्डलाद्द्योताः ।
सुरतरुकुसुमाभरणा नमन्ति जयशब्दहलबोलम् ॥७२॥
अथ त दिव्यपरिजनं दृष्ट्वा लोचनेन सभ्रान्तः ।
दत्त हुत वा किं मया इदं फल यस्य दिव्यमिति ॥७३॥
कृत्वा च उपयोग दिव्येन अवधिना विशुद्धेन ।
ज्ञात्वा सुचरित ततः करोति अथ देवकरणीयम् ॥७४॥
शाश्वतजिनप्रतिमानां पूजा पूजार्हः महारम्याम् ।
पुस्तकरत्नं च तथा वाचयति मुहूर्तमात्र तु ॥७५॥
अथ त्रिदशसुन्दर्यः निर्जितमुखचन्द्रचन्द्रबिम्बा. ।
पीनोन्नतसुप्रसाधितवरस्तवनभरबन्धुराङ्गयः ॥७६॥
त्रिवलातरगभंगुरमध्यविराजद्धाररम्याः ।
मुखररसना (मेखला)ऽभिनन्दितविस्तीर्णनितम्बबिम्बाः ॥७७॥
तप्ततपनीयसंनिभमनोहरस्थूलोरुयुगलकलिताः ।
नखचन्द्रसमुद्द्योतितकूर्मोन्नतचरणशोभाः ॥७८॥

गाढपरिओसरसरियविलाससिंगारभावरम्माओ ।
पेच्छइ समूसियाओ वम्महसरसल्लियमणाओ ॥७९॥
किंकरगणे य घणियं अणुरत्ते दिव्यविहवसंपन्ने ।
तियसभवणाइं पेच्छह सामिय ! इय जंपिरे लट्ठे ॥८०॥
तियसवियलयाहिं समयं जयसद्दपणामियप्पभावाहिं ।
मोहणवियक्खणाहिं पेच्छइ तो तियसभवणाइं ॥८१॥
वित्थिण्णमरगयसिलासंचयसंजणियवियडपीढाइं ।
मणिरयणजडियमणहरफलिहामणिभित्तिजुत्ताइं ॥८२॥
वेरुलियखम्भविरइयविचित्तवरसालभंजियसयाइं ।
तह दिव्वखग्गचामरपज्जुत्तकुड्डन्तरालाइं ॥८३॥
वरविविहदेवच्छन्दयविरइयपल्लङ्कसनाहाइं ।
परिलम्बियपट्टंसुयमुत्तावलिजणियसोहाइं ॥८४॥
तियसतरुकुसुममण्डियकुट्टिमसंकन्तभमरवन्द्राइं ।
धूवघडियाउलाइं परलम्बियरयणदामाइं ॥८५॥

गाढपरितोषप्रसृतविलासशृंगारभावरम्याः ।
प्रेक्षते समुच्छ्रिता मन्मथशरशल्यितमनसः ॥७९॥
किंकरगणाश्च गाढम्-अनुरक्तान् दिव्यविभवसंपन्नान् ।
त्रिदशभवनानि प्रेक्षध्वं स्वामिक ! इति जल्पाकान् सुन्दरान् ॥८०॥
त्रिदशवनिताभिः समकं जयशब्दप्रणामितप्रभावाभिः ।
मोहनविचक्षणाभिः प्रेक्षते ततः त्रिदशभवनानि ॥८१॥
विस्तीर्णमरकतशिलासंचयसंजनितविकटपीठानि ।
मणिरत्नखचितमनोहरस्फटिकमणिभित्तियुक्तानि ॥८२॥
वैडूर्यस्तम्भविरचितविचित्रवरसालभञ्जकाशतानि ।
तथा दिव्यखड्गचामरप्रयुक्तकुड्यान्तरालानि ॥८३॥
वरविविधदेवच्छन्दकविरचितपल्यङ्कसनाथानि ।
परिलम्बितपट्टांशुकमुक्तावलिजनितशोभानि ॥८४॥
त्रिदशतरुकुसुममण्डितकुट्टिमसंक्रान्तभ्रमरवृन्दानि ।
धूपघटिकाकुलानि परिलम्बितरत्नदामानि ॥८५॥

अह तेसु तियससुन्दरिनिवहेण समं पुरा सुकयपुण्णो ।
चिट्ठइ परितुट्ठमणो भुञ्जन्तो दिव्ववरभोए ॥८६॥
भुञ्जिसु सो वि दिव्वे भोए चन्दाणणे विमाणम्मि
सुरसुन्दरीहि सद्धिं जहिच्छिए सागरमणूणं ॥८७॥

'समराइच्चकहाए' पढमो भवो समत्तो ।



अथ तेषु त्रिदशसुन्दरीनिवहेन समं पुरा सुकृतपूर्णः(पुण्य.) ।
तिष्ठति परितुष्टमना भुञ्जानो दिव्यवरभोगान् ॥८६॥
अभुक्त सोऽपि दिव्यान् भोगान् चन्द्रानने विमाने ।
सुरसुन्दरीभिः सार्धं यथेच्छितान् सागरमनूनम् ॥८७॥

याकिनीमहत्तरासूनु-परमगुणानुरागि-परमसत्यप्रिय-परमकारुणिक-
भगवत्-श्रीहरिभद्रसूरिवरविरचितायां 'समरादित्यकथायाम्'
प्रथमो भवः समाप्तः ।



सव्व च्चिय धन्नाणं होइ अवत्था परोवयाराए ।
बालससिस्स व उवओ जणस्स भुवणं पयासेइ ॥२॥

तओ जहासुहेण धम्मनिरयाए परोवयारसंपायणेण सुलद्धजम्मा-अइक्कन्ता नव मासा अद्धट्ठमराइंदिया । तओ पसत्थे तिहिकरण-मुहुत्तजोए सुकुमालपाणि-पायं सयलजणमणोरहेहिं देवी सिरिकन्ता दारयं पसूय त्ति । निवेइओ रन्नो सुहंकरियाभिहाणाए दासियाए पुत्तजम्मो । परितुट्ठो राया, दिन्नं च तीए पारिओसियं । काराविय च बन्धणमोयणाइयं करणिज्जं, पयत्तो य नयरे महाणन्दो, सोहाविया नयरिमग्गा, पसमाविओ रयो कुंकुमजलेणं, विप्पइण्णाइं रुण्टन्तमहुयरमणाहाइं विचित्तकुसुमाइं, कयाओ हट्टभवणसोहाओ, पहभवणेसु समाहयाइं मंगलतूराइं, सहरिसं स नच्चिय रायजणनागरेहिं ति । एवं च पइदिणं महामहन्तमाणन्दसोक्खमणुहवन्ताणं अइक्कन्तो पढममासो । पइट्ठावियं च से नामं बालस्स सुविणयदंसणनिमित्तेणं सीहो त्ति । सो य विसिट्ठं पुण्णफलमणुहवन्तो अभग्ग(ज्ज)माणपसरं पणईणं मणोरहेहिं पयाण पुण्णेण-

---

सर्वा एव धन्यानां भवति अवस्था परोपकाराय ।
बालशशिन इवोदयो जनस्य भुवनं प्रकाशयति ॥२॥

ततो यथासुखं धर्मनिरतया परोपकारसंपादनेन सुलब्धजन्मक-अतिक्रान्ता नव मासा अर्धाष्टमरात्रिदिवाः । ततः प्रशस्ते तिथिकरण-मुहूर्त-योगे सुकुमारपाणि-पादं सकलजनमनोरथैः देवी श्रीकान्ता दारक प्रसूतेति । निवेदितं राज्ञः शुभंकरिकाभिधानया दास्या पुत्रजन्म । परि-तुष्टो राजा, दत्तं च तस्यै पारितोषिकम् । कारितं च बन्धनमोचनादि करणीयम्, प्रवृत्तश्च नगरे महानन्दः, शोभिता नगरीमार्गाः, प्रशमि-रजः कुङ्कुमजलेन, विप्रकीर्णानि रणन्मधुकरसनाथानि विचित्रकुसुमानि कृताः हट्टभवनशोभाः, पथभवनेषु समाहतानि मङ्गलतूर्याणि, सहर्ष प्रतिदिनं महामहद् आनन्दसौख्यमनुभवतोरतिक्रान्तः प्रथममासः । प्रति-ष्ठापितं च तस्य नाम बालस्य स्वप्नकदर्शननिमित्तेन सिंह इति । स विशिष्टं पुण्यफलमनुभवन् अभग्न(ज्य)मानप्रसरं प्रणयिनां मनोरथैः प्रजानां पुण्येन-

जोव्वणमणुवमसोहं कलाकलावपरिवड्ढियच्छायं ।
जणमणनयणाणन्दं चन्दो व्व कमेण संपत्तो ॥३॥

अन्नया य संपत्तजोव्वणस्स कुसुमचावस्स वि हिययाणुकूलो तरुणजणहिययाणन्दयारी आगओ वसन्तसमओ। जत्थ सविसेसं कुसुममयकोदण्डमण्डलीसंधियसिलीमुहो रइं दरिसिऊण जणहिययाइं विंधिउं पयत्तो मयणो। अणन्तरं च तस्स चेव जयजयसद्दो व्व कोइलाहिं कओ कोलाहलो, विरहग्गिडज्झन्तपहियसंघायधूमपडलं व वियम्भियं सहयारेसु भमरजालं, गयवइयामसाणजलणेहिं विव पलित्तं दिसामण्डलं किंसुयकुसुमेहिं ति। तओ एवंविहे वसन्तसमए सो सीहकुमारो अणेयतरुणजणवेढिओ महाविभूईए केलिनिमित्तं गओ पमुइयपरहुयासद्दजणियतरुणीजणचित्तविब्भमुल्लोलं सुरहिमलयपवणपणच्चावियकुसुमभरभज्जमाणलयाविडविजालं मयमुइयमुहलमहुयरकुलोवगीयमाणरम्मसोहं वासहरं पिव वसन्तलच्छीए कीलासुन्दरं नाम उज्जाणं, पयत्तो य कीलिउं विचित्तकीलाहिं ति। दिट्ठा य तेण तत्थ उज्जाणे नाइदूरदेससंठिया कुसुमपरिमलसुयन्धवेणिमहुयरावली विद्दुमलयायम्बहत्थपल्लवा उव्वेल्लन्तकोमलतणु-

---

यौवनमनुपमशोभं कलाकलापपरिवर्धितच्छायम् ।
जनमनोनयनानन्दं चन्द्र इव क्रमेण संप्राप्तः ॥३॥

अन्यदा च संप्राप्तयौवनस्य कुसुमचापस्यापि हृदयानुकूलः तरुणजनहृदयानन्दकारी आगतो वसन्तसमयः यत्र सविशेषं कुसुममयकोदण्डमण्डलीसंधितशिलीमुखो रतिं दर्शयित्वा जनहृदयानि व्यद्धुं प्रवृत्तो मदनः। अनन्तरं च तस्यैव जयजयशब्द इव कोकिलाभिः कृतः कोलाहलः, विरहाग्निदह्यमानपथिकसंघातधूमपटलमिव विजृम्भितं सहकारेषु भ्रमरजालम्, गतपतिकाश्मशानज्वलनैरिव प्रदीप्तं दिग्मण्डलं किंशुककुसुमैरिति। तत एवंविधे वसन्तसमये स सिंहकुमारोऽनेकतरुणजनवेष्टितो महाविभूत्या केलिनिमित्तं गतः प्रमुदितपरभृतारवजनिततरुणीजनचित्तविभ्रमोल्लोलं सुरभिमलयपवनप्रनर्तितकुसुमभरभज्यमानलताविटपजालं मदमुदितमुखरमधुकरकुलोपगीयमानरम्यशोभं वासगृहमिव वसन्तलक्ष्म्याः क्रीडासुन्दरं नामोद्यानम्, प्रवृत्तश्च क्रीडितुं विचित्रक्रीडाभिरिति। दृष्टा च तेन तस्मिन्नुद्याने नातिदूरदेशसंस्थिता कुसुमपरिमलसुगन्धवेणीमधुकरावली विद्रुमलताताम्रहस्तपल्लवा ।

बाहुलया रम्भाखम्भमणहरोरुजुयला थलकमलारत्तकोमलचलणजुयला उज्जाणदेवय व्व उवलद्धिउपरियरिया नियमाउलगस्स चेव महासामन्तस्स लच्छिकन्ताभिहाणस्स धूया साहियणसहिया वसन्तकीलमणुहवन्ती कुसुमावली नाम कन्नगा। तओ स दट्ठूणमणन्तमयरामयरायदोसेण साहिलास पुलोइया। दिट्ठो य एसो वि तीए तओ विभागओ तस्स गमेण चेव सुरियसुरियमोसरन्तीए कुसुमावलीए। चिन्तियमिमीए—कह कीलासुन्दरुज्जाणस्स रम्मयाए भययं मयरद्धो वि एत्थेव कीलासुहमणुहवइ त्ति। एयन्तरम्मि भणिया पियङ्कराभिहाणाए चेडीए। सामिणि! अलं अन्नसीसरणेण, एसो खु राइणो पुरिसदत्तस्स पुत्तो गुरू चेव रिउच्छागरभसमयो सीहो नाम कुमारो त्ति। पढमागमणगरुयरिग्गहं च सामिणि एयमोगवकमाणि पेच्छिय मा अवक्खित्तं ति संभाविस्सइ। ता चिट्ठियउ इह, कीरउ इमस्स महाणुभावस्स रायकोविओ उवयारो। तओ हरिसवसपुलइयंगीए सविब्भमं साहिलासं च अवलोइऊण कुमारं भणियं इमीए। हला! पियंकरिए! तुमं चेवत्थ कुसला, ता निवेएहि, किं मए एयस्स कायव्वं ति। तीए भणियं—सामिणि!

बाहुलता रम्भास्तम्भमनोहरोरुयुगला स्थलकमलारक्तकोमलचरणयुगला उद्यानदेवता इव उपलब्धपरिसरिता निजमातुलकस्यैव महासामन्तस्य लक्ष्मीकान्ताभिधानस्य दुहिता सखीजनसहिता वसन्तक्रीडामनुभवन्ती कुसुमावली नाम कन्यका। ततस्तां दृष्ट्वा अनन्यमकरध्वजरागदोषेण साभिलाषं दृष्टा। दृष्टश्च एषोऽपि तया ततो विभागात् तस्य गमेनैव [illegible] कुसुमावल्या। चिन्तितमनया—कथं क्रीडासुन्दरोद्यानस्य रम्यतया भगवान् मकरध्वजोऽपि अत्रैव क्रीडासुखमनुभवतीति। अत्रान्तरे भणिता प्रियङ्कराभिधानया चेट्या। स्वामिनि! अलं अन्य[illegible] (अपसरणेन) एष खलु राज्ञः पुरुषदत्तस्य पुत्रः [illegible] रिपुगजकुम्भस्थलसिंहः सिंहो नाम कुमार इति। प्रथमागमनगौरवादि[illegible] स्वामिनि [illegible] (उपचारकर्मणी) दृष्ट्वा मा अदाक्षिण्यमिति सम्भावयिष्यति। तस्मात् तिष्ठतु इह, क्रियतामस्य महानुभावस्य राज[illegible] उपचारः। ततो हर्षवशपुलकिताङ्ग्या सविभ्रमं साभिलाषं च अवलोक्य कुमारं भणितमनया। सखि! प्रियङ्करिके! त्वमेवात्र कुशला, तस्मात् निवेदय, किं मया एतस्य कर्तव्यमिति। तया भणितम्—स्वामिनि!

पढमागयाओ अम्हे; ता अणंतरावोयउ आगमणपरिग्गहेणं इमं पएस एसो, कीरउ से तरुणजणाण सव्वप्पयावबीयभूयं सागयं, दिज्जउ से सहत्थेण कालोचियं सरसकुसुमाभरणसणाहं तम्बोलं ति । कुसुमावलीए भणियं-हला ! न सक्कुणोमि अइसज्झसेण इमं एयस्स काउं; ता तुम चेव एयं कालोचियं करेहि त्ति । एयन्तरम्मि य पत्तो तमुद्देसं कुमारो । तओ सज्झिऊण आसणं भणिओ पियङ्करोए-'सागयं रइविरहियस्स कुसुमचावस्स, इह उवविसउ महाणुभावो' । तओ सो सपरिओसं ईसि विहसिऊण 'आसि य अहं एत्तियं कालं रइविरहिओ, न उण संपयं' ति भणिऊणमुवविट्ठो । उवणोयं च पियङ्करियाए माहवीकुसुममालासणाहं कलधोयमयतलियाए तम्बोलं, गहियं च तेण । एयन्तरम्मि य आगओ कुसुमावलीजणणीए आहवणनिमित्तं पेसिओ समरायणो नाम कन्नन्तेउरमहल्लगो । दिट्ठा य तेण साणुरायं अपेच्छन्तमद्धच्छिपेच्छिएहिं कुमारमवलोयन्ती कुसुमावली । चिन्तियं च णेण । समागओ मयणो रईए, जइ विही अणुवत्तिस्सइ । तओ पच्चासन्नमागन्तूण कुमारमहिनन्दिय भणियं समरायणेण । वच्छे ! कुसुमावलि ! देवी मुत्तावली

प्रथमागता वय; तस्माद् अनन्तरापेततामागमनपरिग्रहेण इम प्रदेशम् एषः, क्रियता तस्य तरुणजनानां सर्वप्रतापबीजभूतं स्वागतम्, दीयतां तस्य स्वहस्तेन कालोचित सरसकुसुमाभरणसनाथ ताम्बूलमिति। कुसुमावल्या भणितम्—सखि ! न शक्नोमि अतिसाध्वसेनेदमेतस्य कर्तुम्; तस्मात् त्वमेवात्र कालोचित कुरु इति । अत्रान्तरे च प्राप्तस्तमुद्देशं कुमारः । ततः 'सज्जित्वाऽऽसनं भणित. प्रियङ्कर्या—'स्वागत रतिविरहितस्य कुसुमचापस्य, इह उपविशतु महानुभावः' । ततः स सपरितोषं ईषद् विहस्य 'आसं चाहम् एतावन्त काल रतिविरहितो, न पुनः साम्प्रतम्' इति भणित्वोपविष्टः । उपनीत च प्रियङ्कर्या माधवीकुसुममालासनाथं कलधौतमयतलिकायां (सुवर्णमयभाजनविशेषे) ताम्बूलम्, गृहीत च तेन । अत्रान्तरे च आगतः कुसुमावलीजनन्या आह्वाननिमित्त प्रेषितः समरायणो नाम कन्यान्तःपुरमहत्क: (कञ्चुकी) । दृष्टा च तेन सानुरागमपश्यन्तमर्द्धाक्षिप्रेक्षितैः कुमारमवलोकयन्ती कुसुमावली चिन्तितं च तेन । समागतो मदनो रत्या, यदि विधिरनुवर्तिष्यते । ततः प्रत्यासन्नमागत्य कुमारमभिनन्द्य भणितं समरायणेन । वत्से ! कुसुमावलि ! देवी मुक्तावली

आणवेइ 'अइचिरं कीलिअं, मा सरीरखेओ ते भविस्सइ; ता लहुं आगन्तव्वं' ति। तओ सा 'जं अम्मा आणवेइ' त्ति भणिऊण ससंभमं कुमारमवलोअन्ती निग्गया उज्जाणाओ, पत्ता य कुमारं चेव चिन्तन्ती निययगेहं। तओ देविं पणमिऊण आरूढा वलहिअं। तओ कुमारं चेवाणुसरन्ती विमुक्कदीहनीसासा समुवविट्ठा पल्लङ्कगवक्खिआ; विसज्जिओ य तीए समाणिउं सहीसत्थो।

अह सेविउं पयत्ता सेज्जं अणवरयमुक्कनीसासा।
मयणसरसल्लियमणा नियकज्जनियत्तवावारा ॥४॥
नालिहइ चित्तयम्मं न यंऽगरायं करेइ करणिज्जं।
नाहिलसइ आहारं अहिणन्दइ नेय नियभवणं ॥५॥
चिरपरिचियं पि पाढेइ नेय सुय-सारियाण संघायं।
कीलावेइ मणहरे घट्टुले न य भवणकलहंसे ॥६॥
विहरइ न हम्मियतले मज्जइ न य गेहदीहियाए उ।
सारेइ नेय वीणं पत्तच्छेज्जं पि न करेइ ॥७॥

आज्ञापयति 'अतिचिरं क्रीडितं, मा शरीरखेदो ते भविष्यति; तस्मात् लघु आगन्तव्यम्' इति। ततः 'यदम्बा आज्ञापयति' इति भणित्वा ससम्भ्रमं कुमारमवलोकयन्ती निर्गता उद्यानात्, प्राप्ता च कुमारमेव चिन्तयन्ती निजकगेहम्। ततो देवीं प्रणम्यारूढा वलभिकाम्। ततः कुमारमेवानुस्मरन्ती विमुक्तदीर्घनिःश्वासा समुपविष्टा पल्यङ्कगवाक्षे; विसर्जितश्च तया संमान्य सखीसार्थः।

अथ सेवितुं प्रवृत्ता शय्यां अनवरतमुक्तनिःश्वासा।
मदनशरशल्यितमनाः निजकार्यनिवृत्तव्यापारा ॥४॥
नालिखति चित्रकर्म न चाङ्गरागं करोति करणीयम्।
नाभिलषति आहारम् अभिनन्दति नैव निजभवनम् ॥५॥
चिरपरिचितमपि पाठयति नैव शुक-सारिकाणां संघातम्।
क्रीडयति मनोहरान् घट्टुलान् न च भवनकलहंसान् ॥६॥
विहरति न हर्म्यतले मज्जति न च गेहदीर्घिकायां तु।
सारयति नैव वीणां पत्रच्छेद्यमपि न करोति ॥७॥

न य कन्दुएण कीलइ बहु मन्नइ नेय भूसणकलावं ।
हरिणि व्व जूहभट्ठा अणुसरमाणी तयं चेव ॥८॥
खणरुद्धनयणपसरा अवसा खणधरियदीहनीसासा ।
खणरुद्धदेहचेट्ठा खणजंपिरवाय(मिलाण)मुहकमला ॥९॥
एत्थन्तरम्मि तीसे धावीए नियसुसा समाणत्ता ।
नामेण मयणलेहा बीयं हियमं व जा तीए ॥१०॥

जहा–कीलासुन्दरुज्जाणगमणकीलाए दढं परिस्सन्ता कुसुमावली, लहुं च तीए अज्ज विसज्जियाओ सहीओ; ता गिण्हिऊण पविरलजलसित्तं तालियण्टं बन्धेऊण कइवयकप्पूरवीडगाणि उवसप्पाहि एयं ति । समाएसाणन्तरं च संपाइयजणणिवयणा रसन्तमणिनेउरा पत्ता कुसुमावलीसमीवं सहरिसा मयणलेहा । दिट्ठा य तीए वरसयणीयमज्झगया गुरुचिन्ताभरनीसहं अंगं वहन्ती कुसुमावलि त्ति । तओ अणालवणमुणियसुन्नभावाए विन्नत्ता मयणलेहाए । सामिणि ! किमेवमुव्विग्गा विय लक्खीयसि, किन्न संपन्ना ते गुरुदेवयाणं पूया ? किन्न सम्माणियाओ सहीओ ?

न च कन्दुकेन क्रीडति बहु मन्यते नैव भूषणकलापम् ।
हरिणीव यूथभ्रष्टा अनुस्मरन्ती त चैव ॥८॥
क्षणरुद्धनयनप्रसरा अवशा क्षणधृतदीर्घनिःश्वासा ।
क्षणरुद्धदेहचेष्टा क्षणकथयितृम्लानमुखकमला ॥९॥
अत्रान्तरे तस्या धात्र्या निजसुता समाज्ञप्ता ।
नाम्ना मदनलेखा द्वितीय हृदय वा या तस्याः ॥१०॥

यथा–क्रीडासुन्दरोद्यानगमनक्रीडया दृढ परिश्रान्ता कुसुमावली, लघु च तयाऽद्य विसर्जिता. सख्यः; तस्मात् गृहीत्वा प्रविरलजलसिक्त तालवृन्तं बद्ध्वा कतिपयकर्पूरवीटकानि उपसर्प एतामिति । समादेशानन्तरं च सपादितजननीवचना रसन्मणिनूपुरा प्राप्ता कुसुमावलीसमीपं सहर्षा मदनलेखा । दृष्टा च तया वरशनीयमध्यगता गुरुचिन्ताभरनिःसहमङ्ग वहन्ती कुसुमावली इति । ततोऽनालपनज्ञातशून्यभावया विज्ञप्ता मदनलेखया । स्वामिनि ! किमेव उद्विग्ना इव लक्ष्यसे, किं न सपन्ना ते गुरुजनदेवतानां पूजा ? किं न संमानिताः सख्यः ?

किन्न कया अत्थिजणपडिवत्ती ? किन्न गहिओ कलाकलावो ? किन्न परितुट्ठो ते गुरुयणो ? किन्न विणीओ ते परियारो ? किन्नाणुरत्तो सहीसत्थो ? किन्न सजायइ ते समीहियं ति ? आणवेउ सामिणी, जं अकहणीयं न होइ। तओ कुसुमावलीए ससंभमं सहत्थेण अलए संजमेऊण भणियं। अत्थि पियसहीए वि नाम अकहणीयं। ता सुण कुसुमावचय-परिस्समेण मे जरकला विय सवुत्ता, तज्जणिओ य परिपीडेइ मं परि-यावाणलो, तन्निमित्ता य वियम्भइ अंगेसु अरई, न उण किंचि अन्नं उव्वेयकारणं लक्खेमि त्ति। मयणलेहाए भणियं-जइ एवं ता गेण्ह कप्पूरवीडगाणि, परिवीएमि ते कीलासेयनीसहं अंगं। कुसुमावलीए भणियं-किं मे एयावत्थं गयाए कप्पूरवीडएहिं, अलं च परिवीइएण। एहि गच्छामो बालकयलीहरयं। तत्थ सज्जीकरेहि मे अत्थुरणं, जेण तहिं गयाए अवेइ एसो परियावाणलो त्ति। तओ मयणलेहाए भणियं। जं सामिणी आणवेइ। गयाओ य समवणुज्जाणतिलयभूयं बालकयली-हरयं। सज्जीकयं च से मयणलेहाए सुन्दरमत्थुरणं। निवन्ना य

किं न कृता अर्थिजनप्रतिपत्तिः ? किं न गृहीतः कलाकलापः ? किं न परि-तुष्टस्ते गुरुजनः ? किं न विनीतस्ते परिवारः ? किं नानुरक्तः सखी-सार्थः ? किं न सजायते ते समीहितम्-इति। आज्ञापयतु स्वामिनी, यदकथनीयं न भवति। ततः कुसुमावल्या ससंभ्रमं स्वहस्तेनालकान् संयम्य भणितम्। अस्ति प्रियसख्या अपि नाम अकथनीयम्। तावत् शृणु-कुसुमावचायपरिश्रमेण मे ज्वरकला इव संवृत्ता, तज्जनितश्च परिपीडयति मां परितापानलः, तन्निमित्ता च विजृम्भते अङ्गेषु अरतिः, न पुनः किञ्चिद् अन्यद् उद्वेगकारणं लक्षयामि इति। मदनलेखया भणितम्-यद्येवं, तस्माद् गृहाण तावत् कर्पूरवीटकानि, परिवीजयामि ते क्रीडास्वेदनिःसहमङ्गम्। कुसुमावल्या भणितम्-किं मे एतदवस्थां गतायाः कर्पूरवीटकैः, अलं च परिवीजितेन। एहि गच्छामो बालकदलीगृहकम्। तत्र सज्जीकुरु मे आस्तरणम्, येन तस्मिन् गताया अपैति एष परितापानल इति। ततो मदनलेखया भणितम्-यत् स्वामिनी आज्ञापयति। गताश्च स्वभवनोद्यानतिलकभूतं बालकदलीगृहकम्, सज्जीकृतं च तस्या मदनलेखया सुन्दरमास्तरणम्। निपन्ना (सुप्ता)

य कुसुमावली । समप्पियाणि से कप्पूरवीडयाणि । वीसम्भकहालयज-
ामपरिओसं च तालियण्टेण वीइउमारद्धा मयणलेहा । कुसुमावली पुण
ण्डदिससुन्नहुंकारा निहुयमुक्कनीसासं तं चेव हियसल्लभूयं पुणो
ुसरन्ती चिट्ठइ । तओ मयणलेहाए चिन्तियं–किं पुण इमीए इमस्स
न्नहावियारभावस्स कारणं ति । पुच्छिया य तीए । सामिणि ! पत्ते
म्मि तरुणजणविब्भमुल्लोलसागरे वसन्तसमए किं तुमए अज्ज कीला-
दरं गच्छन्तीए गयाए वा तत्थ अच्छरियं दिट्ठं ति । तओ मयणा-
ासहावओ चेव वामत्तणेणं मयणस्स अणभिप्पेयं पि भणियं कुसुमा-
ीए–सहि ! दिट्ठो मए कीलासुन्दरुज्जाणम्मि रइविरहिओ विव
ुमाउहो, रोहिणीविओइओ विव मयलञ्छणो, परिचत्तमइरो विव
मपालो, सचीविउत्तो विव पुरन्दरो, तवियतवणिज्जसरिसवण्णो नह-
हमंजरियचलणंगुलिविभाओ, सुनिगूढसिरासंधाणो अणुवद्धपिण्डि-
ाओ, मणहरमउरजंघो, अन्तोनिगूढजाणुसंधाणो, मयरवयणागार-
ुमत्थओ, अइसुन्दरसुसंगयोरुजुयलो, विउलकडियडाभोओ, मणहर-
ुमज्झभाओ, पीणवित्थिण्णवच्छत्थलो, उन्नयसिहरपरियट्टबाहुजुयलो,

र कुसुमावली । समर्पितानि च तस्याः कर्पूरवीटकानि । विश्रम्भ-
ालापजनितपरितोषा च तालवृन्तेन वीजितुमारब्धा मदनलेखा ।
ुमावली पुनरकाण्डदत्तशून्यहुंकारा निभृतमुक्तनिःश्वासं च तमेव
दयशल्यभूतं पुनः पुनरनुस्मरन्ती तिष्ठति । ततो मदनलेखया चिन्ति-
्–किं पुनरस्या अस्य अन्यथाविकारभावस्य कारणम्–इति । पृष्टा
तया । स्वामिनि ! प्राप्तेऽस्मिन् तरुणजनविभ्रमोल्लोलसागरे वसन्त-
मये किं त्वया अद्य क्रीडासुन्दरं गच्छन्त्या गतया वा तत्राश्चर्यं दृष्टम्–
ते । ततो मदनावस्थास्वभावत एव वामत्वेन मदनस्य अनभिप्रेतमपि
णित कुसुमावल्या–सखि ! दृष्टो मया क्रीडासुन्दरोद्याने रतिविरहित
व कुसुमायुधः, रोहिणीवियोगित इव मृगलाञ्छनः, परित्यक्तमदिर
व कामपालः, शचीवियुक्त इव पुरन्दरः, तप्ततपनीयसदृशवर्णो नख-
पूखमञ्जरितचरणाङ्गुलीविभागः, सुनिगूढशिरासन्धानः अनुबद्धपिण्डि-
ाभागः, मनोहरमुकुरजङ्घः, अन्तर्निगूढजानुसन्धानः, मकरवदनाकार-
ानुमस्तकः, अतिसुन्दरसुसङ्गतोरुयुगलः, विपुलकटीतटाभोगः, मनोहर-
नुमध्यभागः, पीनविस्तीर्णवक्षःस्थलः, उन्नतशिखरपरिवर्तुलबाहुयुगलः,

किल महारायपुत्तेण सीहकुमारेण आगन्तव्वं' ति। तओ एयमायण्णिय 'ज देवी आणवेइ' त्ति सहरिसं गया दन्तवलहियं। इओ य सज्जियं भवणुज्जाणं। तओ य सायरं उवणिमन्तिऊण कुसुमावलीदंसणूसुयमाए अविग्घेपागमणो चेव आणीओ सीहकुमारो। कओ से भोयणसंपायणाइओ उवयारो। पच्छा पविट्ठो भवणुज्जाणं। दिट्ठो य तेण गिहसारियारवमुहलो दक्खालयामण्डवो नववरो विव आरत्तपल्लवनियसणोवसोहिओ असोयनियहो, घडुलकलहंसचालियकमलो य भवणदीहियानलिणिवसण्डो महुयरपरहुयारावमुहलो य सहयारनिकुरम्बो कुसुममहुपाणमुइयभिरभमरालिपरियरिओ य माहवीलयामण्डवो, नागवल्लीनिवहसमालिंगिओ य पूगफलीपयरो सुयन्धपरिमलावासियदिसामण्डलो य कुंकुमपोट्टनियरो, महुरमारुयन्दोलिरो य लोयणसुहओ कयलीहरओ त्ति। ठिओ य माहवीलयामण्डवम्मि।

एयन्तरम्मि य मयणलेहाए भणिया कुसुमावली। सामिणि! महाणुभावाणं सुयणभावाओ पुव्वनिव्वत्तिओ चेय सम्बन्धो होइ। सो चेव उचियसम्भासण-फुल्ल-तम्बोलप्पयाणाइणा पयासिज्जइ त्ति। ता पेसेहि

किल महाराजपुत्रेण सिंहकुमारेण आगन्तव्यम्' इति ततः एतमाकर्ण्य 'यद् देवी आज्ञापयति' इति सहर्षं गता दन्तवलभिकाम्। इतश्च सज्जितं भवनोद्यानम्। ततः सादरमुपनिमन्त्र्य कुसुमावलीदर्शनोत्सुकतयाऽविघ्नेनागमन एव आनीतः सिंहकुमारः। कृतः तस्य भोजनसम्पादनादिक उपचारः। पश्चात् प्रविष्टो भवनोद्यानम्। दृष्टश्च तेन गृहसारिकारावमुखरो द्राक्षालतामण्डपो नववर इव आरक्तपल्लवनिवसनोपशोभितोऽशोकनिवहः, चटुलकलहंसचालितकमलश्च भवनदीर्घिकानलिनीखण्डः, मधुकरपरभृतारावमुखरश्च सहकारनिकुरम्बः कुसुममधुपानमुदितभ्रमरावलिपरिवारितश्च माधवीलतामण्डपः, नागवल्लीनिवहसमालिङ्गितश्च पूगफलीप्रकरः, सुगन्धपरिमलावासितदिङ्मण्डलश्च कुङ्कुमगुल्मनिकरः, मधुरमारुतान्दोलितश्च लोचनसुभगः कदलीगृहकम् इति। स्थितश्च माधवीलतामण्डपे॥

अत्रान्तरे च मदनलेखया भणिता कुसुमावली स्वामिनि! महानुभावानां सुजनभावात् पूर्वनिर्वर्तित एव सम्बन्धो भवति। स एव उचितसम्भाषण-पुष्प-ताम्बूलप्रदानादिना प्रकाश्यते इति। तस्मात् प्रेषय

से सरीरपउत्तिपुच्छणापुव्वयं एयम्मि काले असंभावणिज्जभावं सहत्थारोवियपियंगुमंजरीकण्णावयंसं कोमलनागवल्लीदलसणाहं च तम्बोलं अहिणवुप्पन्नाणि य कक्कोलयफलाइं नियकलाकोसल्लपिसुणगं च किंचि तहाक्वं अच्छेरयभूयं ति। तओ कुसुमावलीए भणियं–जं पियसहि! से पडिहायइ, तं सयं चेव अणुचिट्ठउ पियसही। तओ मयणलेहाए वण्णियासमुग्गयं चित्तवट्टियं च उवणेऊण भणिया कुसुमावली। सामिणि! चित्ताणुराई खु सो जणो; ता आलिहउ एत्थ सामिणी समाणवरहंसयविउत्तं तद्दंसणूसुयं च रायहंसियं ति। तती मुणियमयणलेहाभिप्पायाए ईसि विहसिऊण आलिहिया तीए जहोवइट्ठा रायहंसिया। मयणलेहाए वि य अवत्थासूयगं से लिहियं इमं उवरिं दुवईखण्डं। जहा–

अहिणवनेहनिब्भरुक्कण्ठियनिरुपच्छायवयणिया।
सरसमुणालवलयगासम्मि वि सइ मन्दाहिलासिया॥११॥
दाहिणपवणविहुयकमलायरए वि अदिन्नदिट्ठिया।
पियसंगमकए न रत्तम्मइ कह वररायहंसिया॥१२॥

तस्य शरीरप्रवृत्तिपृच्छनापूर्वकमेतस्मिन् कालेऽसंभावनीयभावं स्वहस्तारोपितप्रियङ्गुमञ्जरीकर्णावतंसं कोमलनागवल्लीदलसनाथं च ताम्बूलमभिनवोत्पन्नानि च कक्कोलकफलानि निजकलाकौशल्यपिशुनकं किञ्चित् तथारूपमाश्चर्यभूतमिति। ततः कुसुमावल्या भणितम्–यत् प्रियसखि! तव प्रतिभाति, तत् स्वयमेवानुतिष्ठतु प्रियसखी। ततो मदनलेखया वर्णिकासमुद्गकं चित्रवर्तिका चोपनीय भणिता कुसुमावली। स्वामिनि! चित्रानुरागी खलु स जनः, तत् आलिखतु अत्र स्वामिनी समानवरहंसवियुक्ता तद्दर्शनोत्सुका च राजहंसिकामिति। ततो ज्ञातमदनलेखाभिप्रायया ईषद् विहस्य आलिखिता तया यथोपदिष्टा राजहंसिका। मदनलेखयाऽपि चावस्थासूचकं तस्य लिखितमिदमुपरि द्विपदीखण्डम्। यथा–

अभिनवस्नेहनिर्भरोत्कण्ठितनिरुपच्छायवदनीया।
सरसमृणालवलयग्रासेऽपि सदा मन्दाभिलाषिका॥११॥
दक्षिणपवनविधुतकमलाकरेऽपि अदत्तदृष्टिका।
प्रियसङ्गमकृते नोन्माद्यति कथं वरराजहंसिका?॥१२॥

अह किं पुण दंसणाओ चेव मुणिज्जमाणा वि अवत्था इमेण पुणरुत्तो-वन्नासमेत्तेण दुवईखण्डेण सूइया। मयणलेहाए भणियं–महारायउत्त! न एसा सामिणीए सूइया, किं तु एयमालिहियं पेच्छिऊण मए कयं इमं दुवईखण्ड ति। कुमारेण भणिय–जुज्जइ पढमलिहिय दट्ठूण सहियाणं अवत्थाणुवायकरणं ति। मग्गिया णेण पत्तछेज्जकत्तरी। कप्पिओ य नागवल्लीदले रायहंसियावत्थाणुरूवो वररायहंसओ, फुडक्खरा य एसा हिययसंवायणनिमित्तं गाह त्ति जहा–

मरिऊण न संपत्तो पियाए कलिऊण एस वरहंसो।
धारेइ कह वि पाणे अणुकूलनिमित्तजोएण ॥१३॥

तओ नियसिरोहराओ ओसारिऊण दिन्ना इमीए तिसमुद्दसारभूया पारिओसियं मुत्तावली, समप्पियं च नागवल्लीदलं। ईसि विहसिऊण भणिया य एसा, वत्तव्वा तुमए कुसुमावली। जहा–अत्थि अम्हाण दढं चित्ताणुराओ, मुणियं तुमए इमं, विन्नायं च अम्हेहिं पि ते चित्तकोसल्लं; ता पुणो एवं चेव चित्ताणुराइणो जणस्स नियचित्तकोसल्लाइसएणं

अथ किं पुनर्दर्शनादेव ज्ञायमानापि अवस्था अनेन पुनरुक्तोपन्यासमात्रेण द्विपदीखण्डेन सूचिता। मदनलेखया भणितम्–महाराजपुत्र! न एषा स्वामिन्या सूचिता, किं तु एतदालिखितं दृष्ट्वा मया कृतमिदं द्विपदीखण्डमिति। कुमारेण भणितम्–युज्यते प्रथमलिखितं दृष्ट्वा सहृदयानामवस्थानुवादकरणमिति। मार्गिता तेन पत्रच्छेद्यकर्तरी। कल्पितश्च नागवल्लीदले राजहंसिकाऽवस्थानुरूपो वरराजहंसः, स्फुटाक्षरा चैषा हृदयसंवादननिमित्तं गाथेति। यथा–

मृत्वा न सम्प्राप्तिः प्रियायाः कलयित्वा एष वरहंसः।
धारयति कथमपि प्राणान् अनुकूलनिमित्तयोगेन ॥१३॥

ततो निजशिरोधराद् अपसार्य दत्ताऽस्यास्त्रिसमुद्रसारभूता पारितोषिकं मुक्तावली, समर्पितं च नागवल्लीदलम्। ईषद् विहस्य भणिता चैषा, वक्तव्या त्वया कुसुमावली। यथा–अस्ति अस्माकं दृढं चित्रानुरागः ज्ञातं त्वयेदम्, विज्ञातं चास्माभिरपि ते चित्रकौशल्यम्। तस्मात् पुनः पुनरेवमेव चित्रानुरागिणो जनस्य निजचित्रकौशल्यातिशयेन

आणन्दं करिज्जासि त्ति । तओ 'जं महारायउत्तो आणवेइ' त्ति भणि-ऊण पणामपुव्वयं निग्गया मयणलेहा, पत्ता य कुसुमावलीसमीवं। आइक्खिओ तीए जहावत्तो वुत्तन्तो, समप्पियं नागवल्लीदलं, दिट्ठो य कुसुमावलीए वरहंसओ, वाइया य गाहा, परितुट्ठा हियएणं ॥

एवं च पइदिणं मयणसरगोयरावडियजणमणाणन्दयारीहिं विब्भ-हरी-चक्कवाय-महुयरपमुहचित्तपओयपेसणेहिं पवड्ढमाणाणुरायाणं वोलेन्ति थेवदियहा, ताव राइणो पुरिसदत्तस्स पत्थणामहग्घं सिरि-लच्छिकन्तनरवइणा कुमारसीहस्स कुसुमावलि त्ति । निवेइयं च एवं पियंकरियाए कुसुमावलीए । जहा—

दिन्ना सीहकुमारस्स सुयणु सिट्ठं य बहलपुलयाए ।
अंगेसु परिओसो मयणो व्व वियम्भिओ तिस्सा ॥१४॥

एत्थन्तरंमि य अतिय निवहसमोहियबमहिमविसदविणजायं वज्जन्त-मंगलतूररवापूरियदिसामण्डलं नच्चन्तवेसविलयायणुप्पंकवढसोहं सयल-जणमणाणन्दयारयं दोहि य नरिन्देहिं कयं वद्धावणयं ति ।

आनन्दं करिष्यसीति । ततो 'यद् महाराजपुत्र आज्ञापयति' इति भणित्वा प्रणामपूर्वकं निर्गता मदनलेखा, प्राप्ता च कुसुमावलीसमीपम् । आख्यातस्तया यथावृत्तो वृत्तान्तः, समर्पितं नागवल्लीदलम् । दृष्टश्च कुसुमावल्या वरहंसः, वाचिता च गाथा, परितुष्टा हृदयेन ॥

एवं च प्रतिदिनं मदनशरगोचरापतितजनमनआनन्दकारिविद्-घरी-चक्रवाक-मधुकरप्रमुखचित्रप्रयोगप्रेषणैः प्रवर्धमानानुरागयोरति-क्रामन्ति स्तोकदिवसाः, तावद् राज्ञः पुरुषदत्तस्य प्रार्थनामहार्घं दत्ता लक्ष्मीकान्तनरपतिना कुमारसिंहस्य कुसुमावलीति । निवेदितं चैतत् प्रियङ्कर्या कुसुमावल्याः । यथा—

दत्ता सिंहकुमारस्य सुतनो ! शिष्टं च बहलपुलकायाः ।
अङ्गेषु परितोषो मदन इव विजृम्भितस्तस्याः ॥१४॥

अत्रान्तरे च अतिनिर्भरमोहिताभ्यधिकरत्नद्रविणजातं वाद्य-मानमङ्गलतूर्यरवापूरितदिग्मण्डलं नृत्यद्वेश्यावनिताजनोत्पन्न (समुद्भूत) बहुशोभं सकलजनमनआनन्दकारकं द्वाभ्यां च नरेन्द्राभ्यां कृतं वर्धा-पनकमिति ।

काऊण य तेहिं तओ वारिज्जसुहो गणाविओ दियहो।
घोसावियं पुणो वि य अहिच्छियादाणमच्चत्थं ॥१५॥
पत्तंमि य तंमि दिणे तत्तो कुसुमावली पसत्थंमि।
बन्धुजुवईहिं सहिया पमक्खणकए मुहुत्तंमि ॥१६॥
आसन्दियाए मणहरधवलदुगुल्लोत्थयाए रम्माए।
ठविया पुव्वाभिमुही रंगावलिचाउरन्तंमि ॥१७॥
मणियपट्टम्मि निमिया चलणा संकन्तरायसोहिल्ले।
तप्फंससुहासायणरसपल्लविए व्व विमलम्मि ॥१८॥
परुछीउत्तेण य नहमऊहपडिवन्नसलिलसङ्केण।
पक्खालिउमणवज्जं निम्मवियं तीए नहयम्मं ॥१९॥
रत्तंसुयपरिहाणा अहियं वियसन्तवयणसयवत्ता।
आसन्नरविसमागमपुव्वदिसिवहु व्व आरत्ता ॥२०॥
दुव्वंकुर-दहि-अक्खयवावडहत्थाहिं रत्तवसणाहिं।
जुवईहिं अविहवाहिं विहिणा य पमक्खिया ताहिं ॥२१॥

कृत्वा च ताभ्यां ततो विवाहशुभो गणितो दिवसः।
घोषितं पुनरपि च यथेप्सितदानमत्यर्थम् ॥१५॥
प्राप्ते च तस्मिन् दिने ततः कुसुमावली प्रशस्ते।
बन्धुयुवतिभिः सहिता प्रम्रक्षणकृते मुहूर्ते ॥१६॥
आसन्दिकाया मनोहरधवलदुकूलावस्तृताया रम्यायाम्।
स्थापिता पूर्वाभिमुखी रङ्गावलीचातुरन्ते ॥१७॥
मणिपट्टके स्थापितौ चरणौ सङ्क्रान्तरागशोभावति।
तत्स्पर्शसुखास्वादनरसपल्लविते इव विमले ॥१८॥
नापितपुत्रेण च नखमयूखप्रतिपन्नसलिलशङ्केन।
प्रक्षाल्यानवद्यं निर्मितं तस्या नखकर्म ॥१९॥
रक्तांशुकपरिधाना अधिकं विकसद्वदनशतपत्रा।
आसन्नरविसमागमपूर्वदिग्वधूरिवारक्ता ॥२०॥
दूर्वाङ्कुर-दध्यक्षतव्यापृतहस्ताभी रक्तवसनाभिः।
युवतिभिरविधवाभिर्विधिना च प्रम्रक्षिता ताभिः ॥२१॥

पुप्फ-फलोदयभरिएहिँ कणयकलसेहिँ ण्हाविया नवरं ।
ऊमिणिया सुपसत्थं सव्वंगं पुण्णवत्तेणं ॥२२॥
दिन्ना य अक्खया से गुरूहिँ परिओसबहलपुलएहिं ।
सव्वोसहिगन्धड्ढे घणकेसे उत्तिमंगम्मि ॥२३॥
तत्तो वि य ससिवयणा नवरं पसाहिउं समाढत्ता ।
जावयरसेण पढमं मणहरचलणा कया तीसे ॥२४॥
नियकन्तिसच्छहेण य कुंकुमराएण जंघियाओ से ।
पीणे थणकलसजुए अभिलिहिया पत्तलेहाओ ॥२५॥
कालेयमीसचन्दणरसेण निम्मज्जियं मुहकमलं ।
दइओ व्व साणुराओ कओ य से समयणो अहरो ॥२६॥
नवसरयकालवियसियकुवलयदलकन्तिरायसोहिल्लं ।
कयमुज्जलं पि कज्जलयरञ्जियं लोयणाण जुयं ॥२७॥
महुमासलच्छिया इव उम्मिल्लो से मुहम्मि वरतिलओ ।
उवरिरइयालयावलिअलिउलवलएहि परियरिओ ॥२८॥

पुष्प-फलोदयभृतैः कनककलशैः स्नपिता नवरम् ।
प्रोञ्छिता सुप्रशस्तं सर्वाङ्गं पुण्यवस्त्रेण ॥२२॥
दत्ता चाक्षतास्तस्या गुरुभिः परितोषबहलपुलकैः ।
सर्वौषधिगन्धाढ्ये घनकेशे उत्तमाङ्गे ॥२३॥
ततोऽपि च शशिवदना नवरं प्रसाधयितुं समारब्धा ।
यावकरसेन प्रथमं मनोहरचरणौ कृतौ तस्याः ॥२४॥
निजकान्तिसच्छायेन च कुङ्कुमरागेण जङ्घिके तस्याः ।
पीने स्तनकलशयुगेऽभिलिखिताः पत्रलेखाः ॥२५॥
कालेयमिश्रचन्दनरसेन निर्माजितं च मुखकमलम् ।
दयित इव सानुरागः कृतश्च तस्याः समदनोऽधरः ॥२६॥
नवशरत्कालविकसितकुवलयदलकान्तिरागशोभायत् ।
कृतमुज्ज्वलमपि कज्जलरञ्जितं लोचनयोर्युगम् ॥२७॥
मधुमासलक्ष्मीरिवोन्मिलितस्तस्या मुखे वरतिलकः ।
उपरिरचितालकावल्यलिकुलवलयैः परिवरितः ॥२८॥

अह कलसद्दायड्डियसभवणवावीरयरायहंसाइं ।
चलणेसु पिणद्धाइं मणहरमणिनेउराइं से ॥२९॥
नहससिमऊहसंवलियरयणसंजणियविउणसोहाहिं ।
पडिवन्नाओ मणिविंटियाहि तह अंगुलीओ त्ति ॥३०॥
बद्धं च दइयहियययं व तीए वियडे नियम्बबिम्बम्मि ।
सुरऊसववरतूरं निम्मलमणिमेहलादामं ॥३१॥
बाहुलयामूलेसुं रइयाओ जणमणेक्कणाओ उ ।
बाहुसरियाउ तीसे मयरद्धयवागुराओ व्व ॥३२॥
बद्धो य थणहरोवरि मणहरवरपउमरायदलघडिओ ।
पवरो पवंगबन्धो नियम्बसंसत्तओ तह य ॥३३॥
मुत्ताहारो थणबद्धसंगसंजायकामराओ व्व ।
कण्ठमवलम्बिऊणं नीविं से फुसिउमाढत्तो ॥३४॥
कठम्मि विमलमणहरमोत्तियथुरुगुल्लयं पिणद्धं से ।
कुंकुमकयराएसु य सवणेसुं रयणचक्कलयाओ ॥३५॥

अथ कलशब्दाकर्षितस्वभवनवापीरतराजहंसे ।
चरणयोः पिनद्धे मनोहरमणिनूपुरे तस्याः ॥२९॥
नखशशिमयूखसंवलितरत्नसर्जनितद्विगुणशोभाभिः ।
प्रतिपन्ना मणिवेष्टिकाभिस्तयाऽङ्गुल्य इति ॥३०॥
बद्धं च दयितहृदयमिव तया विकटे नितम्बबिम्बे ।
सुरतोत्सवरतूर्यं निर्मलमणिमेखलादाम ॥३१॥
बाहुलतामूलयो रचिता जनमनश्चोरास्तु ।
बाहुसरिकाः (बाहुमालाः) तस्या मकरध्वजवागुरा इव ॥३२॥
बद्धश्च स्तनभरोपरि मनोहरवरपद्मरागदलघटितः ।
प्रवरः प्लवङ्गबन्धो नितम्बसंसक्तः तथा च ॥३३॥
मुक्ताहारः स्तनबद्धसङ्गसंजातकामराग इव ।
कण्ठमवलम्ब्य नीवी तस्याः स्प्रष्टुमारब्धः ॥३४॥
कण्ठे विमलमनोहरमौक्तिकद्रुमुरुल्लक पिनद्धं तस्याः
कुङ्कुमकृतरागयोः श्रवणयोः रत्नचक्रलते ॥३५॥

साहिलासमवलोइज्जमाणो पासायमालातलगयाहिं पुरसुन्दरीहिं पत्तो सलीलं विवाहण्डवं ति । धरिओ य तस्स दारे विसेसुज्जलनेवच्छेणं गहियग्घसक्कारेणं अम्मयाजणेणं मग्गिओ 'आयारिमयं' ति । तओ हरिसवसुप्फुल्ललोयणो जाइयब्भहियं दाऊण ओइण्णो करिवराओ । भग्गा य से रयणकञ्चीसणाहेणं सोवण्णमुसलेण भिउडि त्ति । तओ मण्डवतलम्मि जणनिवहं निरुम्भिय नीओ समागमसुन्दरीहिं वरो ।

चिट्ठइ य जत्थ सियवरदुगुल्लपच्छाइयाणणा वहुया ।
सरयब्भचन्दमण्डलसंछाइयकोमुइनिसि व्व ॥३९॥
काराविओ सलीलं अविरुब्भन्ताइं कोउयाइं च ।
ता जाइओ मुहच्छविफेडावणियं च सहियाहिं ॥४०॥

तओ ईसि विहसिऊण 'ममं चेव एयं सकज्जं' ति भणिय दिन्नमायारिममयं । फेडिया मुहच्छवी । दिट्ठा य तेण असोयपल्लवकयावयंसा ईसिवियसन्तवयणकमला सज्झसहरिसनिब्भरा मणोहरस्स वि मणहारिणं किंपि तहाविहं दिव्वं विलासविब्भममणुहवन्ति कुसुमावलि त्ति ।

साभिलाषमवलोक्यमानः प्रासादमालातलगताभिः प्राप्तो सलीलं विवाहमण्डपमिति । धृतश्च तस्य द्वारे विशेषोज्ज्वलनेपथ्येन गृहीतार्घसत्कारेणाम्बाजनेन मार्गितः 'आचारिकम्' । इति ततो हर्षवशोत्फुल्ललोचनो याचिताभ्यधिकं दत्त्वा अवतीर्णः करिवरात् । भग्ना च तस्य रत्नकाञ्चीसनाथेन सौवर्णमुशलेन भृकुटिरिति । ततो मण्डपतले जननिवहं निरुध्य नीतः समागमसुन्दरीभिर्वरः ।

तिष्ठति च यत्र सितवरदुकूलप्रच्छादितानना वधुका ।
शरदभ्रच्छादितचन्द्रमण्डलकौमुदीनिशेव ॥३९॥
कारितः सलीलमवबध्यमानानि कौतुकानि च ।
ततो याचितो मुखच्छविस्फेटनिका च सखीभिः ॥४०॥

तत ईषद् विहस्य 'ममैवैतत्स्वकार्यम्' इति भणित्वा दत्तमाचारिकम् । स्फोटिता मुखच्छविः । दृष्टा च तेनाशोकपल्लवकृतावतंसा ईषद्विकसद्वदनकमला साध्वसहर्षनिर्भरा मनोहरस्यापि मनोहारिणं किमपि तथाविधं दिव्यं विलासविभ्रममनुभवन्ती कुसुमावलीति ।

पाणिग्गहणं च तओ पारद्धं गीयमंगलसमूहं ।
बन्धवहिययाणंदं अन्नोन्नबद्धरायाणं ॥४१॥
हत्था पढमं चिय कालवित्थरं विहडिउं असहमाणा ।
तीए वरस्स य घडिया निम्मलनहचंदकिरणेहिं ॥४२॥
घेत्तूण तेण पढमं मउए हिययम्मि साणुरायम्मि ।
गहिया तओ करम्मि य पवियंभियसेयसलिलम्मि ॥४३॥
घेत्तूण य तेण करे मणहरकक्खंतराउ आणीया ।
पवरमहच्चाउरन्तं सियवहू सुरविमाणं व ॥४४॥
कणयमयउज्जलवरपउमरायपज्जत्तदंडियारइयं ।
रइयदुगुल्लवियाणगपरिलम्बियमोत्तिओऊलं ॥४५॥
ओऊललग्गमरगयमऊहहरियायमाणसियचमरं ।
सियचमरदण्डचामीयरप्पहापिञ्जरद्दायं ॥४६॥
अद्दायगयविरायन्तपवरपक्खसुन्दरीवयणं ।
वरपक्खसुन्दरीवयणजणियवहूपक्खपरिओसं ॥४७॥

पाणिग्रहणं च ततः प्रारब्धं गीतमङ्गलसमूहम् ।
बान्धवहृदयानन्दमन्योन्यबद्धरागयोः ॥४१॥
हस्तौ प्रथममेव कालविस्तरं विघटयितुमसहमानौ ।
तस्या वरस्य च घटितौ निर्मलनखचन्द्रकिरणैः ॥४२॥
गृहीत्वा तेन प्रथमं मृदुनि हृदये सानुरागे ।
गृहीता ततः करे च प्रविजृम्भितस्वेदसलिले ॥४३॥
गृहीत्वा तेन करे मनोहरकक्षान्तरादानीता ।
प्रवरमहच्चातुरन्तं सितवधूः सुरविमानमिव ॥४४॥
कनकमयोज्ज्वलवरपद्मरागपर्याप्तदण्डिकारचितम् ।
रचितदुकूलवितानकपरिलम्बितमौक्तिकावचूडम् ॥४५॥
अवचूडलग्नमरकतमयूखहरितायमानसितचामरम् ।
सितचामरदण्डचामीकरप्रभापिञ्जरादर्शम् ॥४६॥
आदर्शगतविराजमानवरपक्षसुन्दरीवदनम् ।
वरपक्षसुन्दरीवदनजनितवधूपक्षपरितोषम् ॥४७॥

परिओसपयडरोमञ्चयन्दिसंघायकलियपेरन्तं ।
पेरन्तविरइयामलविचित्तमणितारयानिवहं ॥४८॥
तारयनिवहपसाहियतोरणमुहनिमियसुद्धससिलेहं ।
ससिलेहाविज्जोइयवित्थरसियमण्डवनहं तु ॥४९॥
अवलग्गो य सहरिसं मणिभूसणकिरणभासुरसरीरो ।
उदयगिरिं पिव सो चाउरन्तयं दियसनाहो ब्व ॥५०॥
कुसुमावलीए रायन्तविमलसियवरदुगुल्लवसणाए ।
पवियसियवयणकमलाए दिवसलच्छीए व समेओ ॥५१॥
वहुयाए तत्थ धूमेण वरमुहं पेच्छसु त्ति य भणन्ता ।
बाहत्थेवा ओणयमुहीए पाएसु से पडिया ॥५२॥

एत्यन्तरम्मि य पारद्धो जणाणमुवयारो। दिज्जन्ति महमहेन्त-गन्धाइं विलेवणाइं, रुण्टन्तमहुयरसणाहाइं कुसुमदामाइं अइसुरहिगन्ध-गन्धिणो पडवासा, कप्पूरवीडयपहाणाइं तम्बोलाइं, दुगुल्ल-देवंगपट्ट-चीण-द्धचीणाइं पवरवत्थाइं, केऊर-हार-कुण्डल-तुडियप्पमुहा आहरण-

---

परितोषप्रकटरोमाञ्चबन्दिसंघातकलितपर्यन्तम् ।
पर्यन्तविरचितामलविचित्रमणितारकानिवहम् ॥४८॥
तारकानिवहप्रसाधिततोरणमुखस्थापितशुद्धशशिलेखम् ।
शशिलेखाविद्योतितविस्तारसितमण्डपनभस्तु ४९॥
अवलग्नश्च सहर्षं मणिभूषणकिरणभासुरशरीरः ।
उदयगिरिमिव स चातुरन्तं दिवसनाथ इव ॥५०॥
कुसुमावल्या राजमानविमलसितवरदुकूलवसनया ।
प्रविकसितवदनकमलया दिवसलक्ष्म्येव समेतः ॥५१॥
वध्वास्तत्र धूमेन वरमुखं प्रेक्षस्वेतीव भणन्तः ।
बाष्पबिन्दवोऽवनतमुख्याः पादयोस्तस्याः पतिताः ॥५२॥

अत्रान्तरे च प्रारब्धो जनानामुपचारः। दीयन्ते च प्रसरद्गन्धानि विलेपनानि, रवन्मधुकरसनाथानि कुसुमदामानि, अतिसुरभिगन्ध-गन्धिनः पटवासाः, कर्पूरवीटकप्रधानानि ताम्बूलानि, दुकूल-देवाङ्गपट्ट-चीना-र्धचीनानि प्रवरवस्त्राणि केयूर-हार-कुण्डल-त्रुटितप्रमुखा आभरण-

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥४९॥

[illegible]

[illegible] ॥५०॥

[illegible]

[illegible] ॥५१॥

[illegible]

[illegible] ॥५२॥

[illegible] अनर्घ्यमाभरणम् ॥

एवं वृत्ते विवाहमहोत्सवे [illegible]

विशेषाः, तुरुष्क-बाह्लीक-[illegible] [illegible] भद्र-मन्दप्रमुखाश्च गजविशेषाः ॥

अत्रान्तरे [illegible] घृत-मधु-[illegible] [illegible] ।
प्रारब्धं च वधू-वर [illegible] ततो मण्डलानि [illegible] ॥५३॥
प्रथमे वधूपित्रा दत्तं [illegible] मण्डलान्तरे ।
भाराणां [illegible] सुवर्णस्य ॥५४॥
द्वितीये हार-कुण्डल-कटिसूत्रक-त्रुटितमाल्याभरणम् ।
तृतीये स्थाल-कच्चोलादिकं रौप्यभाण्डं तु ॥५५॥
दत्तं च चतुर्थे वध्वाः परितोषप्रकटपुलकेन ।
पित्रा सुष्ठु महार्घं चेलं नानाप्रकारमिति ॥५६॥

[illegible] पुरन्दरेणापि च राज्ञा स्वविभवानुरूपोऽत्यन्तप्रसादमहार्घः कृतो जनानामुपचारः, दत्तं च विमलमणि-रत्न-मुक्ताफलसनाथं वध्वै अनर्घ्यमाभरणम् ॥

एवं वृत्ते विवाहमहोत्सवे कालक्रमेण प्रवर्धमानानुरागं सकलजन-

सलाहणिज्जं विसयसुहमणुहवन्ताणं अइक्कन्ता अणेगे वरिसलक्खा । अन्नया य आसपरियाहणनिमित्तं गएण कुमारसीहेण दिट्ठो नागदेवुज्जाणे बहुफासुए पएसे अणेयसमणपरियारिओ खमा-मद्दव-ज्जव-मुत्ति-तव-संजम-सच्च-सोया-किञ्चण-बम्भचेरगुणनिही पढमजोव्वणत्थो रूवाइ-गुणजुत्तो संपुण्णदुवालसंगी ससिस्साण सुत्तस्स अत्थं कहेमाणो धम्मघोसो नाम आयरिओ त्ति । तओ तं दट्ठूण तं पइ अईव बहुमाणो जाओ । चिन्तियं च णेण । धन्नो खु एसो, जो संसारविरत्तभावो सयलसंगचाई परमपरोवयारनिरओ एवं वट्टइ त्ति । ता गन्तूण एयस्स समीवं पुच्छामि एयं—किं पुण इमस्स मणोहवलालियसमयम्मि निव्वेयकारणं जहट्ठियं च दुक्खसंकुलं च संसारं ति । तओ दूराओ चेव ओयरिऊण आसवोल्ला-हकिसोराओ गओ तस्स समीवं । पणमिओ य धम्मघोसो । अहिणन्दिओ य भगवया धम्मलाहेण । तओ वन्दिऊण सेससाहुणो भत्तिनिब्भरमुव-विट्ठो सहावसुन्दरे गुरुणो पायमूले । निव्वडियसव्वंगसारं पुच्छिओ य णेण भयवं धम्मघोसो । भयवं ! किं ते सयलगुणसंपयाकुलहरस्स वि इहेसो निव्वेओ, जेण इमं अयाले चेव समणत्तणं पडिवन्नो सि ? । तओ भयवया

श्लाघनीयं विषयसुखमनुभवतोऽतिक्रान्ता अनेके वर्षलक्षाः । अन्यदा चाश्वपरिवाहननिमित्तं गतेन कुमारसिंहेन दृष्टो नागदेवोद्याने बहु-प्रासुके प्रदेशेऽनेकश्रमणपरिवारितः क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तपः-संयम-सत्य-शौचा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यगुणनिधिः प्रथमयौवनस्थो रूपादि-गुणयुक्तः संपूर्णद्वादशाङ्गी स्वशिष्येभ्यः सूत्राणामर्थं कथयन् धर्मघोषो नामाचार्य इति । ततस्तं दृष्ट्वा तं प्रति अतीव बहुमानो जातः । चिन्तितं तेन-धन्यः खल्वेषः, यः संसारविरक्तभावः सकलसङ्गत्यागी परमपरोपकारनिरत एवं वर्तते इति । तस्माद् गत्वा एतस्य समीपं पृच्छाम्येतत्—किं पुनरस्य मनोभवलालितसमये वा निर्वेदकारणं यथास्थितं च दुःखसंकुलं च संसारमिति । ततो दूरादेवावतीर्य बाल्याश्वकिशोराद् गतस्तस्य समीपम् । प्रणतश्च धर्मघोषः । अभि-नन्दितश्च भगवता धर्मलाभेन । ततो वन्दित्वा शेषसाधून् भक्तिनिर्भर-मुपविष्टः स्वभावसुन्दरे गुरोः पादमूले । निर्वर्तितसर्वाङ्गसारं पृष्टश्च तेन भगवान् धर्मघोषः । भगवन् ! किं ते सकलगुणसंपत्कुलगृहस्यापि इहेदृशो निर्वेदः, येनेदमकाल एव श्रमणत्वं प्रतिपन्नोऽसि ? । ततो भगवता

भणियं–भो महासावय ! नत्थि इयाणिमकालो सामण्णस्स। किं न पहवइ अयाले निज्जियसुरासुरो सयलमणोरहोसाइयज्जलाणो पियजणविओएक्कपरमहेऊ विबुहजणसंवेगवड्ढणो मच्चु त्ति । अन्नं च–महासावय ! सोहणभावाओ चरमकाले वि जइ सेविज्जइ धम्मो, सो च्चिय पढमं किमजुत्तो ? । राइणा भणियं–भयवं ! नो अजुत्तो, किंतु नानिमित्तो निव्वेओ त्ति निव्वेयकारणं पुच्छामि । भयवया भणियं–संसारो चेव निव्वेयकारणं, तहवि पुणो विसेसओ ओहिनाणियचरियकहणं ति । राइणा भणियं–भयवं ! केरिसं ओहिनाणिनियचरियकहणं ति ? । भयवया भणियं । सुण–

अत्थि इहेव विजए रायउरं नाम नयरं । तन्निवासी अहं भवओ चेव सव्विरत्तमणो चिट्ठामि जाव, आगओ अणेयसमणसामी चउदसपुव्वी ओहिनाणोवलद्धपुण्णपावो अमरगुत्तो नाम आयरिओ त्ति । जाओ य लोए वायवाओ 'अहो अयं महातवस्सी खीणासवदारो समुप्पन्नओहिनाणनयणो जहाट्ठियधम्मदेसणालद्धितवस्सी' त्ति । तओ तन्नयरसामी अरिमद्दणो नाम राया, अन्नो य नयरजणवओ निग्गओ तस्स

भणितम्–भो महाश्रावक ! नास्ति इदानीमकालः श्रामण्यस्य । किं न प्रभवति अकाले निर्जितसुरासुरः सकलमनोरथर्दलवत्यासनिः प्रियजनवियोगैकपरमहेतुर्विबुधजनसंवेगवर्धनो मृत्युरिति । अन्यच्च–महाश्रावक ! शोभनभावात् चरमकालेऽपि यदि सेव्यते धर्मः, स एव प्रथमं किमयुक्तः ? । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! नायुक्तः, किंतु नाऽनिमित्तो निर्वेद इति । निर्वेदकारणं पृच्छामि । भगवता भणितम्–संसार एव निर्वेदकारणम्, तथाऽपि पुनर्विशेषतोऽवधिज्ञानिनिजचरित्रकथनमिति । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! कीदृशमवधिज्ञानिनिजचरित्रकथनम् ? । भगवता भणितम् । शृणु–

अस्ति इहैव विजये राजपुरं नाम नगरम् । तन्निवास्यहं भवत्स्वरूप एव तद्विरक्तमना तिष्ठामि यावत्, आगतोऽनेकश्रमणस्वामी चतुर्दशपूर्व्यवधिज्ञानोपलब्धपुण्यपापः अमरगुप्तो नाम आचार्य इति । जातश्च लोके लोकवादः 'अहो अयं महातपस्वी क्षीणास्रवद्वारः समुत्पन्नावधिज्ञाननयनो यथास्थितधर्मदेशनालब्धितपस्वी' इति । ततस्तन्नगरस्वामी अरिमर्दनो नाम राजा, अन्यश्च नगरजनपदो निर्गतः तस्य

दंसणवडियाए, संपत्तो से पायमूलं । वन्दिओ भयवं नरवइणा नयरजणएण य । अहिणन्दिओ य धम्मलाहेण भयवया नरवई नयरजणवओ य गुरु-वयणबहुमाणमहग्घो अहाफासुए धरणिवट्ठे राया नयरजणवओ य । पुच्छिओ य भयवं अहाविहार राइणा । अणुसासिओ य तेण । राइणा भणियं–भयवं ! संपन्न ते भूयभविस्सवत्तमाणत्थगाहगं ओहिनाणं । ता करेहि मे अनुग्गहं । आइक्ख नियचरियं, कया कह वा भयवया संपत्तं सासयसिवसोक्खपायवेक्कबीयं सम्मत्तं, देसविरई वा, इह अन्नभवेसु वा सामण्णं त्ति । भयवया भणियं । सुण–

अत्थि इहेव विजए चम्पावासं नाम नयरं । तत्थाईयसमयम्मि सुधणू नाम गाहावई होत्था, तस्स घारिणी धणसिरी नाम, ताण य सोमाभिहाणा अहं सुया आसि । संपत्तजोव्वणा य दिन्ना तन्नयरनिवा-सिणो नन्दसत्थवाहपुत्तस्स रुद्ददेवस्स । कओ य णेण विवाहो । जहाणु-रूवं विसयसुहमणुहवामो त्ति । जाव तत्थ अहाकप्पविहारेण विहरमाणा विविहतवसोसियदेहा सुयरयणपसाहिया रूवि व्व सासणदेवया समागया

दर्शनवृत्तितया, सम्प्राप्तस्य पादमूलम् । वन्दितो भगवान् नरपतिना नगरजनपदेन च । अभिनन्दितश्च धर्मलाभेन भगवता नरपतिः, नगर-जनपदश्च । उपविष्टश्च गुरुवचनबहुमानमहार्घो यथाप्रासुके धरणी-पृष्ठे राजा नगरजनपदश्च । पृष्टश्च भगवान् यथा विहारं राज्ञा । अनुशिष्टस्तेन । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! सपन्नं ते भूतभविष्यद्वर्त-मानार्थग्राहकमवधिज्ञानम् । ततः कुरु मे अनुग्रहम् । आचक्ष्व निजक-चरितम्, कदा कथं वा भगवता सम्प्राप्तं शाश्वतशिवसौख्यपादपैकबीजं सम्यक्त्वम्, देशविरतिर्वा, इहान्यभवेषु वा श्रामण्यम्–इति ? । भगवता भणितम् । शृणु–

अस्ति इहैव विजये चम्पावासं नाम नगरम् । तत्रातीतसमये सुधन्वा नाम गाथापतिरासीत्, तस्य गृहिणी धनश्रीर्नाम, तयोश्च सोमा-भिधानाऽहं सुताऽऽसम् । सम्प्राप्तयौवना च दत्ता तन्नगरनिवासिने नन्द-सार्थवाहपुत्राय रुद्रदेवाय । कृतश्च तेन विवाहः । यथाऽनुरूपं विषय-सुखमनुभवाव । इति । यावत् तत्र यथाकल्पविहारेण विहरन्त्यो विविध-तपःशोषितदेहा श्रुतरत्नप्रसाधिता रूपिणीव शासनदेवता

बालचन्दा नाम गणिणि त्ति । दिट्ठा य सा मए ससुरकुलाओ माइकुलमहिगच्छन्तीए विहारनिग्गमपएसे । तं च मे दट्ठूण समुप्पन्नो पमोओ, वियसियं लोयणेहिं, पणट्ठं पावेण, ऊससियमंगेहिं, वियम्भियं चित्तेण । तओ मए नाइदूरओ चेव विणयरइयकरयलञ्जलीए सबहुमाणमभिवन्दिया भयवई । तीए वि य दिन्नो सयलसुहसस्सबीयभूओ धम्मलाभो त्ति । जायाओ य मे तं पइ अईव भत्तिपीईओ । पुच्छिओ य मए भयवईए पडिस्सओ, साहिओ साहुणीहिं । तओ अहं जहाचिएण विहिणा पज्जुवासिउं पवत्ता । साहिओ य भयवईए कम्मवणदावाणलो दुक्खसेलवज्जासणी सिवसुहफलकप्पपायवो वीयरागदेसिओ धम्मो । तओ कम्मखओवसमभावओ पत्तं सम्मत्तं, भाविओ जिणदेसिओ धम्मो, विरत्तं च मे भवचारयाओ चित्तं । तओ य सो दड्ढदेवो कम्मदोसेण पओसं काउमारद्धो । भणियं च तेण । परिच्चय एयं विसयसुहविग्घकारिणं धम्मं । तओ मए भणियं । अलं विसयसुहेहिं । अइचञ्चला जीवलोयठिई, दारुणो य विवाओ विसयपमायस्स । तेण भणियं–वियारिया तुमं, मा दिट्ठं परिच्चइय अदिट्ठे रइं करेहि । मए भणियं–

बालचन्द्रा नाम गणिनीति । दृष्टा च सा मया श्वसुरकुलाद् मातृकुलमभिगच्छन्त्या विहारनिर्गमप्रदेशे । तां च मम दृष्ट्वा समुत्पन्नः प्रमोदः, विकसितं लोचनाभ्याम्, प्रनष्टं पापेन, उच्छ्वसितमङ्गैः, विजृम्भितं चित्तेन । ततो मया नातिदूरत एव विनयरचितकरतलाञ्जल्या सबहुमानमभिवन्दिता भगवती । तयाऽपि च दत्तः सकलसुखसस्यबीजभूतो धर्मलाभ इति । जाताश्च मे तां प्रति अतीवभक्तिप्रीतयः । पृष्टश्च मया भगवत्याः प्रतिश्रयः । कथितः साध्वीभिः । ततोऽहं यथोचितेन विधिना पर्युपासितुं प्रवृत्ता । कथितश्च मह्यं भगवत्या कर्मवनदावानलो दुःखशैलवज्राशनिः शिवसुखफलकल्पपादपो वीतरागदेशितो धर्मः । ततः कर्मक्षयोपशमभावतः प्राप्तं सम्यक्त्वम्, भावितो जिनदेशितो धर्मः; विरक्तं च मे भवचारकात् चित्तम् । ततश्च स दग्धदैवः कर्मदोषेण प्रद्वेषं कर्तुमारब्धः । भणितं च तेन–परित्यज एतं विषयसुखविघ्नकारिणं धर्मम् । ततो मया भणितम्–अलं विषयसुखैः, अतिचञ्चला जीवलोक- . दारुणश्च विपाको विषयप्रमादस्य । तेन भणितम्–विप्र- . त्वम्, मा दृष्टं परित्यज्य अदृष्टे रतिमकार्षीः । मया भणितम्–

किमेत्य दिट्ठं नाम? पसुगणसाहारणा इमे विसया, पच्चक्खोवलब्भमाणसुहफलो य कहं अदिट्ठो धम्मो त्ति? । तओ सो एवमहिलप्पमाणो अहिययरं पओसमावन्नो । परिच्चत्तो य तेण मए सह संभोगो । वरिया य नागदेवाभिहाणस्स सत्थवाहस्स धूया नागसिरी नाम कन्नगा, न सपाइया तायबहुमाणेणं नागदेवसत्थवाहेण । रुद्ददेवेण चिन्तियं । न एयाए जीवमाणीए अह दारियं लहामि, ता वावएमि एय । तओ मायाचरिएण कहिंचि घडगयमासीविसं काऊण संठविओ एगदेसे घडओ । अइक्कन्ते पओससमए संपत्ते य कामिणिजणसमागमकाले भणिया ह तेण । उवणेहि मे इमाओ नवघडाओ कुसुममालं ति । तओ अह तस्स मायाचरियमणवबुज्झमाणा गया घडसमीवं । अवणीय तस्स दुवारढक्कणं धरणिमाउलिंगं । तओ हत्थं छोढूण गहिओ भुयंगो । डक्का अहं तेण । तओ तं ससंभमं उज्झिऊण सज्झसभयवेविरंगी समल्लीणा तस्स समीवं । 'डक्का भुयंगमेणं' त्ति सिट्ठं रुद्ददेवस्स । नियडीपहाणओ य आउलीहूओ रुद्ददेवो । पारद्धो तेण निरत्थओ चेय कोलाहलो । एत्थन्तरम्मि य सोइयं मे अंगेहिं, वियलियं सन्धीहिं, उव्वत्तियं पिव हिएएणं, भमियं पिव

किमत्र दृष्टं नाम? पशुगणसाधारणा इमे विषयाः, प्रत्यक्षोपलभ्यमानसुखफलश्च कथमदृष्टो धर्मः—इति? ततः स एवमभिलप्यमानोऽधिकतरं प्रद्वेषमापन्नः परित्यक्तश्च तेन मया सह संभोगः । वृता च नागदेवाभिधानस्य सार्थवाहस्य दुहिता नागश्रीर्नाम कन्यका, न सपादिता तातबहुमानेन नागदेवसार्थवाहेन । रुद्रदेवेन चिन्तितम्—न एतस्या जीवन्त्यामहं दारिकां लभे । ततो व्यापादयामि एताम् । ततो मायाचरितेन कथंचिद् घटगतमाशीविषं कृत्वा संस्थापित एकदेशे घटकः । अतिक्रान्ते च प्रदोषसमये संप्राप्ते च कामिनीजनसमागमकाले भणिताऽहं तेन । उपनय मामस्माद् नवघटात् कुसुममालामिति । ततोऽहं तस्य मायाचरितमनवबुध्यमाना गता घटसमीपम् । अपनीतं तस्य द्वारच्छादनं धरणीमातुलिङ्गम् । ततो हस्तं क्षिप्त्वा गृहीतो भुजङ्गः । दष्टाऽहं तेन । ततस्तं ससंभ्रममुज्झित्वा साध्वसभयवेपमानाङ्गी समालीना तस्य समीपम् । 'दष्टा भुजङ्गमेन' इति शिष्टं रुद्रदेवस्य । निकृतिप्रधानश्च आकुलीभूतो रुद्रदेवः । प्रारब्धस्तेन निरर्थक एव कोलाहलः । अत्रान्तरे च सन्नं मेऽङ्गैः, विचलितं सन्धिभिः, उद्वर्तितमिव हृदयेन, भ्रान्तमि

पारापन्तरेण, परिवत्तियं पिव पुहवीए, अवसा अहं निवडिओ [६
धरणिवट्ठे । अओ परमणाचिन्तणीयमवत्थन्तरं पाविऊण पुव्वसामन्ना-
णुभावओ चइऊण देहं सोहम्मे कप्पे लीलावयंसए वरविमाणे पलिओ-
वमट्ठिई देवत्ताए उववन्नो म्हि । तत्थ य पवरच्छरापरिगओ दिव्वे भोए
उवभुञ्जामि जाव, सुरदेवो वि स नागदत्तसत्थवाहधूयं परिणीय तीए
सद्धिं जहाणुरूवे भोए उवभुञ्जिऊण कालमासे कालं काऊण रयणप्प-
भाए पुढवीए लट्टनलडाभिहाणे नरए पलिओवमाऊ चेव नारगो उव-
वन्नो त्ति । तओ अहं अहाउयं अणुपालिऊण चुओ समाणो इहेव विजए
सुसुमारे रण्णे सुसुमारगिरिम्मि हत्थित्ताए उववन्नो, संपत्तो य कल-
भगावत्थं । एत्थन्तरम्मि य इयरो वि नरयाओ उव्वट्टिऊण तम्मि चेव
गिरिवरे सुगपक्खित्ताए उववन्नो त्ति । अइक्कन्तो य सिसुभावं, दिट्ठो य
अहं तेण तम्मि चेव गिरिवरे सहावरमणीएसु नलवणेसु करेणुसहाय-
परिगओ सलीलं परिभमन्तो त्ति । तओ य दट्ठूण पुव्वभवब्भासाओ
उक्कडकम्मोदयाओ य समुप्पन्नो ममोवरि वेरपरिणामो । चिन्तियं च
तेण–कहं पुण एस कुञ्जरो इमाओ भोगसुहाओ भंसियव्वो त्ति

प्रासादान्तरेण, परिवर्तितामिव पृथिव्या, अवशोऽहं निपतितो धरणी-
पृष्ठे । अतः परमनाचिन्त्यमवस्थान्तरं प्राप्य पूर्वश्रामण्यानुभावतस्त्यक्त्वा
देहं सौधर्मे कल्पे लीलावतंसके वरविमाने पल्योपमस्थितिर्देवत्वेन उत्प-
न्नोऽस्मि । तत्र च प्रवराप्सरःपरिगतो दिव्यान् भोगानुपभुञ्जे यावत्,
सुरदेवोऽपि स नागदत्तसार्थवाहदुहितरं परिणीय तया सार्द्धं यथा-
नुरूपान् भोगानुपभुज्य कालमासे कालं कृत्वा रत्नप्रभायां पृथिव्यां लट्ट-
नलडाभिधाने नरके पल्योपमायुरेव नारक उत्पन्न इति । ततोऽहं यथा-
युरनुपाल्य च्युतः सन् इहैव विजये सुसुमारे अरण्ये सुसुमारगिरौ
हस्तितयोत्पन्नः, संप्राप्तश्च कलभावस्थाम् । अत्रान्तरे च इतरोऽपि
नरकादुद्वृत्य तस्मिन्नेव गिरिवरे शुकपक्षितयोत्पन्न इति । अतिक्रान्तश्च
शिशुभावं, दृष्टश्चाहं तेन तस्मिन्नेव गिरिवरे स्वभावरमणीयेषु नलवने-
षु करेणुसहायपरिगतः सलीलं परिभ्रमन्निति । ततश्च दृष्ट्वा पूर्वभवा-
भ्यासादुत्कटकर्मोदयाच्च समुत्पन्नो ममोपरि वैरपरिणामः । चिन्तितं च
तेन–कथं पुनरेष कुञ्जरोऽस्माद् भोगसुखाद् भ्रंशयितव्य इति

उवाए गवेसिउमारद्धो । अन्नया लीलारई नाम विज्जाहरो, सो मियङ्क-सेणस्स विज्जाहरस्स भइणि चन्दलेहाभिहाणि अवहरिऊण तम्भएणं-वागओ तमुद्देसं । भणिओ य तेण सो सुगो-अह एत्थ गिरिनिगुञ्जे चिट्ठामि; आगमिस्सइ य एत्थ एगो विज्जाहरो, तओ न तुमए तस्स अहं साहियव्वो गओ य सो मम साहियव्वो, तओ ते किंचि पडिरूव-मुवयारं करिस्सामि, एवं कए सुट्ठु मे उवकयं ति जंपिऊणमोइण्णो वियडतडाभोगसठिय गिरिनिगुञ्ज । इयरो वि तम्मि चेवुद्देसे नारग-पायवसाहागए नीडे चिट्ठइ, जाव आगन्तूण गओ मियङ्कसेणो । एत्थ-न्तरम्मि य करेणुपरिगओ अहं आगओ तमुद्देसं । तओ मं दट्ठूणं चिन्तियं सुगेण-अत्थि इयाणि अवसरो मे समीहियस्स । तओ नियडिबहुलेण सजायाए सहाभिमन्तिऊण मम सवणगोयरे भणियं-सुन्दरि ! सुयं मए भयवओ वसिट्ठमहरिसिस्स समीवे, जहा इहं सुसुमारपव्वए सव्व-कामियं नाम पडणमत्थि; जो ज अभिलसिऊण पडइ, सो तक्खणेण चेव तं पावइ त्ति । तओ मए पुच्छियं-भयवं ! कहिं पुण तमुद्देसं ! तेण साहियं-जहा इमस्स सालतरुवरस्स वामपासेण ति । ता अलं

उपायान् गवेषयितुमारब्धः । अन्यदा लीलारतिर्नाम विद्याधरः, स मृगाङ्कसेनस्य विद्याधरस्य भगिनीं चन्द्रलेखाभिधानामपहृत्य तद्भयेनैवागतस्तमुद्देशम् । भणितश्च तेन स शुकः-अहमत्र गिरिनिकुञ्जे तिष्ठामि; आगमिष्यति चात्र एको विद्याधरः, ततो न त्वया तस्माहं कथयितव्यः, ततस्ते किञ्चित्प्रतिरूपमुपकारं करिष्यामि, एवं कृते सुष्ठु मम उपकृतमिति कथयित्वा अवतीर्णो विकटतटाभोगसंस्थितं गिरिनिकुञ्जम् । इतरोऽपि तस्मिन् एव उद्देशे नारङ्गपादपशाखागते नीडे तिष्ठति, यावदागत्य गतो मृगाङ्कसेनः । अत्रान्तरे च करेणुपरिगतोऽहं आगतस्तमुद्देशम् । ततो मां दृष्ट्वा चिन्तितं शुकेन-अस्ति इदानीमवसरो मे समीहितस्य । ततो निकृतिबहुलेन स्वजायया सहाभिमन्त्र्य मम श्रवणगोचरे भणितम्-सुन्दरि ! श्रुतं मया भगवतो वशिष्ठमहर्षेः समीपे, यथा इह सुसुमारपर्वते सर्वकामितं नाम पतनमस्ति; यो यदभिलष्य पतति, स तत्क्षणेनैव तत्प्राप्नोति इति । ततो मया पृष्टम्-भगवन् ! क्व पुनः स उद्देशः ? तेन कथितम्-यथाऽस्य सालतरुवरस्य वामपार्श्वेणेति । ततोऽल

इमिणा तिरियभावेण, एहि, विज्जाहरपणिहाणं काऊणं तहिं निवडामो। पडिस्सुयं च मे इमं जायाए। गयाइं तमुद्देसं, कओ पणिही, निवडियाइं गिरिनिगुञ्जे, साहियं लीलारइणो। समुप्पइओ य सह चन्दलेहाए गयणयलमलंकरेन्तो लीलारई। दिट्ठो य अम्हेहिं। समुप्पन्ना मे चिन्ता–अहो सव्वकामियपडणाणुभावो, जमेयं सुगमिहुणयं कयविज्जाहरपणिहाणमिह निवडिऊण तक्खणा चेव विज्जाहरमिहुणयं जायं। ता अलं अम्हाणं पि इमिणा तिरियभावेण। तओ देवपणिहिं काऊण निवडामो एत्थ अम्हे वि त्ति। एवं च सपहारिऊण पणिहिं काऊण निवडिया तत्थ अम्हे। एत्यन्तरम्मि य उप्पइयं सुयमिहुणयं, न लक्खियमम्हेहिं। तओ संचुण्णियंगोवंगो अहं किलेसमणुहविऊण अकामनिज्जराए कम्मं खविऊण उववन्नो कुसुमसेहराभिहाणे वंतरभोम्मनयरे देसूणपलिओवमाऊ वंतरो त्ति। तत्थ य उदारे भोए भुञ्जामि जाव, इयरो वि सुयत्ताए मरिऊण रयणप्पभाए चेव पुढवीए लोहियमुहाभिहाणे नरए समुप्पन्नो देसूणपलिओवमट्ठिई नारगो त्ति। तओ अहं अहाउयमणुपालिऊण चुओ समाणो एत्थ चेव विदेहे अन्नम्मि विजए चक्कवालउरे नयरे अप्पडिहयचक्कस्स सत्थवाहस्स

अनेन तिर्यग्भावेन, एहि, विद्याधरप्रणिधानं कृत्वा तत्र निपतावः। प्रतिश्रुतं च मे इदं जायया। गतौ तमुद्देशम्, ततः निपतितौ गिरिनिकुञ्जे, कथितं लीलारतेः। समुत्पतितश्च सह चन्द्रलेखया गगनतलमलंकुर्वन् लीलारतिः। दृष्टश्चावाभ्याम्। समुत्पन्ना मे चिन्ता–अहो! सर्वकामितपतनानुभावः, यदेतत् शुकमिथुनं कृतविद्याधरप्रणिधानमिह निपत्य तत्क्षणादेव विद्याधरमिथुनकं जातम्। ततोऽलम् आवयोरपि अनेन तिर्यग्भावेन। ततो देवप्रणिधिं कृत्वा निपताव अत्र आवामपीति। एवं च सम्प्रधार्य प्रणिधिं कृत्वा निपतितौ तत्रावाम्। अत्रान्तरे च उत्पतितं शुकमिथुनम्, न लक्षितमावाभ्याम्। ततः सञ्चूर्णिताङ्गोपाङ्गोऽहं क्लेशमनुभूय अकामनिर्जरया कर्म क्षपयित्वा उपपन्नः कुसुमशेखराभिधाने व्यन्तरभौमनगरे देशोनपल्योपमायुर्व्यन्तर इति। तत्र चोदारान् भोगान् भुञ्जे यावत्, इतरोऽपि शुकतया मृत्वा रत्नप्रभायामेव पृथिव्यां लोहितमुखाभिधाने नरके समुत्पन्नो देशोनपल्योपमस्थितिर्नारक इति। ततोऽहं यथायुष्कमनुपाल्य च्युतः सन् अत्रैव विदेहे अन्यस्मिन् विजये चक्रवालपुरे नगरे अप्रतिहतचक्रस्य

सुमंगलाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । जाओ य उचियसमएण, पइट्ठावियं च मे नामं चक्कदेवो, पत्तो य बालभावं । एत्थन्तरम्मि य सो सुयनारगो नरगाओ उव्वट्टिऊण तत्थ चेव नयरे सोमसम्मस्स निवपुरोहियस्स नन्दिवद्धणाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति, जाओ य कालयकमेणं, पइट्ठावियं च से नामं जन्नदेवो, पत्तो य कुमारभावं । एत्थन्तरम्मि य जाया मम तेण सह पीई सब्भावओ, तस्स उण कइयवेणं । तओ पुव्वभवब्भत्थकम्मदोसेणं उज्जुयस्स वि अणुज्जुओ मम संपयामच्छरी वञ्चणाछलेण छिद्दाइं गवेसिउमारद्धो । अलहमाणेण य परिचिन्तियमणेण—न एसो एवं छलिउं पारियइ, ता एस एत्थ उवाओ । चन्दणसत्थवाहगेहं मुसिऊण एयस्स गेहे रित्थं मुयामि, पच्छा य केणइ उवाएणं निवेइऊण राइणो संपयाओ भंसइस्सं ति । अणुचिट्ठियं च णेण जहाचिन्तियं । उवणेऊण य मे गेहे रित्थं भणियमणेण—वयंस ! एयं पयत्तेण संगोवावेसु त्ति । मए वि य अकालानयणजायसङ्केण अणिच्छमाणेणावि एयस्स दक्खिण्णबहुलयाए संगोवियं ति । पवत्तो य नयरे जणरवो, जहा मुट्ठं चन्दणसत्थवाहगेहं ति ।

सुमङ्गलायाः भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न इति । जातश्च उचितसमयेन, प्रतिष्ठापितं च मे नाम चक्रदेवः, प्राप्तश्च बालभावम् । अत्रान्तरे च स शुकनारको नरकादुद्वृत्य तत्रैव नगरे सोमशर्मणो नृपपुरोहितस्य नन्दिवर्धनाभिधानायाः भार्यायाः कुक्षौ पुत्रत्वेनोपपन्न इति, जातश्च कालक्रमेन । प्रतिष्ठापितं च तस्य नाम यज्ञदेवः । प्राप्तश्च कुमारभावम्, अत्रान्तरे च जाता मम तेन सह प्रीतिः सद्भावतः, तस्य पुनः कैतवेन । ततः पूर्वभवाभ्यस्तकर्मदोषेण ऋजुकस्यापि अनृजुको मम सम्पन्मत्सरी वञ्चनाच्छलेन छिद्राणि गवेषयितुमारब्धः । अलभमानेन च परिचिन्तितमनेन—न एष एवं छलितुं पार्यते, तत एषोऽत्र उपायः । चन्दनसार्थवाहगृहं मुषित्वा एतस्य गृहे रिक्थं मुञ्चामि, पश्चात्केनचिदुपायेन निवेद्य राज्ञः सम्पदः भ्रंशयिष्ये इति । अनुष्ठितं च तेन यथाचिन्तितम् । उपनीय च मे गेहे रिक्थं भणितमनेन—वयस्य ! एतत् प्रयत्नेन संगोपयेति । मयाऽपि च अकालानयनजातशङ्केन अनिच्छताऽपि एतस्य दाक्षिण्यबहुलतया संगोपितमिति । प्रवृत्तश्च नगरे जनरवः, यथा मुष्टं चन्दनसार्थवाहगृहमिति ।

तओ सम्माहिदं मे [illegible] दं अहिणाअ [illegible] । तदो अरो
दोस [illegible] [illegible] भणिदं-अ अर
[illegible] । [illegible] [illegible] । तेन [illegible]
[illegible] मे [illegible] । [illegible]
[illegible] 'देव ! गेहे मे मुट्ठं' [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible], णिवेदिदं च राइणा, [illegible] [illegible] । [illegible]
[illegible] [illegible], भणिदं च तेण—अरे ! आघोसेहु डिण्डि-
मेण, [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] ता अस्स
राइणो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वा समागओ, सो णिवे-
सरीरदण्डेण च णो खमिस्सइ त्ति । तओ पउत्तमाघोसणं । अइक्कन्ते अ
अहम्मि गएसु पञ्चसु दिणेसु [illegible] जण्णदेवेण राइणो । जहा-देव !
ण जुत्तं [illegible] [illegible], किं तु परलोअइहलोअविरुद्धसेविणा अहि-
दाअरणेण अत्तणो वि अमित्तेण [illegible] मित्तेण । ण उवेक्खिदव्वं जाण-
न्तेण रायधणावहिदं । अओ ईदिसं वि देवस्स णिवेदीअदि । राइणा भणि-

तत आकाङ्क्षितं मे हृदयेन—पूर्वमेतदेव भविष्यतीति । ततो वादेव-
समीपम्, पृष्टश्च स यथा—कथमेतद् व्यवसितमिति । तेन भणितम्—
मा अन्यथा सम्भावय, वात्सल्येन मया एतद् भवतः समर्पितम्, न
पुनरन्यथेति । ततोऽप्यगता मे शङ्का, अन्तरे च ज्ञापित चन्दन-
सार्थवाहेन राज्ञः, यथा 'देव ! गेहे मे मुष्टम्' इति । 'किमपहृतम्'
इति पृष्ट राजा । निवेदितम् चन्दनेन, लेखित च राज्ञा । भणितं च
तेन—अरे ! आघोषय डिण्डिमेन, यथा—मुष्ट चन्दनसार्थवाहगेहम्,
अपहृतमेतद् रिक्थजातम् । ततो यस्य गेहे केनचिद् व्यवहारयोगेन
तद् रिक्थं रिक्थदेशो वा समागतः, स निवेदयतु राजदत्तस्याग-
मस्य । अनिवेदितोपलम्भो च राज्ञा सर्वधनापहारेण शरीरदण्डेन च
नो क्षमिष्यते इति । ततः प्रवृत्तमाघोषणम् । अतिक्रान्ते च अहनि
गतेषु पञ्चसु दिनेषु ज्ञापित यज्ञदेवेन राज्ञः । यथा—देव ! न युक्तं
मित्रदोषप्रकाशनम्, किन्तु परलोकेहलोकविरुद्धसेविना अहिताचरणे
आत्मनोऽपि चामित्रेण अत मे मित्रेण । नोपेक्षितव्यं जानता राज-
धनापहृतम् । अत ईदृशमपि देवस्य निवेद्यते । राज-

भणाउ अज्जो । जन्नदेवेण भणियं–देव ! सुण । सुयं मए चक्कदेव सपरियणाओ, जहा इमं चन्दणसत्थवाहगेहं चक्कदेवेण मुट्ठं, सगोवियं रित्थं नियगगेहे । एयं सोऊण देवो पमाणं ति । राइणा भणियं–अज्ज ! असंभावणिज्जमेयं, कुलप्पसूओ खलु सो, ता कह इमं अच्चन्तविरुद्धं करिस्सइ । जन्नदेवेण भणियं–देव ! नत्थि अन्नाणलोभवसगाणमसंभावणिज्जं । को य दोसो कुलस्स, किं न हवन्ति सुरभिकुसुमेसु किमिओ । ता निरूवावेहि ताव केणइ पयारेण तस्स गेहं ति । तओ 'जुत्तमेयं' ति चिन्तिऊण समाणत्तं चण्डसासणेण करणं । भणिया य कारणिया–नयरमहन्तगेहिं सह घेत्तूण चन्दणसत्थवाहभण्डारियं पलोएह चक्कदेवस्स गेहे तं पणट्ठं रित्थं ति । तओ 'किमेइणा असंभावणिज्जेणं, अहवा आएसगारिणो अम्हे' त्ति मन्तिऊण, मेलविय नयरमहन्तगे घेत्तूण चन्दणसत्थवाहभण्डारियं जाममेत्ते वासरे समागया मे गेहं पहाणनयरजणाहिट्ठिया कारणिय त्ति । पुच्छिओ य तेहिं अहं–सत्थवाहपुत्त ! न ते किंचि केणइ एवंजाइयं रित्थं संववहारवडियाए उवणीयं ति । तओ मए असंजायसङ्केण भणियं–'नहि नहि' त्ति । तेहिं भणियं–न सए

भणतु आर्यः । यज्ञदेवेन भणितम्–देव ! शृणु । श्रुतं मया चक्रदेवदासपरिजनात्, यथेदं चन्दनसार्थवाहगेहं चक्रदेवेन मुष्टम्, सगोपितं रिक्थं निजकगेहे । एवं श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति । राज्ञा भणितम्–आर्य ! असंभावनीयमेतद्, कुलप्रसूतः खलु सः, ततः कथमिदमत्यन्तविरुद्धं करिष्यति । यज्ञदेवेन भणितम्–देव ! नास्ति अज्ञानलोभवशगानामसंभावनीयम् । कश्च दोषः कुलस्य, किं न भवन्ति सुरभिकुसुमेषु कृमयः ?' ततो निरूपय तावत्केनचित्प्रकारेण तस्य गेहमिति । ततो 'युक्तमेतत्' इति चिन्तयित्वा समाज्ञप्तं चण्डशासनेन करणम् । भणिताश्च कारणिकाः–नगरमहद्भिः सह गृहीत्वा चन्दनसार्थवाहभाण्डागारिणं प्रलोकयत चक्रदेवस्य गृहे तत्प्रनष्टं रिक्थमिति । ततः 'किमेतेनासंभावनीयेन, अथवा आदेशकारिणो वयम्' इति मन्त्रयित्वा मेलयित्वा नगरमहतो गृहीत्वा चन्दनसार्थवाहभाण्डागारिकं याममात्रे वासरे समागता मम गेहं प्रधाननगरजनाधिष्ठिताः कारणिका इति । पृष्टश्च तैरहम्–सार्थवाहपुत्र ! न ते किञ्चित् केनचिद् एवंजातिकं रिक्थं संव्यवहारपतितया उपनीतमिति । ततो मयाऽजातशङ्केन भणितम्–'नहि नहि' इति । तैर्भणितम्–

कुप्पियव्वं; रायसासणमिणं, जं ते गेहमवलोइयव्वं ति । मए भणियं—न एत्थ अवसरो कोवस्स, पयापरिरक्खणनिमित्तं समारम्भो देवस्स। तओ पविट्ठा मे गेहं सह नयरवुड्ढेहिं रायपुरिसा । अवलोइयं च तेहिं णाणापयारं दविणजायं, दिट्ठं च पयत्तट्ठावियं चन्दणनामङ्कियं हिरण्णभायणं, नीणियं बाहिं, दंसियं चन्दणभण्डारियस्स । अवलोइऊण सदुक्खमिव भणियं च तेण—अणुहरइ ताव एयं, न उण निस्संसयं वियाणामि त्ति । कारणिएहिं भणियं—वाएहि ताव अवहरियनिवेयणापत्तगं, किं तत्थ इमं ईइसं अभिलिहियं न व त्ति । वाइयं पत्तगं, दिट्ठमभिलिहियं सज्झसीभूया नायरकारणिया । भणियं च तेहिं—सत्थवाहपुत्त ! कुओ तुह इमं ? । तओ मए वि चिन्तियं—कहं सब्भावट्ठावियं मित्तनासं पयासेमि । मा नाम तेणावि कहिं चि एसो एवं चेव समासाइओ भवे । ता 'कहं नियपाणबहुमाणओ मित्तपाणे परिच्चयामि' त्ति चिन्तिऊण भणियं मए 'नियगं चेव एयं' ति । तेहिं भणियं—कहं चन्दणनामङ्कियं ? । मए भणियं—न याणामो, कहिंचि वासणपरावत्तो भविस्सइ । तेहिं भणियं—किसंतियं किं वा हिरण्णजायमेयं ति ? ।

न त्वया कुपितव्यम्; राजशासनमिदम्, यत्ते गेहमवलोकयितव्यमिति । मया भणितम्—नात्र अवसरः कोपस्य, प्रजापरिरक्षणनिमित्त समारम्भो देवस्य । ततः प्रविष्टा मे गेहं सह नगरवृद्धैः राजपुरुषाः । अवलोकित च तैर्नानाप्रकार द्रविणजातम्, दृष्टं च प्रयत्नस्थापितं चन्दननामाङ्कित हिरण्यभाजनम्, नीतं बहिः, दर्शितं चन्दनभाण्डागारिणः । अवलोक्य सदुःखमिव भणित तेन—अनुहरति तावदेतत् न पुनर्निःसंशयं विजानामीति । कारणकैर्भणितम्—वाचय तावदपहृतनिवेदनापत्रकम् किं तत्र इदमीदृशमभिलिखित न वेति । वाचितं पत्रकम्, दृष्टमभिलिखितम् । साध्वसीभूता नागरकारणिकाः । भणितं च तैः—सार्थवाहपुत्र ! कुतः तवेदम् । मयाऽपि चिन्तितम्—कथं सद्भावस्थापितं मित्रन्यासं प्रकाशयामि । मा नाम तेनाऽपि कथंचिद् एष एवमेव समासादितो भवेत् । ततः 'कथं निजप्राणबहुमानतो मित्रप्राणान् परित्यजामि' इति चिन्तयित्वा भणितं मया—'निजकमेवैतद्' इति । तैर्भणितम्—कथं चन्दननामाङ्कितम् ? । मया भणितम्—न जानीमः, कथंचिद् भाजनपरावृत्तो भविष्यति । तैर्भणितम्—किंसत्कं किं वा हिरण्यजातमेतद् इति ? ।

णियं–न सुट्ठु सुमरामि, सइं चेव जोएह। कारणिएहिं भणियं–वाएह
त्तगं, किंदविणजुत्तं किंसंतियं वा तं चन्दणसत्थवाहभायणं ति। वाइय
त्तगं जाव दीणारदविणजुत्तं दससहस्ससंतियं च। तओ छोडावियमणेहिं
मिलिओ पत्तगत्थो। विम्हिया नागरकारणिया। परिचिन्तियं च तेहिं।
हं अप्पडिहयचक्कसत्थवाहपुत्ते चक्कदेवे एवं भविस्सइ त्ति ?। पुणो
वि पुच्छिओ–सत्थवाहपुत्त! नरिन्दसासणमिणं; ता कहेहि फुडत्थं,
कुओ तुह इमं'ति। तओ मए तं चेयाणुचिन्तिऊण तं चेव सिट्ठं ति।
हिं चिय 'धिरत्थु देव्वस्स' त्ति भणिऊण मन्तियं। अन्नं पि ते न
किंचि परसन्तियं गेहे चिट्ठइ ?। मए भणियं–न किंचि। तओ तेहिं
त्तगं वाइऊण सविसेसमवलोइयं मे गेहं, दिट्ठं च जहावाइयं निरवसे-
मेव रित्थं। एत्थन्तरम्मि य कुविया ममोवरि आरक्खिगा। नीओ
हिं नरवइसमीवं। साहिओ वुत्तन्तो चण्डसासणस्स। भणिओ म्हि
ाइणा। सत्थवाहपुत्त! विन्नाउभयलोयमग्गो तुमं, ता न तुह एयमेरि-
मसाहुचरियमसंभावणिज्जं संभावेमि त्ति। ता कहेहि ताव, को एत्थ
रमत्थो त्ति ?। तओ मए तं चेव चिन्तिऊण बाहजलभरियलोयणेणं

मया भणितम्–न सुष्ठु स्मरामि, स्वयमेव पश्यत। कारणिकैर्भणितम्–
ाचय पत्रकम्, किंद्रविणयुक्तं किंसत्कं वा तत् चन्दनसार्थवाहभाजनम्
इति ?। वाचितं पत्रं यावद् दीनारद्रविणयुक्तं दशसहस्रसत्कं च।
तो मोचितं तैः, मिलितः पत्रकार्थः। विस्मिता नागरकारणिकाः. परि-
चिन्तितं च तैः। कथमप्रतिहतचक्रसार्थवाहपुत्रे चक्रदेवे एवं भविष्यति
ति ?। पुनरपि पृष्ट.–सार्थवाहपुत्र! नरेन्द्रशासनमिदम्, तत. कथय
स्पष्टार्थम् 'कुतः तवैतद्' इति। ततो मया तदेवानुचिन्त्य तदेव शिष्ट-
मिति। तैरेव 'धिगस्तु दैवस्य' इति भणित्वा मन्त्रितम्। अन्यदपि ते
किञ्चित्परसत्कं गेहे तिष्ठति ?। मया भणितम्–न किञ्चित्।
ततस्तैः पत्रकं वाचयित्वा सविशेषमवलोकितं मे गेहम्, दृष्टं च यथा-
ाचितं निरवशेषमेव रिक्थम्। अत्रान्तरे च कुपिता ममोपरि आर-
क्षकाः। नीतस्तैर्नरपतिसमीपम्। कथितो वृत्तान्तश्चण्डशासनस्य। भणि-
तोऽस्मि राज्ञा। सार्थवाहपुत्र! विज्ञातोभयलोकमार्गस्त्वम्, ततो न तवै-
तदीदृशमसाधुचरितमसंभावनीयं संभावयामीति। ततः कथय तावत्कोऽत्र
परमार्थ इति ?। ततो मया तदेव चिन्तयित्वा बाष्पजलभृतलोचनेन

न किंचि जंपियं नरवइपुरओ त्ति। तओ राइणा समुप्पन्नासंकेणावि ताय-बहुमाणओ असरिसं वयणमभासिऊण कयत्थणं काऊण निव्विसओ समाणत्तो म्हि, नीणिओ य रायपुरिसेहिं नयराओ, मुक्को य नयरदेवयाययणसमीवे। पडिनियत्ता रायपुरिसा। समुप्पन्ना य मे चिन्ता-किमेइहमेत्तपरिभवभायणेणं अज्ज वि जीविएणं। ता एयम्मि नयरदेवयायणसमासन्ने नग्गोहपायवे उवलम्बेमि अप्पाणं ति। चिन्तिऊण पयट्टो नग्गोहसमीवं। एत्थन्तरम्मि य कहिंचि आभोइऊण इमं वइयरमोहिणा समुप्पन्ना ममोवरि नयरदेवयाए अणुकम्पा। आवेसिऊण रायजणणि साहियं जहट्ठियमेव एवं तीए राइणो। भणिओ य राया-इमाए मइलणाए अमुगम्मि नयरुज्जाणासन्ने नग्गोहपायवे उब्बन्धणेण अत्ताणयं परिच्चइउं ववसिओ चक्कदेवो। ता लहुं निवारेहि, तं सम्माणिऊण य पवेसेहि नयरं ति। तओ कोहनेहाउलयाए सकिण्णं रसमणुहवन्तो राया 'अरे गेण्हह दुरायारं जन्नदेवं' ति आइसिऊण पहाणवारणारूढो समं अहासन्निहियपरियणेणं तुरियतुरियं निग्गओ नयराओ, पत्तो य नयरुज्जाणं। दिट्ठो य अहं राइणा नग्गोहपायवसाहागओ उत्तरीयनिबद्धपासम्मि

न किमपि कथितं नरपतिपुरत इति। ततो राज्ञा समुत्पन्नाशङ्केनापि तातबहुमानतोऽसदृशं वचनमभाषित्वा कदर्थनां चाकृत्वा निर्विषयः समाज्ञप्तोऽस्मि, नीतश्च राजपुरुषैर्नगरात्, मुक्तश्च नगरदेवतायतनसमीपे। प्रतिनिवृत्ता राजपुरुषाः। समुत्पन्ना च मे चिन्ता-किमेतावन्मात्रपरिभवभाजनेन अद्यापि जीवितेन। तत एतस्मिन् नगरदेवतायतनसमासन्ने न्यग्रोधपादपे उल्लम्बयामि आत्मानमिति चिन्तयित्वा प्रवृत्तो न्यग्रोधसमीपम्। अत्रान्तरे च कथंचिदाभोग्येम व्यतिकरमवधिना समुत्पन्ना ममोपरि नगरदेवताया अनुकम्पा। आवेश्य राजजननीं कथितं यथास्थितमेव एवं तया राज्ञः। भणितश्च राजा-अनया मलीमतया अमुकस्मिन् नगरोद्यानासन्ने न्यग्रोधपादपे उद्बन्धनेनात्मानं परित्यक्तुं व्यवसितश्चक्रदेवः। ततो लघु निवारय, तं सम्मान्य च प्रवेशय नगरमिति। ततः क्रोधस्नेहाकुलतया संकीर्णं रसमनुभवन् राजा 'अरे गृहणीत दुराचारं यज्ञदेवं' इत्यादिश्य प्रधानहस्तिन्यारूढः समं यथासन्निहितपरिजनेन त्वरितत्वरितं निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च नगरोद्यानम्। दृष्टश्चाहं राज्ञा न्यग्रोधपादपशाखागत उत्तरीयनिबद्धपाशे

दीहाए सिरोहराए अप्पाणं ववाइउकामो त्ति । तओ सो दूरओ चेव संभमाइसयनिव्वत्तियागारं 'भो मयरद्धय ! मा साहस मा साहसं' ति भणमाणो तिव्वयरलज्जियाए हत्थिणीए समल्लीणो पायवसमीवं । सयमेव अवणीओ पासओ, गेण्हिऊण य करम्मि ठाविओ अहं तेण करेणुयापुट्ठीए । भणिओ य सबहुमाणं-भो सत्थवाहपुत्त ! जुत्तं नाम भवओ मए वि पुच्छियस्स एयमायरिउं ? । तओ मए चिंतियं-हन्त किमेयं ति, पयासियं भविस्सइ केणइ मित्तगुत्तं । एत्थंतरम्मि य भणियं राइणा-भो सत्थवाहपुत्त ! साहिओ मम एस वइयरो अज्ज पविसिऊण भयवईए नयरदेवयाए, जहा निद्दोसो तुमं, दोसयारी य एत्थ दुरायारो जन्नदेवो । ता खमियव्वं तुमए, जं मए अमुणियपरमत्थेण कयत्थिओ सि त्ति । तओ मए 'हन्त संपत्तो वसणं जन्नदेवो' त्ति चिंतिऊण भणिओ राया-देव ! रायधम्मो एसो, पयापरिरक्खणसमुज्जयस्स नत्थि दोसो देवस्स । जन्नदेवमूलसुद्धिं पि गवेसउ देवो, न तम्मि महाणुभावे अणायरणं संभावीयइ । राइणा भणियं-गविट्ठा मूलसुद्धी, साहियं भयवईए-'सव्वमिणं तेण पावेण ववसियं' ति । साहियं देवयाकहियं राइणा । ठियं

दीर्घया शिरोधरया आत्मानं व्यापादयितुकाम इति । ततः स दूरत एव सम्भ्रमातिशयनिर्वर्तिताकारं 'भो मकरध्वज ! मा साहसं मा साहसम्' इति भणन् तीव्रतरलज्जितया हस्तिन्या समालीनः पादपसमीपम् । स्वयमेवापनीतः पाशकः, गृहीत्वा च करे स्थापितोऽहं हस्तिनीपृष्ठे । भणितश्च सबहुमानम्-भोः सार्थवाहपुत्र ! युक्तं नाम भवतो मयाऽपि पृष्टस्य एतदाचरणम् ? । ततो मया चिन्तितम्-हन्त किमेतदिति, प्रकाशितं भविष्यति केनचिद् मित्रगुप्तम् । अत्रान्तरे च भणितं राज्ञा-भोः सार्थवाहपुत्र ! कथितो मम एष व्यतिकरोऽद्य प्रविश्य भगवत्या नगरदेवतया, यथा निर्दोषस्त्वम्, दोषकारी च अत्र दुराचारो यज्ञदेवः । ततः क्षमितव्यं त्वया, यन्मया अज्ञातपरमार्थेन कदर्थितोऽसीति । ततो मया 'हन्त संप्राप्तो व्यसनं यज्ञदेवः' इति चिन्तयित्वा भणितो राजा-देव ! राजधर्मोऽयम्, प्रजापरिरक्षणसमुद्यतस्य नास्ति दोषो देवस्य । यज्ञदेवमूलशुद्धिमपि गवेषयतु देवः, न तस्मिन् महानुभावे अनाचरणं सम्भाव्यते । राज्ञा भणितम्-गवेषिता मूलशुद्धिः, कथितं भगवत्या-'सर्वमिदं तेन पापेन व्यवसितम्' इति । कथितं देवताकथितं राज्ञा । स्थितं,

य मे चित्ते तुह होमरसागमेणं ति भणिऊण साहिओ [illegible]
[illegible]। तओ मए चिन्तियं-हन्त किमेयं असंभावणिज्जं। एत्थन्तरम्मि य
[illegible] [illegible] बन्धिऊण [illegible], निवेइओ राइणो। भणियं च
तेण अरे [illegible] जियं [illegible] उप्पाडेह लोयणाइं। [illegible]
देवे। तओ मए चलणेसु निवडिऊण विन्नत्तो राया-देव! मम एस भा-
[illegible] [illegible] सुम्मउ [illegible]। राइणा भणियं-सत्थवाहपुत्त! न
जुत्तमेयं [illegible] एसो, ता अलं निब्बन्धेण ति। मए भणियं-देव!
[illegible] ति, जइ [illegible] [illegible], ता इमं चेव संपाडे-
उ देवो। राइणा भणियं-[illegible] सुयं ति, सुयं जाणासि। तओ
मए [illegible] ति भणिऊण निवडिओ (अ) चलणेसु मोयाविओ [illegible]
[illegible], [illegible] राइणा [illegible] तओ [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] ति। [illegible] [illegible], अहो! [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]। [illegible], [illegible] ति [illegible] [illegible]
[illegible] ति। अहो! [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] भूयं ति ॥

[illegible]

एत्थन्तरम्मि य समागओ तत्थ सुगिहियनामो अग्गिभूई नाम गण-हरो। ठिओ य नयरुज्जाणे। दिट्ठो मए वाहिरियागएणं। जाओ य मे तं पइ बहुमाणो, पणमिओ य सो मए, धम्मलाभिओ य तेणं उवविट्ठो तस्स पायमूले। पुच्छिओ भयवं सव्वदुक्खविउडणसमत्थं धम्मं। साहिओ भगवया खमाइगो साहुधम्मो। तं च सुणमाणस्स समुप्पन्ना देसविर-इपरिणई, पवड्ढमाणसंवेगस्स जाओ भवविरागो। चिन्तियं च मए—अलं संसारपवड्ढणामेत्तफलेणं इमिणा परिकिलेसेणं, पव्वज्जामो पव्वज्जं ति।

एत्थन्तरम्मि य गलिओ कम्मसंघाओ, पयलिया बन्धनट्ठिई, विहा-वियं अत्तविरिएणं, समुप्पन्ना सव्वविरइपरिणइ त्ति। कहावसाणे य विन्नत्तो मए भयवं गुरू। अणुग्गिहीओ अहं भयवया, विरत्तं च मे चित्तं भवपञ्चाओ, ता आइसउ भयवं किं मए कायव्वं ति। तओ तेण सुय (पा)सयमाणिणा मम भावं वियाणिऊण भणियं—जुज्जइ भवओ महा-पुरिससेवियं समणत्तणं काउं ति। तओ मए तस्स समीवम्मि चेव पवन्नं समणत्तणं, परिपालियं च विहिणा। तओ अहाउयं पालिऊण कालमासे कालं किच्चा देहं चइऊण नवसागरोवमाऊ वेमाणियत्ताए उववन्नो म्हि

अत्रान्तरे च समागतस्तत्र सुगृहीतनामा अग्निभूतिर्नाम गणधरः। स्थितश्च नगरोद्याने। दृष्टश्च मया बहिरागतेन। जातश्च मे तं प्रति बहुमानः, प्रणतश्च स मया, धर्मलाभितश्च तेन, उपविष्टस्तस्य पाद-मूले। पृष्टो भगवान् सर्वदुःखविकुटनसमर्थं धर्मम्। कथितो भगवता क्षमादिकः साधुधर्मः। तं च शृण्वतः समुत्पन्ना देशविरतिपरिणतिः, प्रवर्धमानसंवेगस्य जातो भवविरागः। चिन्तितं च मया—अलं संसार-प्रवर्धनमात्रफलेन अनेन परिक्लेशेन, प्रपद्यामहे प्रव्रज्यामिति।

अत्रान्तरे च गलितः कर्मसंघातः, प्रगलिता बन्धनस्थितिः, विभा-वितमात्मवीर्येण, समुत्पन्ना सर्वविरतिपरिणतिरिति। कथावसाने च विज्ञप्तो मया भगवान् गुरुः। अनुगृहीतोऽहं भगवता, विरक्तं च मे चित्तं भवप्रपञ्चात्, तत आदिशतु भगवान् किं मया कर्तव्यमिति। ततस्तेन श्रुतावधमानिना मम भावं विज्ञाय भणितम्—युज्यते भवतो महापुरुष-सेवितं श्रमणत्वं कर्तुमिति। ततो मया तस्य समीपे एव प्रपन्नं श्रमण-त्वम्, परिपालितं च विधिना। ततो यथायुष्कं पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा देहं त्यक्त्वा नव सागरोपमायुर्वैमानिकत्वेनोत्पन्नोऽस्मि

ताव पत्ता अम्हे समुद्देसं । अणहगस्स वि य पुव्वभवनिमित्तओ तयप्पसं-रिसओ य समुप्पन्नो ममोवरि वञ्चणापरिणामो। चिन्तियं च णेणं-'इह मेसो पच्चियन्तो' त्ति । तओ सो अणेयवियप्पसमाउलियहियओ अहं च सुद्धसहावो त्ति । एवं वच्चामो । पाहेयदविणजायाणि य पत्तेयं हत्थगोयराणि हवन्ति । अन्नया य मम हत्थे पाहेयं तस्स दविणजायं ति। एवमणुगच्छमाणा पत्ता समुद्देसं, जत्थ सा चन्दकन्ता चिट्ठइ। दिट्ठो य सो कूवो। एयन्तरम्मि य अत्थमिओ सहस्सरस्सी, लुलिया संझा। तओ चिन्तियमणहगेण-हत्थगयं मे दविणजायं, विजणं च कन्तारं, समासन्नो य पायालगम्भीरो कूवो, पयत्तो य अवराहविवरसमच्छायगो अन्धयारो। ता एयम्मि एव पक्खिविऊण नियत्तामो इमस्स पाणस्स त्ति चिन्तिऊण भणियं च तेण-सत्थवाहपुत्त ! धणियं पिवासाभिभूओ म्हि । ता निहालेहि एयं किन्न कूवं 'किमेत्थ उदगं अत्थि, नत्थि' त्ति ? तओ मए गहियपाहेय-वाहुलाण चेव निहालिओ कूवो । एयन्तरम्मि य सुवियप्पियहियएण कोवेण विय जन्तू आगओ मम समीवमणहगो। सहसा पक्खित्तो तम्मि धरुमणहगेण, पडिओ य उवरणगओ । नियत्तो य सो तओ विसायाओ।

तावत्प्राप्ता वयं समुद्देशम् । अनहकस्यापि च पूर्वभवनिमित्ततः तदर्थं-दत्तनकस्य समुत्पन्नो ममोपरि वञ्चनापरिणामः। चिन्तितं च तेन-'कथमेष वञ्चयितव्यः' इति । ततः सोऽनेकविकल्पसमाकुलितहृदयः, अहं च शुद्धस्वभाव इति एवं व्रजामः । पाथेयद्रविणजातानि च प्रत्येकं हस्तगोचराणि भवन्ति । अन्यदा च मम हस्ते पाथेयं तस्य द्रविणजातमिति । एवमनुगच्छन्तौ प्राप्तौ समुद्देशम्, यत्र सा चन्द्रकान्ता तिष्ठति । दृष्टश्च स कूपः । अत्रान्तरे चास्तमितः सहस्ररश्मिः, लुलिता सन्ध्या । ततश्चिन्तितमनहकेन-हस्तगतं मे द्रविणजातम्, विजनं च कान्तारम्, समासन्नश्च पातालगम्भीरः कूपः, प्रवृत्तश्चापराधविवरसमाच्छादकोऽन्धकारः । तदेतस्मिन्नेव प्रक्षिप्य निवर्तामहे इतः स्थानादिति चिन्तयित्वा भणितं च तेन-सार्थवाहपुत्र ! भृशं पिपासाभिभूतोऽस्मि, तत् निभालयैतं कूपं 'किमत्रोदकमस्ति, नास्ति' इति ? ततो मया गृहीतपाथेयबाहुल्येनैव निभालितः कूपः । अत्रान्तरे च सुविकल्पितहृदयेन कोपेनेव जन्तुरागतो मम समीपमनहकः । सहसा प्रक्षिप्तस्तस्मिन्ननहकेन, पतितश्चोपरणगतः । निवृत्तश्च स ततो विषादात्।

अहमवि य ससंभन्तो लग्गो पडिकूवगेक्कदेसे। परामुट्ठा य भयविहलङ्गी चन्दकन्ता थीसहावओ भयकायरा। भणियं च तीए 'नमो अरिहन्ताणं' ति। तओ मए पच्चभिन्नाओ सद्दो। ऊससियं मे हियएणं। भणिया य सा 'अभयमभयं जिणसासणरयाण' त्ति। तीए वि य पच्चभिन्नाओ मे सद्दो। रोविउं पयत्ता, समासासिया सा मए, पुच्छिया य वुत्तन्तं। साहिओ य तीए, मए वि य नियगो त्ति। भणियं च तीए हा! दुट्ठु कयं अणहगेण। मए भणियं–सुन्दरि! न दुट्ठु कयं, परमोवयारि खु सो महाणुभावो, जं तुमं संजोइय त्ति। अप्पनिद्दाण य अइक्कन्ता रयणी, उग्गओ अंसुमाली। तओ मए दिन्नं चन्दकन्ताए पाहेयं। भणियं च तीए–'कहमहं तुमए अगहियम्मि गेण्हामि' त्ति। तओ मए नेहकायरं से हिययं कलिऊणमकाले चेव गहियं पाहेयं, भुत्तं च अम्हेहिं। तओ चिन्तियं मए–केण पुण उवाएण अम्हे इमाओ भवसमुद्दाओ विव कूवगाओ उत्तरिस्सामो त्ति। एवं च चिन्तयन्ताणं कइवयदिणेसु खीणं पाहेयं, पणट्ठा जीवियासा। जाया य मे चिन्ता–कहं पाविऊण जिणमयं अकाऊण पव्वज्जमकयत्थो मरिस्सामि त्ति। एत्यन्तरम्मि फुरियं [illegible]

अहमपि च ससंभ्रान्तो लग्नो प्रतिकूपकैकदेशे। परामृष्टा च भयवि[illegible]लाङ्गी चन्द्रकान्ता, स्त्रीस्वभावतो भयकातरा। भणितं च तया '[illegible] हद्भ्यः' इति। तत प्रत्यभिज्ञातः शब्दः, उच्छ्वसितं मे हृदयेन। [illegible] च सा 'अभयमभयं जिनशासनरतानाम्' इति। तयापि च [illegible]ज्ञातो मम शब्दः। रोदितुं प्रवृत्ता, समाश्वासिता सा मया, [illegible] वृत्तान्तम्। कथितश्च तया, मयाऽपि च निजक (वृत्तान्त [illegible] भणितं च तया–हा! दुष्ठु कृतमणहकेन। मया भ[illegible] दुष्ठु कृतम्, परमोपकारी खलु स महानुभावः, यत् [illegible] अल्पनिद्रयोश्चातिक्राला रजनी, उद्गतश्चांशुमाली। [illegible] कान्ताया. पाथेयम्। भणितं च तया–'कथमहं [illegible] ततो मया स्नेहकातरं तस्या हृदयं कलयित्वा [illegible] भुक्तं चावाभ्याम्। ततश्चिन्तितं मया–केन [illegible] मा- समुद्रादिव कूपकादुत्तरिष्याव इति। एवं [illegible] मम पाथेयम्, प्रनिष्टा जीविताशा। जाता [illegible] मकृत्वा प्रव्रज्यामकृतार्थो मरिष्यामि [illegible]

यामलोयणेणं, ममावि वाहिणेणं । जंपियं च तीए-अज्जपुत्त ! वामं मे लोयणं फुरियं' ति' । तओ साहिओ से मए हिययसंकप्पो इयरचक्खुफुरणं च । समासासिया य एसा । सुन्दरि ! इमेहिं निमित्तविसेसेहिं अवस्सं अम्हाणं न चिरकालाणुसारी एस किलेसो, ता न तुमए संतप्पियव्वं ति। पडिस्सुयमिमीए । एयं च जाव अहोरत्तं निवसामो, ताव समागओ सबररायहाणीओ रयणपुरनिवासिणो नन्दिवद्धणाभिहाणस्स सत्थवाहस्स सत्तिओ रयणपुरगामी चेव सत्थो त्ति । उयगनिमित्तं च समागया पुरिसा गहिऊण लम्बणा । दिट्ठाइं अम्हे इमेहिं । निवेइयं सत्थवाहस्स । कयमञ्चियापओएणं समुत्ताराविययाइं तेण, पच्चभिन्नायाणि य । पुच्छियाइं वुत्तन्तं साहिओ वित्थरेणं, विम्हिओ एसो, तओ पत्थियाइं रयणउरं जाव अइक्कन्तेसु पञ्चसु पयाणएसु परिवहन्ते सत्थे रायवत्तणीओ नाइदूरदेसभाए दिट्ठो कङ्कालमेत्तसेसो वामपासावडियदविणजाओ केसरिणा दीहनिद्दावसमुवणीओ अणहगो त्ति । दविणोवलम्भेण पच्चभिन्नाओ अम्हेहिं तओ तं तहाविहविवागं पेच्छिऊण समुप्पन्नो मे विवेगो, खओवसममुवगयं चारित्तमोहणीयं । संजाओ सयलजीवलोयदुल्लहो चरणपरिणामो

वामलोचनेन, ममापि दक्षिणेन । कथितं च तया-'आर्यपुत्र ! वामं मे लोचनं स्फुरितम्' इति । ततः कथितः तस्या मया हृदयसंकल्प इतरचक्षुःस्फुरणं च । समाश्वासिता च एषा । सुन्दरि ! एभिर्निमित्तविशेषैरवश्यमावयोर्न चिरकालानुसारी एषः क्लेशः, ततो न त्वया संतप्तव्यमिति । प्रतिश्रुतमनया । एवं च यावदहोरात्रं निवसावः, तावत्समागतः शबरराजधानीतो रत्नपुरनिवासिनो नन्दिवर्द्धनाभिधानस्य सार्थवाहस्य सत्को रत्नपुरगाम्येव सार्थ इति । उदकनिमित्तं च समागता पुरुषाः गृहीत्वा लम्बनान् । दृष्टौ आवामेभिः । निवेदितं सार्थवाहस्य । कृतमञ्चिकाप्रयोगेण समुत्तारितौ तेन, प्रत्यभिज्ञातौ च । पृष्टं वृत्तान्तम्, कथितो विस्तरेण । विस्मित एषः, ततः प्रस्थितौ रत्नपुरं यावदतिक्रान्तेषु पञ्चसु प्रयाणकेषु परिवहति सार्थे राजवर्तनीतो नातिदूरदेशभागे दृष्टः कङ्कालमात्रशेषो वामपार्श्वपतितद्रविणजातः केसरिणा दीर्घनिद्रावशमुपनीतोऽनहक इति । द्रविणोपलम्भेन प्रत्यभिज्ञात आवाभ्याम् । ततस्तं तथाविधविपाकं प्रेक्ष्य समुत्पन्नो मे विवेकः, क्षयोपशममुपगतं चारित्रमोहनीयम्, संजातः सकलजीवलोकदुर्लभश्चरणपरिणामः

तओ अहं तहाविहपवड्ढमाणपरिणामो चेव आगओ सनयरं। पवन्नो य जहाविहीए विजयवद्धणायरियसमीवे पव्वज्जं। अहाउयमणुवालिऊण विहिणा य मोत्तूण देहं, उववन्नो सोलससागरोवमाऊ वेमाणियत्ताए महा-सुक्ककप्पम्मि, इअरो वि य अणहगो सीहवावाइयसरीरो सत्तसागरोवम-ट्ठिई वालुयप्पहाए नारगो त्ति। तओ अहमहाउय पालिऊण देवलोगाओ चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे रहवीरउरे नयरे नन्दि-वद्धणस्स गाहावइस्स सुरसुन्दरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो म्हि। इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण विञ्झगिरिपव्वए अणेगसत्त-धावायणपरो सीहत्ताए उववन्नो। तओ सीहत्ताए उववज्जिऊण पुणो वि मरिऊण सत्तसागरोवमाऊ तत्थेव उववज्जिय तओ य उव्वट्टो नाणातिरि-एसु आहिण्डिय तत्थेव नयरे सोमसत्थवाहस्स नन्दिमईए भारियाए पुत्त-त्ताए उववन्नो त्ति। उचियसमयम्मि जाया अम्हे, पत्ता बालभाव। पइट्ठा-वियाइं नामाइं-मज्झ अणङ्गदेवो, इयरस्स धणदेवो त्ति। आबालभावओ जाया पिई मम सब्भावओ, इयरस्स कइयवेणं। कुमारभावम्मि य पत्तो मए देवसेणगुरुसमीवे सव्वन्नुभासिओ धम्मो। पत्ता य जोव्वणं। सन्ते विय पुव्व-

ततोऽहं तथाविधप्रवर्द्धमानपरिणाम एव आगत. स्वनगरम्। प्रपन्नश्च यथाविधि विजयवर्द्धनाचार्यसमीपे प्रव्रज्याम्। यथाऽऽयुष्कमनुपाल्य विधिना च मुक्त्वा देहम्, उपपन्नः षोडशसागरोपमायुर्वैमानिकतया महाशुक्रकल्पे, इतरोऽपि चाणहकः सिंहव्यापादितशरीरः सप्तसाग-रोपमस्थितिर्वालुकाप्रभायां नारक इति। ततोऽहं यथाऽऽयु. पाल-यित्वा देवलोकात् च्युतः सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे रथवीरपुरे नगरे नन्दिवर्द्धनस्य गाथापते. सुरसुन्दर्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोपप-न्नोऽस्मि। इतरोऽपि च ततो नरकादुद्वृत्य विन्ध्यगिरिपर्वते अनेक-सत्त्वव्यापादनपरः सिंहतयोपपन्नः। ततः सिंहतयोपपद्य पुनरपि मृत्वा सप्तसागरोपमायुस्तत्रैवोपपद्य ततश्चोद्वृत्तो नानातिर्यक्षु आहिण्ड्य तत्रैव नगरे सोमसार्थवाहस्य नन्दिमत्यां भार्यायां पुत्रतयोपपन्न इति। उचित-समये जातावावाम्, प्राप्तौ बालभावम्। प्रतिष्ठापिते नाम्नी-ममा-नङ्गदेवः, इतरस्य धनदेव इति। आबालभावात् जाता प्रीतिर्मम सद्भावतः, इतरस्य कैतवेन। कुमारभावे च प्राप्तो मया देवसेनगुरु-समीपे सर्वज्ञभाषितो धर्मः। प्राप्तौ च यौवनम्। सत्यपि पूर्व-

भविस्सइ त्ति । एवं च कए समाणे लोयवाओ वि परिहरिओ होइ । संपाइयं तेण जहासमीहियं । भुत्तुत्तरकालंमि य आरूढा दुवे वि अम्हे सपरिवारा पासायं । एत्थन्तरम्मि य पणट्ठा से मई । मम दसणनिमित्त केवलो चेवारूढो । निज्जूहगं । जाव य नारोहामि अहयं, ताव निवडिओ । हाहारवं करेमाणो समोइण्णो अहयं जाव दिट्ठो पञ्चत्तमुवगओ दोणगो त्ति । समुप्पन्नो मे निव्वेओ । चिन्तियं मए । धिरत्थु जीवलोयस्स, एयमवसाणं संसारचेट्ठियं । तओ अहं तस्स मयकिच्चं काऊण तन्निवेएण चेव पडिवन्नो माणभंगगुरुसमीवे समणलिंगं । परिवालिऊण अहाउयं उववन्नो हेट्ठिमोवरिमगेवेज्जए किंचूणपणुवीससागरोवमाऊ देवो; इयरो वि दोणओ तहाविहरुद्दज्झाणोवगओ धूमप्पभाए पुढवीए दुवालससागरोवमाऊ नारगो त्ति ॥ तओ अहं सुराउयमणुभुञ्जिऊण चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे एत्थ चेव विजए चम्पावासे नयरे माणिभद्दस्स सेट्ठिस्स धारिणीए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्नो, जाओ य उचियसमएणं । पइट्ठावियं मे नामं पुण्णभद्दो त्ति । पढमं च किल मए घोसमुच्चारयन्तेण 'अमर' त्ति संलत्तं । अओ दुइयं पि मे नामं अमरगुत्तो त्ति । रायगिहुप्पत्तीए

भविष्यति (जीविष्यति) इति । एवं च कृते सति लोकवादोऽपि परिहृतो भवति । संपादितं च तेन यथासमीहितम् । भुक्तोत्तरकाले चारूढौ द्वावपि आवां सपरिवारौ प्रासादम् । अत्रान्तरे च प्रनष्टा तस्य मतिः । मम दर्शननिमित्तं केवल एवारूढो निर्यूहकम् । यावच्च नारोहाम्यहं तावन्निपतितः । हाहारवं कुर्वन् समवतीर्णोऽहं यावद् दृष्टो पञ्चत्वमुपगतो द्रोणक इति । समुत्पन्नो मे निर्वेदः । चिन्तितं मया-धिगस्तु जीवलोकस्य, एवमवसानं संसारचेष्टितम् । ततोऽहं तस्य मृतकृत्यं कृत्वा तन्निर्वेदेनैव प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे श्रमणलिङ्गम् । परिपाल्य यथाऽऽयुरुपपन्नोऽधस्तनोपरितनग्रैवेयके किञ्चिदूनपञ्चविंशतिसागरोपमायुर्देवः, इतरोऽपि द्रोणकस्तथाविधरौद्रध्यानोपगतो धूमप्रभायां पृथिव्यां द्वादशसागरोपमायुर्नारक इति । ततोऽहं सुरायुरनुभूय च्युतः सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे अत्रैव विजये चम्पावासे नगरे माणिभद्रस्य श्रेष्ठिनो धारिण्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोत्पन्नः, जातश्चोचितसमयेन । प्रतिष्ठापितं मे नाम पूर्णभद्र इति । प्रथमं च किल मया घोषमुच्चारयता 'अमर' इति संकीर्तितम्, अतो द्वितीयमपि मे नाम अमरगुप्त इति । राजगृहोत्पत्त्या

[illegible]

[illegible]

पलोइयं च तेणं नियकालकरणकारणं । कयं च ण्हाणविलेवणसमत्तं सरी-
रालंकरणं [illegible] तओ करयलाओ
सयं चेव गहियं मए मुद्दारयणं । दिट्ठं च पुव्वदिट्ठं [illegible] कुण्डलजुयलं ।
झाया य मे चिन्ता 'किमेयं कुण्डलजुयं' ति । [illegible]
[illegible] नन्दयन्ती । दिट्ठं च तीए मम हत्थे मुद्दारयणं । [illegible]
[illegible] । [illegible] भावो । तओ अहं [illegible]
च तीए—दिट्ठं इमेण कुण्डलजुयलं ता किमेत्थ कायव्वं । अहवा मे लहुत्तं,
[illegible] एसो वि । ता जाव एस [illegible] न उवसप्पइ, ताव
[illegible] एवं [illegible] । [illegible] तत्थ कम्मणजोगं
पउंजामि । तओ [illegible]
[illegible] पुरोहियेण दढ-
वेयणं । तओ अहं गओ नियभवणं । दिट्ठा य [illegible] सरीरा
[illegible] नन्दयन्ती । तं च तहाविहं दट्ठूण समुप्पन्ना मे चिन्ता ।
धिरत्थु मायिन्दजालसरिसं जीवलोगं । [illegible] सग-
ग्गयक्खरं भणिया मए । सुन्दरि, किं ते बाहइ ? [illegible] ति । तओ

पर्यालोचितं च तदा निजकालकरणकारणम् । कृतं च स्नानविलेपनसमस्तं
शरीरालङ्करणम् [illegible] ततः करकरात् स्वय-
मेव गृहीतं मया मुद्रारत्नम् । दृष्टं च पूर्वदृष्टं [illegible] कुण्डलयुगलम् ।
ध्याता च मे चिन्ता 'किमेतत्कुण्डलयुगम्' इति अथान्तरं [illegible]
प्रभा नन्दयन्ती । दृष्टं च तया मम हस्ते मुद्रारत्नम् । [illegible] वा,
[illegible] भावः । ततोऽहं [illegible] महात् । [illegible] च तया—
दृष्टमनेन कुण्डलयुगलम्, ततः किमत्र कर्तव्यम् । अथ मे लघुत्वम्,
प्रनष्ट एवाऽसि । ततो यावदेष [illegible] न लपथ नागच्छति तावद्
[illegible] । एवं [illegible], [illegible] तस्य कार्मणयोगं
प्रयुञ्जे । [illegible] योगः । [illegible]
[illegible] च [illegible] पुरोहितेन दृढवेदन ।
ततोऽहं [illegible] गृहम्, दृष्टा च [illegible] शरीरा जीवित-
मात्रशेषा नन्दयन्ती । तां तथाविधां दृष्ट्वा समुत्पन्ना मे चिन्ता, धिगस्तु
मायेन्द्रजालसदृशं जीवलोकम् । [illegible] च सगद्गदाक्षरं
भणिता मया—सुन्दरि ! किं तव बाधते ? [illegible] । ततो

समावन्नरूवो उण एस संसारो, किंविसिट्ठाणि वा इह सारीरमाणसाणि सुहदुक्खाणि अणुहवन्ति पाणिणो, को वा एत्थ संसारचारगविमोयणसमत्थो भयवं ! धम्मो त्ति ? । धम्मघोसेण भणियं—वच्छ ! सुण, ज तए पुच्छियं—

एत्थ ताव चउगइसमावन्नरूवो संसारो । गईओ पुण इमाओ । तं जहा—नरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई । सुहदुक्खचिन्ताए पुण, कुओ संसारसमावन्नाणं जाइजरामरणपीडियाण रागाइदोसगहियाणं विसयविसावहियचेयणाणं च सत्ताणं सुहं ति ? । न किंचि सुहं, बहुं च दुक्खं । एत्थ मे सुण नायं—

जह नाम कोइ पुरिसो घणियं दालिद्ददुक्खसंतत्तो ।
मोत्तूणं नियं देसं परदेसं गन्तुमारद्धो ॥५७॥
लंघेऊण य देसं गामागरनयरपट्टणसणाहं ।
थेवदियहेहि नवरं कहंचि पन्थाउ पब्भट्ठो ॥५८॥

पत्तो य साल-सरल-तमाल-तालालि-बउल-तिलय-निचुल-अंकोल्ल-कलम्ब-वञ्चुल-पलास-सल्लई-तिणिस-निम्ब-कुडय-नग्गोह-खइर-

---

समापन्नरूपः पुनरेष संसारः, किंविशिष्टानि वा इह शारीरमानसानि सुखदुःखानि अनुभवन्ति प्राणिनः, को वाऽत्र संसारचारकविमोचनसमर्थो भगवन् ! धर्म इति ? धर्मघोषेण भणितम्—वत्स ! शृणु यत्त्वया पृष्टम्—

अत्र तावच्चतुर्गतिसमापन्नरूपः संसारः । गतयः पुनरिमाः । तद्यथा—नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुजगतिः, देवगतिः । सुखदुःखचिन्तया पुनः, कुतः संसारसमापन्नानां जातिजरामरणपीडितानां रागादिदोषगृहीतानां विषयविषापहृतचेतनानां च सत्त्वानां सुखम्—इति ? न किंचित्सुखम्, बहु च दुःखम् । अत्र मम शृणु ज्ञातम्—

यथा नाम कोऽपि पुरुषो भृश दारिद्र्यदुःखसंतप्तः ।
मुक्त्वा निजं देशं परदेशं गन्तुमारब्धः ॥५७॥
लङ्घित्वा च देशं ग्रामाकरनगरपत्तनसनाथम् ।
स्तोकदिवसैर्नवरं कथंचित्पथः प्रभ्रष्टः ॥५८॥

प्राप्तश्च साल-सरल-तमाल-तालालि-बकुल-तिलक-निचुला-ऽङ्कोल्ल-कदम्ब-वञ्जुल-पलाश-सल्लकि-तिनिश-निम्ब-कुटज-न्यग्रोध-खदिर-

जइ नाम कहवि एयं रवितुरयखुरग्गच्छिन्नघणपत्तं ।
नग्गोहमारुहेज्जा छुट्टेज्ज तओ गइन्दस्स ॥५९॥
इय चिन्तिऊण भीओ कुससूईभिन्नपायतलमग्गो ।
वेगेण धाविऊणं वियडं वडपायवं पत्तो ॥६०॥
तं पेच्छिउं विसण्णो नग्गोहं गयणगोयराणं पि ।
दुल्लंघणिज्जमुत्तुंगखन्धमारुहिउमसमत्थो ॥६१॥
ताव वणदुट्ठहत्थि मन्थरगण्डालिजालपामुक्कं ।
हुलियं समल्लियन्तं दट्ठुं वडपायवुद्देसं ॥६२॥
अब्भहियभयपवेविरसव्वंगो वुण्णवयणतरलच्छं ।
एत्तो इओ नियन्तो पेच्छइ कूवं तणोछन्नं ॥६३॥
अह मरणभीरुएणं नग्गोहासन्नजिण्णकूवम्मि ।
अप्पा निरावलम्बं मुक्को खणजीवलोहेण ॥६४॥
उत्तुंगभित्तिजाओ सरथम्भो तम्मि तत्थ य विलग्गो ।
पडणाभिघायकुविए पेच्छइ य भुयंगमे भीमे ॥६५॥

यदि नाम कथमप्येत रवितुरगखुराग्रच्छिन्नघनपत्रम् ।
न्यग्रोधमारोहेय मुच्येय ततो गजेन्द्रात् ॥५९॥
इति चिन्तयित्वा भीतः कुशसूचिभिन्नपादतलमार्गः ।
वेगेन धावित्वा विकटं वटपादपं प्राप्तः ॥६०॥
स प्रेक्ष्य विषण्णो न्यग्रोधं गगनगोचराणामपि ।
दुर्लङ्घनीयमुत्तुङ्गस्कन्धमारोढुमसमर्थः ॥६१॥
तावद् वनदुष्टहस्तिनं मन्थरगण्डालिजालप्रमुक्तम् ।
हुलितं (शीघ्रं) समालीयमानं दृष्ट्वा वटपादपोद्देशम् ॥६२॥
अभ्यधिकभयप्रवेपमानसर्वाङ्गस्त्रस्तवदनतरलाक्षम् ।
इत इतो गच्छन् पश्यति कूपं तृणोच्छन्नम् ॥६३॥
अथ मरणभीरुकेन न्यग्रोधासन्नजीर्णकूपे ।
आत्मा निरावलम्बं मुक्तः क्षणजीवलोभेन ॥६४॥
उत्तुङ्गभित्तिजातः शरस्तम्भस्तस्मिन् तत्र च विलग्नः ।
पतनाभिघातकुपितान् पश्यति च भुजङ्गमान् भीमान् ॥६५॥

चउसु वि तडीसु वरिए विसलवसंवलियनयणसिहिजाले
उब्भडफडाकराले पवेल्लिरंगे डसिउकामे ॥६६॥
फुंकारपवणपिसुणियमवयच्छियवयणमयगरमहो य ।
दिग्गयकरोरुकायं कसिणं रत्तच्छिबीभच्छं ॥६७॥
जावेसो सरथम्भो ताव महं जीवियं ति चिन्तंतो ।
अवयच्छइ उद्धमुहो पेच्छइ य सुतिक्खदाढिल्ले ॥६८॥
धवलकसिणे य तुरियं दुवे तहिं मूसए महाकाए ।
निच्चं वावडवयणे छिन्दन्ते तस्स मूलाइं ॥६९॥
ताव वणवारणेण य विज्झाइं नरं अपावमाणेणं ।
कुविएण विइण्णाइं धणियं नग्गोहरुक्खम्मि ॥७०॥
संचालियम्मि तम्मि य अवडोवरि वियडसाहसंभूयं ।
खुडिऊण तम्मि पडियं महुजालं जिण्णकूवम्मि ॥७१॥
तो कुवियदुट्ठमहुयरिनियरडसिज्जन्तसव्वगत्तस्स ।
सीसम्मि निवडिया कह वि नवरं जोएण महुबिन्दू ॥७२॥

चतसृष्वपि तटीषु दृप्तान् विपलवशवलितनयनशिखिजालान् ।
उद्भटस्फटाकरालान् प्रवेल्लमानाङ्गान् दंशितुकामान् ॥६६॥
फुत्कारपवनपिशुनित प्रसारितवदनमजगरमधश्च ।
दिग्गजकरोरुकाय कृष्ण रक्ताक्षिबीभत्सम् ॥६७॥
यावदेष शरस्तम्भस्तावन्मम जीवितमिति चिन्तयन् ।
अवकाशते ऊर्ध्वमुख. पश्यति च सुतीक्ष्णदाढावतः ॥६८॥
धवलकृष्णो च त्वरित द्वौ तत्र मूषको महाकायौ ।
नित्य व्यापृतवदनौ छिन्तस्तस्य मूलानि ॥६९॥
तावद् वनवारणेन च अभियातनानि नरमप्राप्नुवता ।
कुपितेन वितीर्णानि भृशं न्यग्रोधवृक्षे ॥७०॥
संचालिते तस्मिंश्च अवटोपरिविकटशाखासंभूतम् ।
त्रुटित्वा तस्मिन् पतित मधुजाल जीर्णकूपे ॥७१॥
ततः कुपितदुष्टमधुकरीनिकरदश्यमानसर्वगात्रस्य ।
शीर्षे निपतिताः कथमपि नवर योगेन ...

ओयलिऊण य वयणं कहवि पविट्ठा उ उत्तिमंगाओ ।
खणमासाइउमिच्छइ पुणो वि अन्ने निवडमाणे ॥७३॥
अगणेउमयगरोरगकरिमूसयविलयमहुयरिभयाइं ।
महुबिन्दुरसासायणगेहिवसा हरिसिओ जाओ ॥७४॥
भवियजणमोहविउडणपच्चलमच्चत्थमियमुदाहरणं ।
परिगप्पियमेयस्स य उवसंहारं निसामेह ॥७५॥
जो पुरिसो सो जीवो चउगइभमणं च रण्णपरियडणं ।
वणवारणो य मच्चू निसायरिं जाण तह य जरं ॥७६॥
वडरुक्खो उण मोक्खो मरणगइन्दभयवज्जिओ नवरं ।
आरुहिउं विसयाउरनरेहि न य सक्कणिज्जो त्ति ॥७७॥
मणुयत्तं पुण कूवो भुयंगमा तह य होन्ति उ कसाया ।
खइओ जेहि मणुस्सो कज्जाकज्जाइं न मुणेइ ॥७८॥
जो वि य पुण सरयम्भो सो जीयं जेण जीवइ जीवो ।
तं किण्हधवलपक्खा खणन्ति वरमुन्दुरसमाणा ॥७९॥

अवतीर्य च वदनं कथमपि प्रविष्टास्तूत्तमाङ्गात् ।
क्षणमास्वादितुमिच्छति पुनरपि अन्यान् निपततः ॥७३॥
अगणयित्वाऽजगरोरगकरिमूषकविलयमधुकरीभयानि ।
मधुबिन्दुरसास्वादनगृद्धिवशाद् हर्षितो जातः ॥७४॥
भविकजनमोहविकुटनप्रत्यलमत्यर्थमिदमुदाहरणम् ।
परिकल्पितमेतस्य च उपसंहारं निशामयत ॥७५॥
यः पुरुषः स जीवः चतुर्गतिभ्रमणं चारण्यपर्यटनम् ।
वनवारणश्च मृत्युर्निशाचरीं जानीहि तथा च जराम् ॥७६॥
वटवृक्षः पुनर्मोक्षो मरणगजेन्द्रभयवर्जितो नवरम् ।
आरोढुं विषयातुरनरैः न च शकनीय इति ॥७७॥
मनुजत्वं पुनः कूपो भुजङ्गमास्तथा च भवन्ति तु कषायाः ।
खादितो यैर्मनुष्यः कार्याकार्यं न जानाति ॥७८॥
योऽपि च पुनः शरस्तम्बः स जीवितं येन जीवति जीवः ।
तत्कृष्णधवलपक्षौ खनतो वरमुन्दुरसमानौ ॥७९॥

सत्थ खन्ती नाम सम्मग्नाणपुव्वगं वत्थुसहावालोयणेण कोहस्स अणुदयो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं। एवं मद्दवया वि माणस्स अणुदओ उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं। एवमज्जवया वि मायाए अणुदयो, उदयपत्ताए वा विफलीकरणं। एवं मुत्ती वि लोहस्स अणुदयो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं ति। तवो पुण दुविहो-बाहिरो अब्भिन्तरो य। बाहिरओ अणसणाइगो। भणियं च-

अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवओ रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥८६॥

अब्भिन्तरओ पुण पायच्छित्ताइओ। तं जहा-

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो वि य अब्भिन्तरओ तवो होइ ॥८७॥

संजमो य सत्तरसविहो। भणियं च-

पञ्चासवविरमणं पञ्चिन्दियनिग्गहो कसायजओ।
दण्डत्तिगविरई संजमो उ इय सत्तरसभेओ ॥८८॥

तत्र क्षान्तिर्नाम सम्यग्ज्ञानपूर्वकं वस्तुस्वभावलोचनेन क्रोधस्यानुदयः, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम्। एवं मार्दवमपि मानस्यानुदयः, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम्। एवं आर्जवमपि मायाया अनुदयः, उदयप्राप्ताया वा विफलीकरणम्। एवं मुक्तिरपि लोभस्यानुदयः, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम्। तपः पुनर्द्विविधम्-बाह्यः आभ्यन्तरश्च। बाह्योऽनशनादिकः। भणितं च-

अनशनमूनोदरिका वृत्तिसंक्षेपो रसत्यागः।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥८६॥

आभ्यन्तरः पुनः प्रायश्चित्तादिकः। तद् यथा-

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि च आभ्यन्तरः तपो भवति ॥८७॥

संयमश्च सप्तदशविधः। भणितं च-

पञ्चाश्रयविरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः।
दण्डत्रिकविरतिः संयमस्तु इति सप्तदशभेदः ॥८८॥

संपायणरई जहोइयगुणजुत्तो रायरिसी समुववाओ त्ति। एवं च अच्च-न्ताणुरत्तं च पियपणइणि पिव मेइणि भुंजन्तस्स अइक्कन्तो कोइ कालो। एत्यन्तरम्मि सो अग्गिम्मतावसदेवो तओ विज्जुकुमारकायाओ चविऊणं संसारमाहिण्डिय अणन्तरभवे य किंपि बालतवविहाणं काऊण मोत्तूण तं देहं पुव्वकम्मवासणादिवागदोसेण समुप्पन्नो कुसुमावलीए कुच्छिसि। दिट्ठो तीए सुमिणओ। जहा-पविट्ठो मे उयरं भुयगमो, तेणं च निग्गच्छिऊण डक्को राया निवडिओ सिंघासणाओ। तं च दट्ठूण ससज्झसा विय विउद्धा कुसुमावली। अमंगलं ति कलिऊण न साहिओ तीए दइयस्स। पवड्ढमाणगब्भा य तद्दोसओ चेव न बहु मन्नए नरवइं। राया य अहियं सिणेहपरवसो। भणिया य परियणेण 'सामिणि! न जुत्तमेयं' ति। तीए भणियं-'किमहं करेमि'?। साहियं परियणेणं-जहा देवं न बहु मन्नसि त्ति। तीए भणियं-नूणं एस गब्भदोसो भवि-स्सइ। अन्नहा कहमहं अज्जउत्तं न बहु मन्नेमि। अन्नया समुप्पन्नो से डोहलो, जहा-इमस्स चेव राइणो अन्ताणि खाइज्ज त्ति। चिन्तियं च तीए-पावयारी मे एस गब्भो, ता अलं इमिणा। इत्थीसहावओ य भत्तार-

---

सपादनरतिर्यथोचितगुणयुक्तो राजर्षिः समुपजात इति। एवं चात्यन्ता-नुरक्ता च प्रियप्रणयिनीमिव मेदिनीं भुञ्जतोऽतिक्रान्तः कोऽपि कालः। अत्रान्तरे सोऽग्निशर्मतापसदेवस्ततो विद्युत्कुमारकायाच्च्युत्वा संसारमा-हिण्ड्य अनन्तरभवे च किमपि बालतपोविधानं कृत्वा मुक्त्वा तं देहं पूर्वक-र्मवासनाविपाकदोषेण समुत्पन्नः कुसुमावल्याः कुक्षौ। दृष्टस्तया स्वप्नः। यथा-प्रविष्टो मे उदरं भुजङ्गमः, तेन च निर्गत्य दष्टो राजा निपतितो सिंहासनात्, तं च दृष्ट्वा साध्वसा इव विबुद्धा कुसुमावली। अमङ्गल-मिति कलित्वा न कथितस्तया दयितस्य। प्रवर्धमानगर्भा च तद्दोषत एव न बहु मन्यते नरपतिम्। राजा चाधिकं स्नेहपरवशः। भणिता च परिजनेन-स्वामिनि! न युक्तमेतदिति। तया भणितम्-किमहं करोमि?। कथितं परिजनेन-यथा देवं न बहु मन्यसे इति। तया भणितम्-नूनमेष गर्भदोषो भविष्यति। अन्यथा कथमहमार्यपुत्रं न बहु मन्ये। अन्यदा समु-त्पन्नस्तस्या दोहदः, यथा-अस्यैव राज्ञोऽन्त्राणि खादामीति। चिन्तितं च तया-पापकारी मम एष गर्भः, तदलमनेन। स्त्रीस्वभावतश्च भर्तृ-

स्नेहओ य समुप्पन्नो से ववसाओ, जहा पाडेमि एयं ति । तओ आलोचिऊण पहाणपरियणं कज्जगरुययाए य अणुन्नाया तेण गब्भपरिसाडणं काउमारद्धा । न य सो निकाइयकम्मदोसेण पडइ त्ति । तओ सा अणेगोसहपाणेण डोहलयासंपत्तीए य परिदुब्बला जाया । पुच्छिया य राइणा-सुन्दरि ! किं ते न संपज्जइ, केण वा ते खण्डिया आणा, किं वा मए पडिकूलमासेवियं, जं निव्वेएण तुमं अप्पोयगा विव कुमुइणी विव झिज्जसि त्ति ? । तओ पडिहियपलद्धनेहं भणियं कुसुमावलीए-अज्जउत्त ! ईइसो मे निव्वेओ, जेण चिंतेमि 'अत्ताणयं वावाएमि' त्ति । राइणा भणियं-सुन्दरि ! किंनिमित्तो त्ति ? । कुसुमावलीए भणियं-अज्जउत्त ! भागधेयाणि मे पुच्छसु त्ति भणिऊण बाहजलभरियलोयणा सगग्गया संवुत्ता । तओ राइणा 'महन्तो से निव्वेओ, ता अलं ताव इमिणा कहाए चेव, अहं एयं अक्खिवामि' त्ति चिन्तिऊण अक्खित्ता कहा, कओ अन्नो पसंगो । पुणो य से समाहूओ मयणलेहापमुहो परियणो, सबहुमाणं च भणिओ राइणा । किं जुत्तं तुम्हाणं सुणियनिबन्धणाणं पि एयं कसिणपक्खचन्दलेहं व परिखिज्जमाणि देविं उवेक्खिउं ति । न य असज्झवत्थुविसओ एस निव्वेओ, जओ

स्नेहतश्च समुत्पन्नस्तस्य व्यवसायः, यथा पातयाम्येतमिति । तत आलोच्य प्रधानपरिजनं कार्यगुरुतयाऽनुज्ञाता तेन गर्भपरिशाटनं कर्तुमारब्धा । न च सनिकाचितकर्मदोषेण पतवीति । ततः साऽनेकौषधपानेन दोहदासंप्राप्त्या च परिदुर्बला जाता । पृष्टा च राज्ञा-सुन्दरि ! किं ते न संपद्यते, केन वा तव खण्डिताऽऽज्ञा, किं वा मया प्रतिकूलमासेवितम्, यद् निर्वेदेन त्वमल्पोदका इव कुमुदिनी एवं क्षीतसे इति । तत. प्रतिहृदयलब्धस्नेहं भणितं कुसुमावल्या-आर्यपुत्र ! ईदृशो मे निर्वेदः, येन चिन्तयामि 'आत्मानं व्यापादयामि' इति । राज्ञा भणितम्-सुन्दरि ! किंनिमित्त इति ? । कुसुमावल्या भणितम्-आर्यपुत्र ! भागधेयानि मम पृच्छ इति भणित्वा बाष्पजलभृतलोचना सगद्गदा संवृत्ता । ततो राज्ञा 'महान् तस्य निर्वेदः, ततोऽलं तावदनया कथया एव, अहमेतामाक्षिपामि' इति चिन्तयित्वाऽऽक्षिप्ता कथा, कृतोऽन्यः प्रसङ्गः । पुनश्च तस्याः समाहूतो मदनलेखाप्रमुखः परिजनः सबहुमानं च भणितो राज्ञा । किमुक्तं युष्माकं श्रुतनिबन्धनानामपि एवं कृष्णपक्षचन्द्रलेखामिव परिक्षीयमाणां [illegible] ? । न चासाध्यवस्तुविषय एव निर्वेदः, यतो

जीवलोयसारभूया मे देवी । किं च तं कज्जं, जं मे पाणेसु धरन्तेसु चेव देवीए न संपज्जइ त्ति । मयणलेहाए भणियं-महाराय ! एवमेव; नवरमिन्दीवरमुग्धो अविवेगो चेव केवलं एत्थ अवरज्झइ । ता सुणउ महाराओ । महाराय ! न एयमियाणि वि काहिउ पारीयइ, तहा वि 'न अन्नो उवाओ' त्ति काऊण कहीयइ । राइणा भणियं-अणुकूलमेव सममाण; च उवायसयं तं सयमेव कीरइ, इयर निवेइयइ त्ति, ता कहेउ भोई, को एत्थ परमत्थो त्ति ? । तओ मयणलेहाए समग्गासाए विय मणिविलासओ गब्भसंभवाओ दोहलयदोसेण गब्भसाडणावगाणो ववहारो त्ति । राइणा चिन्तियं-अहो ! से देवीए ममोवरि अणाहारत्तो नेहो, जेणावत्थन्तरम्मि वि न बहु मयइ त्ति । अणपाडणेण य दोहलयस्स मा गब्भविवत्ती से भविस्सइ त्ति उवायं चिन्तेमि । चिन्तिऊण य तेण 'अवरे काणोविय भणिस्सामि, न तहा कायव्वं' त्ति भणिऊण देवीविसज्जिओ । तहा-विओ महसायरो नाम महामन्ती । सिट्ठो इमस्स एस वुत्तन्तो । चिन्तियं च तेणं, भणियं देवीए पच्छिमं । अहवा मा न इमिणा उवाएण तीसे वि दोहलो संपाडइ । ता एस ताव एत्थ उवाओ-कुसुमवासणगराइणो कारेमा कम्मा

जीवलोकसार-भूता मे देवी । किं च तद् कार्यं, यन्मम प्राणेषु धारयत्सु एव देव्या न सम्पद्यते इति । मदनलेखया भणितम्- महाराज ! एवमेव, नवरं इन्दीवरमुग्धोऽविवेक एव केवलमत्रापराध्यति । तच्छृणोतु महाराजः । महाराज ! नैवमिदानीमपि कर्तुं पार्यते, तथापि नान्य उपाय इति कृत्वा कथ्यते । राजा भणितम्-अनुकूलमेव सम्मानात्, [illegible] सयमेव क्रियते, इतरद् निवेद्यते इति । ततः कथयतु भवती, कोऽत्र परमार्थ इति ? । ततो मदनलेखया [illegible] गर्भसम्भवाद् दोहददोषेण गर्भपातनावगाना [illegible] इति । राजा चिन्तितम्-अहो ! अस्या देव्या ममोपरि अनाहार्यः स्नेहः, [illegible] न बहु मन्यते इति । अनापादनेन च दोहदस्य मा गर्भविपत्तिरस्या भविष्यतीति उपायं चिन्तयामि । चिन्तयित्वा च तेन 'अपरे [illegible] भणिष्यामि, न तथा कर्तव्यम्' इति भणित्वा देवी विसर्जिता । तथा [illegible] मतिसागरो नाम महामन्त्री । शिष्टोऽस्यैष वृत्तान्तः । चिन्तितं च तेन, [illegible] देव्याः [illegible] । अथवा मा न अनेन उपायेन तस्या अपि दोहदः [illegible] । तदेष तावदत्र उपायः-कुसुमवासनगरराज्ञो [illegible]

त्ति ? । तओ ससज्झसाए वेवमाणीए भणियं माहवियाए 'देव ! न किंचि' त्ति । एत्थन्तरम्मि रुइयं बालेण । तओ दारयं दट्ठूण कुविएणेव भणियं राइणा- आ पावे ! किमेयं ववसियं ति ? । तओ थीसहावकायरयाए साहिओ सयलवुत्तन्तो माहवीयाए । तओ राइणा गहिओ दारओ । चिन्तियं च णेणं, न एस एयाण हत्थे पुणो भविस्सइ त्ति । समप्पिओ धम्मधावीणं साविया(ओ) य ताओ । जइ कहवि दारयस्स पमाओ भविस्सइ, ता विणट्ठा मम हत्थाओ तुब्भे । निब्भच्छिया देवी मइसायरो य, कारावियं च देवीमन्तिचित्ताणुरोहिणा ईसि पच्छन्नभूयं तहाविहं वद्धावणयं । एवं च अइक्कन्तो कोइ कालो । पइट्ठावियं नाम दारयस्स आणन्दो त्ति । वड्ढिओ एसो, गाहिओ कलाकलावं । पुव्वकम्मदोसेण नरवइं पइ विरत्तचित्तो । दिन्नं से जुवरज्जं ॥

अन्नया पच्चन्तवासी आडविओ दुम्मई नाम सामन्तराया दुग्गभूमिबलगव्विओ विरत्तओ सीहरायस्स । निवेइयं राइणो । विसज्जिओ तेण तस्सुवरिं विक्खेवो । सभूमिबलगुणेण य सो पराजिओ तेण । निवेइए य कुविओ राया, पयट्टो सयमेव अमरिसेण । तओ पयाणमतियं । एत्थन्तरम्मि

इति ? । ततः ससाध्वसया वेपमानया भणितं माधविकया 'देव ! न किञ्चिद्' इति । अत्रान्तरे च रुदितं बालकेन । ततो दारकं दृष्ट्वा कुपितेनेव भणितं राज्ञा—आः पापे ! किमेतद् व्यवसितम् इति ? । ततः स्त्रीस्वभावकातरतया कथितः सकलवृत्तान्तो माधविकया । ततो राज्ञा गृहीतो दारकः । चिन्तितं च तेन, नैष एतासां हस्ते पुन (र्जीविष्यति) भविष्यतीति समर्पितोऽन्यधात्रीणाम्, शापिताश्च ताः । यदि कथमपि दारकस्य प्रमादो भविष्यति, ततो विनष्टा मम हस्ताद् यूयम् । निर्भर्त्सिता देवी मतिसागरश्च, कारितं च देवीमन्त्रिचित्तानुरोधिना ईषत्प्रच्छन्नभूतं तथाविधं वर्धापनकम् । एवं चातिक्रान्तः कोऽपि कालः । प्रतिष्ठापितं नाम दारकस्य आनन्द इति । वर्धित एषः, ग्राहितः कलाकलापम् । पूर्वकर्मदोषेण नरपतिं प्रति विरक्तचित्तः । दत्तं तस्य यौवराज्यम् ॥

अन्यदा प्रत्यन्तवासी आटविको दुर्मतिर्नाम सामन्तराजो दुर्गभूमिबलगर्वितो विरक्तः सिंहराजस्य । निवेदितं राज्ञः । विसर्जितस्तेन तस्योपरि विक्षेपः । स्वभूमिबलगुणेन च स पराजितस्तेन । निवेदिते च कुपितो राजा प्रवृत्तः स्वयमेवामर्षेण । ततः प्रयाणकमिदम् । अत्रान्तरे

सिन्धुनईपुलिणे परिवहन्ते पयाणए करिवरोवरिट्ठिएणं जलाओ ना-
इदूरम्मि 'अहो कट्ठं' ति जंपिरं दिट्ठं मणुयवन्दं । गओ तं चेव भूमि-
भागं राया जाव दिट्ठो तेण महाकाओ अइकसिणदेहच्छवी विणित-
नयणविसजालाभासुरो गहियरसन्तमण्डुक्कगासो भयाणयवियरियाणण-
दुप्पेच्छो दुययरपवेल्लिरंगो महया कुररेण गसिज्जमाणो जुण्णभुयंगमो,
कुररो वि दिग्गयकरोदराएण रत्तच्छबीभच्छएणं अयगरेण । जहा जहा
य अयगरो कुररं गसइ, तहा तहा सो वि जुण्णभुयंगमं, जुण्णभुयंगमो
वि य रसन्तमण्डुक्कयं ति । तं चेव एयविहं जीवलोयसहावविब्भमं मूढ-
हिययाणन्दकारयं सप्पुरिसनिव्वेयहेउं वइयरमवलोइऊण विसण्णो राया।
चिन्तियं च णेणं, हन्त ! एवं ववत्थिए को उण इह उवाओ ? । गसिय-
प्पाओ कुररो अयगरेणं,कुररेण वि भुयंगमो,भुयंगमेण मण्डुक्को त्ति कण्ठ-
गयपाणा वि एते न अन्नोन्नं विरमन्ति, अवि य अहिययरं पयत्तन्ति, न य
अन्नयरविणासणाए मोयाविया एए संपयं जीवन्ति । ता किं इमिणा अपडि-
यारगोयरेण वत्थुणा पुलोइएणं । तज्जाविओ मत्तवारणो, गओ आवासणि-
याभूमिं, आवासिओ सह कडएणं, कयं उचियकरणिज्जं । तओ अद्धसोणा

सिन्धुनदीपुलिने परिवहमाने प्रयाणके करिवरोपरिस्थितेन जलाद् नाति-
दूरे 'अहो कष्टम्' इति जल्पद् दृष्टं मनुजवृन्दम् । गतस्तमेव भूमिभा-
गं राजा यावद् दृष्टस्तेन महाकायोऽतिकृष्णदेहच्छविर्विनिर्यन्नयनविषज्वा-
लाभासुरो गृहीतरसद्मण्डूकग्रासो भयानकविवरिताननदुष्प्रेक्ष्यो द्रुततर-
प्रवेपमानाङ्गो महता कुररेण ग्रस्यमानो जीर्णभुजङ्गमः, कुररोऽपि
दिग्गजकरोदरकायेन रक्ताक्षबीभत्सेनाजगरेण । यथा यथा च अजगरः
कुररं ग्रसते, तथा तथा सोऽपि जीर्णभुजङ्गमम्, जीर्णभुजङ्गोऽपि
रसद्मण्डूकमिति । तदेव एवंविधं जीवलोकस्वभावविभ्रमं मूढहृदयानन्द-
कारकं सत्पुरुषनिर्वेदहेतुं व्यतिकरमवलोक्य विषण्णो राजा । चिन्तितं
तेन, हन्त ! एवं व्यवस्थिते कः पुनरिहोपायः ? ग्रसितप्रायः कुररोऽज-
गरेण, कुररेणापि भुजङ्गमेनापि मण्डूक इति । कण्ठगतप्राणा अप्ये-
तेऽन्योन्यं न विरमन्ति, अपि चाधिकतरं प्रवर्तन्ते, न चान्यतरविनाश-
नया मोचिता एते साम्प्रतं जीवन्ति । तत्किमनेनाप्रतीकारगोचरेण
वस्तुना प्रलोकितेन । तद् नापितो मत्तवारणः, गत आवासनि-
... आवासितः सह कटकेन, कृतमुचितकरणीयम् । ततोऽर्धक्षीणा-

ामिणीए सुत्तविउद्धो राया। अयगराइवइयरं सरिऊण चिन्तिउं
पत्तो। कहं-

आवायमेत्तमहुरा विवागविरसा विसोवमा विसया।
अबुहजणाण बहुमया विबुहजणविवज्जिया पावा ॥८९॥
एयाणमेस लोओ कएण मोत्तूण सासयं धम्मं।
सेवेइ जीवियत्थं विसं व पावं सुहाभिरओ ॥९०॥
दुक्खं पावस्स फलं नासओ पावस्स दुक्खिओ निच्चं।
सुहिओ वि कुणउ धम्मं धम्मस्स फलं वियाणन्तो ॥९१॥
मण्डुक्को इव लोओ तुच्छो इयरेण पन्नएणं व।
एत्थ गसिज्जइ सो वि हु कुररसमाणेण अन्नेण ॥९२॥
सो वि हु न एत्थ सवसो जम्हा अयगरकयन्तवसगो त्ति।
एवंविहे वि लोए विसयपसंगो महामोहो ॥९३॥

ता अलं मे अणेयदुक्खतरुबीयभूएण अहोपुरिसिगाविकारपाएणं रज्जेणं
त। रज्जं हि नाम पायालं पिव दुप्पूरं, जिण्णभवणं पिव सुलहविवरं,

---

ामिन्या सुप्तविबुद्धो राजा। अजगरादिव्यतिकरं स्मृत्वा चिन्तयितु
वृत्तः। कथम्-

आपातमात्रमधुरा विपाकविरसा विषोपमा विषयाः।
अबुधजनानां बहुमता विबुधजनवर्जिता पापाः ॥८९॥
एतेषामेव लोकः कृतेन मुक्त्वा शाश्वतं धर्मम्।
सेवते जीवितार्थी विषमिव पापं सुखाभिरतः ॥९०॥
दुःखं पापस्य फलं नाशको पापस्य दुःखितो नित्यम्।
सुखितोऽपि करोतु धर्मं धर्मस्य फलं विजानन् ॥९१॥
मण्डूक इव लोकस्तुच्छ इतरेण पन्नगेनेव।
अत्र ग्रस्यते सोऽपि खलु कुररसमानेनान्येन ॥९२॥
सोऽपि खलु नात्र स्ववशो यस्मादजगरकृतान्तवशग इति।
एवंविधेऽपि लोके विषयप्रसङ्गो महामोहः ॥९३॥

ततोऽलं मेऽनेकदुःखतरुबीजभूतेन अहोपुरुषिकाविकारप्रायेण राज्ये
ति। राज्यं नाम हि पातालमिव दुष्पूरम्, जीर्णभवनमिव सुलभविवरं

रज्जाहिसेयं तओ गमिस्सामि धम्मघोसगुरुसमीवं ति। एवं च चिन्तयन्तो अहिसेयदिणं पडिच्छमाणो चिट्ठइ ॥

इओ य पुव्वकयकम्मदोसओ अमुणियनरिन्दाहिप्पाओ घडिओ दुम्मइणा सह आणन्दकुमारो। मन्तियं च तेहिं 'कहंचि वञ्चणापओएण वावाएमो महारायं' ति। सुओ अहिसेयवुत्तन्तो। मिच्छाहिनिवेसेण सचित्तदुट्ठयाए य विवरीओ परिणओ आणन्दस्स। चिन्तियं च तेणं-नूणमहं मणेण इमिणा ववएसेण मारिउं ववसिओ। ता कहमहमेवं छलिज्जामि। अहवा सच्चए वि एयम्मि वुत्तन्ते अलं मे रज्जेण, जं मे एएण दिन्नं संपज्जइ। तं पुण सलाहणिज्जं, जमेयं वावाइऊण बला घेप्पइ ति। एत्थन्तरम्मि सद्दाविओ राइणा आणन्दो। जाव नेच्छइ आगन्तुं, तओ पडिहारदुइओ गओ कुमारभवणं राया। तेण वि य 'न इओ सुन्दरतरो पत्थाओ' त्ति कलिऊण पुव्वाणुसयदोसेण सहसा 'हण हण' त्ति भणिऊण उक्खायासिणा अकयपरिरक्खणोवाओ सुविसत्थचित्तो पडिहारं वावाइऊण गाढप्पहारीकओ राया। एत्थन्तरम्मि समुट्ठाइओ कलयलो, संजाओ नयरसेन्नसंखोहो, परिवेढिओ समन्तओ रायसाहणेण आणन्दो, पारद्धो

राज्याभिषेकं ततो गमिष्यामि धर्मघोषगुरुसमीपमिति। एवं चिन्तयन् अभिषेकदिनं प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ॥

इतश्च पूर्वकृतकर्मदोषतोऽज्ञातनरेन्द्राभिप्रायो घटितो दुर्मतिना सहानन्दकुमारः। मन्त्रितं च ताभ्यां 'कथंचिद् वञ्चनाप्रयोगेण व्यापादयामो महाराजम्' इति। श्रुतोऽभिषेकवृत्तान्तः। मिथ्याभिनिवेशेन स्वचित्तदुष्टतया च विपरीतः परिणत आनन्दस्य। चिन्तितं च तेन-नूनमहमनेन एतेन व्यपदेशेन मारितुं व्यवसितः। ततः कथमहमेवं वञ्च्ये। अथवा सत्येऽपि एतस्मिन् वृत्तान्ते अलं मे राज्येन, यन्मे एतेन दत्तं संपद्यते। तत्पुनः श्लाघनीयम्, यदेतं व्यापाद्य बलाद् गृह्यते इति। अत्रान्तरे शब्दापितो राज्ञा आनन्दः। यावद् नेच्छति आगन्तुम्, ततः प्रतीहारद्वितीयो गतः कुमारभवनं राजा। तेनापि च 'न इतः सुन्दरतरः प्रस्तावः' इति कलयित्वा पूर्वानुशयदोषेण सहसा 'घ्नत घ्नत' इति भणित्वा उत्खातासिनाऽकृतपरिरक्षणोपायः सुविश्वस्तचित्तः प्रतीहारं व्यापाद्य गाढप्रहारीकृतो राजा। अत्रान्तरे समुत्थितः कलकलः, संजातो नगरसैन्यसंक्षोभः, परिवेष्टितः समन्ततो राजसाधनेनानन्दः, प्रारब्ध

संगामो। तओ राइणा नियसरीरदोहग्गभएण धाविय सेन्नं। भणियं च णेण। किं भे इयाणि जुज्झिएणं? अहं ताव वावाइओ चेव दट्ठव्वो, मा एयं पि वावाएह, ता करेह रज्जाभिसेयं एयस्स, एस भे राय त्ति। एयन्तरम्मि समाणत्तो दुम्मई 'बन्धेहि णं निविडबन्धेहिं'। तओ 'जं कुमारो आणवेइ' त्ति भणिऊण आसन्नीभूओ य से दुम्मई। पाडिया कुलपुत्तया, निब्भच्छिओ नायरजणो। तओ बन्धाविऊण पच्चइयपुरिसेहिं सुगुत्तपरिरक्खणोवाओ कओ राया। अहिट्ठियं रज्जं, ठाविया ववत्थाओ, वसीकयं सामन्तमण्डलं। तओ अणुसयवसेण नेयाविओ नयरचारयं नरवई। तं च अच्चन्तनिम्महमाणपुरीसकलमलगन्ध फुडियभित्तिपसुत्तसिरीसिवं भिणिभिणायमाणमसयमच्छियाजालं दरिविवरमुहविणिग्गयमूसउक्करं उवरिविलम्बमाणोरगनिम्मोयं लूयातन्तुविरइयवियाणयं, वासहरं पिव दुस्समाए, लीलाभूमिं पिव अहम्मस्स, सहोयरं पिव सीमन्तयस्स, सहा विव सव्वदुक्खसमुदयाणं, वीसासभूमिं पिव मच्चुणो, सिद्धिखेत्तं पिव कयन्तस्स त्ति। तओ 'महाचारयं नीओ देवो' त्ति सोऊण सहसा विमुक्कक्कन्दभेरवं अणवरयनिवडमाणेहिं महल्लमुत्ता-

---

संग्रामः। ततो राज्ञा निजशरीरद्रोहभयेन धापित सैन्यम्। भणितं च तेन किं युष्माकमिदानीं युद्धेन, अहं तावद् व्यापादित एव द्रष्टव्यः, मा एतमपि व्यापादयत, ततः कुरुत राज्याभिषेकमेतस्य, एष युष्माकं राजेति। अत्रान्तरे समाज्ञप्तो दुर्मतिः 'बधान तं निबिडबन्धैः', ततो 'यत्कुमार आज्ञापयति' इति भणित्वाऽऽसन्नीभूतश्च तस्य दुर्मतिः। पातिताः कुलपुत्रकाः, निर्भर्त्सितो नागरजनः। ततो बन्धयित्वा प्रत्ययितपुरुषैः सुगुप्तपरिरक्षणोपायः कृतो राजा। अधिष्ठितं राज्यम्, स्थापिता व्यवस्थाः, वशीकृतं समान्तमण्डलम्। ततोऽनुशयवशेन नायितो नगरचारकं नरपतिः। तच्चात्यन्तनिर्मथ्यमानपुरीषकलमलगन्ध स्फुटितभित्तिप्रसुप्तसरीसृपं भणभणायमानमशकमक्षिकाजाल दरीविवरमुखविनिर्गतमूषकोत्कर उपरिविलम्बमानोरगनिर्मोक लूतातन्तुविरचितवितानकं, वासगृहमिव दुःषमायाः, लीलाभूमिरिवाधर्मस्य, सहोदरमिव सीमन्तकस्य, सभा इव सर्वदुःखसमुदयानाम्, विश्वासभूमिरिव मृत्योः, सिद्धिक्षेत्रमिव कृतान्तस्यैव। ततो 'महाचारकं नीतो देवः' इति श्रुत्वा सहसा विमुक्ताक्रन्दभैरवम् अनवरतनिपतद्भिर्महन्मुक्ता-

रज्जाहिसेयं तओ गमिस्सामि धम्मघोसगुरुसमीवं ति। एवं च चिन्तयन्तो अहिसेयदिणं पडिच्छमाणो चिट्ठइ ॥

इओ य पुव्वकयकम्मदोसओ अमुणियनरिन्दाहिप्पाओ घडिओ दुम्मइणा सह आणन्दकुमारो। मन्तियं च तेहिं 'कहंचि वञ्चणापओएण वावाएमो महारायं' ति। सुओ अहिसेयवुत्तन्तो। मिच्छाहिनिवेसेण सचित्तदुट्ठयाए य विवरीओ परिणओ आणन्दस्स। चिन्तियं च तेणं-नूणमहं मणेण इमिणा ववएसेण मारिउं ववसिओ। ता कहमहमेवं छलिज्जामि। अहवा सच्चए वि एयम्मि वुत्तन्ते अलं मे रज्जेण, जं मे एएण दिन्नं संपज्जइ। तं पुण सलाहणिज्जं, जमेयं वावाइऊण बला घेप्पइ त्ति। एत्थन्तरम्मि सद्दाविओ राइणा आणन्दो। जाव नेच्छइ आगन्तुं, तओ परिहारबुइओ गओ कुमारभवणं राया। तेण वि य 'न इओ सुन्दरतरो पत्थाओ' त्ति कलिऊण पुव्वाणुसयदोसेण सहसा 'हण हण' त्ति भणिऊण उक्खायासिणा अकयपरिरक्खणोवाओ सुवीसत्थचित्तो पडिहारं वावाइऊण गाढप्पहारीकओ राया। एत्थन्तरम्मि समुट्ठाइओ कलयलो, संजाओ नयरसेन्नसंखोहो, परिवेढिओ समन्तओ रायसाहणेण आणन्दो, पारद्ध

राज्याभिषेकं ततो गमिष्यामि धर्मघोषगुरुसमीपमिति। एवं चिन्तयन्नभिषेकदिनं प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ॥

इतश्च पूर्वकृतकर्मदोषतोऽज्ञातनरेन्द्राभिप्रायो घटितो दुर्मतिना सहानन्दकुमारः। मन्त्रितं च ताभ्यां 'कथंचिद् वञ्चनाप्रयोगेण व्यापादयामो महाराजम्' इति। श्रुतोऽभिषेकवृत्तान्तः। मिथ्याभिनिवेशेन स्वचित्तदुष्टतया च विपरीतः परिणत आनन्दस्य। चिन्तितं च तेन-नूनमहमनेन एतेन व्यपदेशेन मारयितुं व्यवसितः। ततः कथमहमेवं वञ्च्ये। अथवा सत्येऽपि एतस्मिन् वृत्तान्ते अलं मे राज्येन, यन्मे एतेन दत्तं संपद्यते। तत्पुनः श्लाघनीयम्, यदेतं व्यापाद्य बलाद् गृह्यते इति। अत्रान्तरे शब्दायितो राज्ञा आनन्दः। यावद् नेच्छति आगन्तुम्, ततः प्रतीहारद्वितीयो गतः कुमारभवनं राजा। तेनापि च 'न इतः सुन्दरतरः प्रस्ताव.' इति कलयित्वा पूर्वानुशयदोषेण सहसा 'जहि जहि' इति भणित्वा उत्खातासिनाऽकृतपरिरक्षणोपायः सुविश्वस्तचित्तः प्रतीहारं व्यापाद्य गाढप्रहारीकृतो राजा। अत्रान्तरे समुत्थितः कलकलः, संजातो नगरसैन्यसंक्षोभ., परिवेष्टित. समन्ततो राजसाधनेनानन्दः, प्रारब्धः

[illegible]

[illegible]

सर्वाविलक्षणादुपरिवर्तमानः सत्वानाप्तुविरपूर्वविरहेन, कानन इव कुसुमानु, मीनावृत इव जलधारेन, मृगेन्द्र इव सीमानतरेन, मृग इव नवजलधरदर्शने, कुसुम इव मलयानिलेन, विरमानकुल इव मधुपो, निर्धनं इव कठोरजन ति । तओ 'महाराअं मोदो देवो' त्ति पोडंण सहसा विमुक्तसअरवंदेव अणवरअणिवडमाणंसु महलगुला-

---

ग्रन्थः । ततो राजा विरतनिःशङ्कप्रदर्शनेन सोचित ... । भणित च देव किं पुष्पावलिकार्यो गुहव, अह भावद् स्मारिता एव इष्टका, मा एतस्यैः स्मापारस्य, ततः कुरु राज्याभिषेकेदान, एव पुष्पाक पदेहि । अथान्यो कमारको कुमैति: 'कथाम स निकटवर्ती., ततो 'कापुमार कालापयसि' इति भणितवानपर्यायुराय तत्र कुमैति. । पाठितः कुपुरुषाः, निर्भेत्सितो मारतम: । ततो कथयित्वा प्रत- निजुधैः पुरुषाविरचित्वाबाधः कृतो राजा । अधिष्ठित राज्यम्, रक्षिता स्वजना., कलिङ्गं कुमारमण्डलम् । ततोऽनुभवनवर्षम मादिनी ननरवारवं मरणाव. । मन्दारकञ्जनिर्भत्स्यमानतुरीय कनवार्थ स्फुटि- तबिलिमपुष्पनाभित्र मलमवायमानमवलदिवा नाना दर्शविवरमुक्त- विनिर्मुक्तपुवर्कोनवर उपरिविक्रममालाधरणनिमीत पुनातनुविरचितवि- तानकं, वानगृहमिव दुःखमायाः, श्रीनामृतिरिवाधर्मस्य, सहोदरमिव सीमन्तकस्य, सत्ता इव सर्वदुःखसमुदयानाम्, विरवालभूमिरिव मृत्योः, निद्रितेश्वमिव कृताक्षयव । ततो 'महाराजं भीतो देवः' इति श्रुत्वा सहसा विमुक्तराज्यभरेण अनवरतनिपतदश्रुसंहतमुक्ता-

हलवरिसेहिं जलकणवाहविन्दूहिं संवाइयहारसोहं देवलोएणं चेव परि-
मिलाणदेहं निरुज्झमाणं पि नियउत्तपुरिसेहिं मंगलमणिवलयसणाहमालु-
हाम सभुयाहिं पणामो पेल्लिऊण से उरपेट्टकुट्टणुज्जयं तओ य मझ-
घरनिग्गमियरागेणं मसणमाऊरियाणणं परियत्तकुडिलभावत्तणेण विव
'अदंसणीया देवावत्थ' त्ति मूयगेहिं विव लम्बालएहिं निरुद्धनयणं
पसरमेव पत्तं कुसुमावलीसमुहमन्तेउरं ति। दिट्ठो य तेण कालसोहण-
नियलमापूरिसो नरवई। तओ असोयपल्लवागारेहिं हत्थेहिं 'अणु-
चियसेवणबहुलो संसारो' त्ति दंसयन्तं विव हारलयावहणनिव्वेय-
विव वच्छत्थलं ताडयन्तं अहियपरमक्कन्दिउं पवत्त त्ति। तओ राइणा
वारियगणेहि य कहकहवि निवारिया। य भणियं य राइणा—किमणेण
पाणमेत्तफलेण अहम्माणुबन्धिणा य सोएणं। अइबहुविचित्तरूवो खु एस
संसारो, खेलणयभूया इमस्स सव्वे सरीरिणो, दुन्निवारो य पसरो पुव्वक-
यकम्मस्स, जलहरन्तरविणिग्गयसोयामणीवलयचञ्चला लच्छी, सुविण-
समो संगमो। एवमवसाणाणि एत्थ रागविलसियाणि। ता किमेइणा अवि-
वेयजणाणुसारिसेण पलवियएण ?। पत्तमेव तुम्हेहिं जीवलोयसारभूयं

फलसहस्रैरश्रुजलबाष्पबिन्दुभिः संवादितहारशोभं देवलोकेनेव परि-
म्लानदेहं निरुध्यमानमपि नियुक्तपुरुषैः मङ्गलमणिवलयसनाथबाहो-
द्दाम स्वभुजाभिर्बलात् पीडयित्वा तान् उरःपेट्टकुट्टनोद्यतं तथा च मधु-
चिरधरणीपरिष्वङ्गकेनेव श्वाससमापूरिताननं परिवर्तकुटिलभावत्वेने-
व 'अदर्शनीया देवावस्था' इति मूकैरिव लम्बालकैर्निरुद्धनयन-
प्रसरं धारकमेव प्राप्तं कुसुमावलीसमुखमन्तःपुरम्-इति। दृष्टश्च
कालोद्गमनिगडसमापूरितो नरपतिः। ततोऽशोकपल्लवाकारैर्हस्तैः
'अनुचितासेवनबहुलः संसारः' इति दर्शयन्तमिव हारलतावहननिर्वे-
दमिव वक्षःस्थलं ताडयन्तमधिकतरमाक्रन्दितुं प्रवृत्तमिति। ततो
राज्ञा वारयद्भिश्च कथंकथमपि निवारितम्। भणितं राज्ञा—किमनेना-
यासमात्रफलेन अधर्मानुबन्धिना च शोकेन ?। अतिबहुविचित्ररूपः
खलु एष संसारः, खेलकभूता अस्य सर्वे शरीरिणः, दुर्निवारश्च प्रसरः
पूर्वकृतकर्मणः, जलधरान्तरविनिर्गतसौदामिनीवलयचञ्चला लक्ष्मीः,
स्वप्नसमः संगमः, एवमवसानानि अत्र रागविलसितानि। ततः किमे-
तेनाविवेकजनानुसदृशेन प्रलपितेन। प्राप्तमेव युष्माभिर्जीवलोकसारभू-

जिणवयणं। ता तं चेव अणुचिट्ठेह। न तं मोत्तूण अन्नो दुक्खक्खओ-वाओ त्ति। तओ तमेवमायण्णिय 'एवमेयं नऽन्नह'त्ति कलिऊण य अणुजाणाविऊण गुरवइं जीवियनिरवेक्खयाए बला देवाणन्दस्स गन्धव्वदत्ताए विज्जाहरसमणियाए सयासे पवन्ना पव्वज्जं ति ॥

इओ य पइदिणं कयत्थणाए वि कोहवसमगच्छमाणेण 'एत्तियमेत्तं मे जीवियं कालोइयं संपयमणसणं'ति पडिवन्नं राइणा। आरक्खियनिवेइयं आणन्दस्स, कुविओ एसो, पेसिओ तेण देवसम्मो नाम नियमहत्तरओ 'गच्छ भुञ्जावेहि'त्ति। वत्तव्वो य एसो 'अभुञ्जमाण नियमा वावाएमि'त्ति। गओ देवसम्मो, दिट्ठो तेण राया, भणिओ य—देव! दैव्ववसयाणं पाणिणं विसमा कज्जगइ त्ति। एसो य देव्वो नाम अणा-राहणीओ विणएण, अगुणग्गाही गुणीणं, अयाणओ समीहियस्स, केवल-मणत्थो जणाणं, मत्तहत्थि व्व सच्छन्दयारी, गंगापवाहो व्व उज्जुकुडिलो महाहवो व्व निवायदक्खो, विसपत्थि व्व माणुकूलो रसाणं, पडिकूलो य समीहियाणं, अणुकूलो असमीहियस्स। ता जइ वि एस एवंभूओ, तहावि पुरिसेण खणमवि न पुरिसयारो मोत्तव्वो त्ति। जेण महाराय! पुव्वो-

---

जिनवचनम्। तत्तदेवानुतिष्ठत, न तन्मुक्त्वाऽन्यो दुःखक्षयोपाय इति। ततस्तदेतदाकर्ण्य 'एवमेतद् नान्यथा' इति कलयित्वा चानुज्ञाप्य भर्तारं जीवितनिरपेक्षतया बलाद्देवानन्दस्य गन्धर्वदत्तया विद्याधरश्रमण्याः सकाशे प्रपन्ना प्रव्रज्येति।

इतश्च प्रतिदिन कदर्थनयाऽपि क्रोधवशमगच्छता 'एतावन्मात्रं मे जीवितं, कालोचितं साम्प्रतमनशनम्' इति प्रतिपन्नं राज्ञा। आरक्षकनिवेदितमानन्दस्य, कुपित एषः, प्रेषितस्तेन देवशर्मा नाम निजमहत्तरः 'गच्छ भोजय' इति। वक्तव्यश्चैव 'अभुञ्जान नियमाद् व्यापादयामि' इति। गतो देवशर्मा, दृष्टस्तेन राजा, भणितश्च—देव! दैववशगानां प्राणिनां विषमा कार्यगतिरिति। एष च दैवो नाम अनाराधनीयो विनयेन, अगुणग्राही गुणिनाम्, अज्ञः समीहितस्य, केवलमनर्थो जनानाम्, मत्तहस्तीव स्वच्छन्दचारी, गंगाप्रवाह इव ऋजुकुटिलः, महाहव इव निपातदक्षः, विषपथ्यरिव नानुकूलो रसानाम्, प्रतिकूलश्च समीहितानाम्, अनुकूलोऽसमीहितस्य। ततो यद्यपि एष एवंभूतः, तथाऽपि पुरुषेण क्षणमपि न पुरुषकारो मोक्तव्य इति। येन महाराज! पू

पज्जियाणं कम्माणं चेव एयं नामं देव्वो, तं च पुरिसयारजेयमेव वट्टइ त्ति। ता अवलम्बेउ देवो पुरिसयारं, करेउ आहारगहणं। जीवमाणो हि पुरिसो लहिऊणावयं अवस्सं देव! संपयं पावेइ त्ति। राइणा भणियं-भो देवसम्म! न मुक्को मए चेव अहाकालाणुरूवो पुरिसयारो। पडिवन्ना य भावओ पव्वज्जा। अओ न संपयाभिलासपरं मे चित्तं। उचियकालं च नाऊण पडिवन्नं अणसणं। अओ न आहारगहणं करेमि त्ति। तेण भणियं-अकीरमाणम्मि आहारगहणे सुओ ते कुप्पिस्सइ। राइणा भणियं-अकारणो से कोवो, सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति। तेण भणियं देव! विइयवुत्तन्तो चेव तुमं कुमारचरियस्स; ता मा ते पमायं-करिस्सइ। एयन्तरम्मि 'चिरायइ देवसम्मो' त्ति संजायासंकेणो घेत्तूण खग्गं आगओ आणन्दो। भणियं च तेण-जइ न आहारगहणं करेसि, ता इमिणा कयन्तजीहाणुकारिणा करवालेण सीसं ते छिन्दामि। राइणा भणियं-

जाणन्तो मरणन्तं देहावासं असासयमसारं।
को उव्विएज्ज नरवर! मरणस्स अवस्स गन्तव्वे ॥१४॥

पार्जितानां कर्मणामेवैतन्नाम् दैवम्, तच्च पुरुषाकारजेयमेव वर्तते इति। ततोऽवलम्बतां देवो पुरुषकारम्, करोतु आहारग्रहणम्। जीवन् हि पुरुषो लङ्घित्वाऽऽपदं अवश्यमेव सम्पदं प्राप्नोतीति। राजा भणितम्-भो देवशर्मन्! न मुक्त एव मया यथाकालानुरूपः पुरुषकारः, प्रतिपन्ना च भावतः प्रव्रज्या। अतो न संपदभिलाषपरं मे चित्तम्। उचितकालं च ज्ञात्वा प्रतिपन्नमनशनम्। अतो न आहारग्रहणं करोमि इति। तेन भणितम्-अक्रियमाणे आहारग्रहणे सुतस्तुभ्यं कुपिष्यति। राजा भणितम्-अकारणस्तस्य कोपः, सत्यप्रतिज्ञाः खलु तपस्विनो भवन्ति। तेन भणितम्-देव! विदितवृत्तान्त एव त्वं कुमारचरितस्य, ततो मा ते प्रमादं कार्षीत्। अत्रान्तरे 'चिरायते देवशर्मा' इति संजाताशंको गृहीत्वा खड्गमागत आनन्दः। भणितं च तेन-यदि नाहारग्रहणं करोषि ततोऽनेन कृतान्तजिह्वानुकारिणा करवालेन शीर्षं ते छिनद्मि। राज्ञा भणितम्-

जानन् मरणान्तं देहावासमशाश्वतमसारम्।
क उद्विजेत् नरवर! मरणादवश्यगन्तव्ये ॥१४॥

गब्भपभिइमावीई सलिलच्छेए सरं व सुसन्तं ।
अणुसमयं मरमाणं जियइ त्ति जणो कहं भणइ ? ॥९५॥
संपत्थियाण परलोगमेगसत्थेण सत्थियाणं ।
जइ तत्थ कोइ पुरओ वच्चइ भयकारणं किमिह ? ॥९६॥
जीयमणिच्चमवस्सं मरणं ति मणम्मि निच्छयं जस्स ।
सुणागारपसुस्स व का आसा जीविए तस्स ? ॥९७॥
हंदि ! जराधणुहत्थो वाहिसयविइण्णसायगो एइ ।
माणुसमयजूहवहं पिहाणवाहो करेमाणो ॥९८॥
न गणेइ पच्चवायं न य पडियारं चिराणुवत्ति वा ।
सच्छन्दसुहं विहरइ हरि व्व मच्चू मयकुलेसु ॥९९॥
एक्के च्चिय निव्विण्णा पुणो पुणो जाइउं च मरिउं च ।
जे भवमच्चुव्विग्गा भवरोगहरं अणुचरन्ति ॥१००॥
जरमरणरोगसमणं जिणवयणरसायणं अमयसारं ।
पाउं परिणामसुहं नाहं मरणस्स वीहेमि ॥१०१॥

गर्भप्रभृति आवीच्या सलिलच्छेदे सर इव शुष्यत् ।
अनुसमय म्रियमाणं जीवतीति जनः कथं भणति ? ॥९५॥
संप्रस्थितानां परलोकमेकसार्थेन सार्थिकानामिव ।
यदि तत्र कोऽपि पुरतो व्रजति भयकारणं किमिह ? ॥९६॥
जीवितमनित्यमवश्यं मरणमिति मनसि निश्चयं यस्य ।
सूनागारपशोरिव काऽऽशा जीविते तस्य ? ॥९७॥
हन्त ! जराधनुर्हस्तो व्याधिशतवितीर्णसायक एति ।
मानुषमृगयूथवधं प्रभातव्याधः कुर्वन् ॥९८॥
न गणयति प्रत्यवायं न च प्रतिकारं चिरानुवृत्ति वा ।
स्वच्छन्दसुखं विहरति हरिरिव मृत्युर्मृगकुलेषु ॥९९॥
एके एव निर्विण्णाः पुनः पुनर्जनितुं च मर्तुं च ।
ये भवमृत्यूद्विग्ना भवरोगहरमनुचरन्ति ॥१००॥
जरामरणरोगशमनं जिनवचनरसायनममृतसारम् ।
पाय्य परिणामसुखं नाहं मरणाद् बिभेमि ॥१०१॥

मोसियरायमच्छाणं परिसाडियबन्धलोहनियलाणं ।
किं कुणइ कालमरणं कयपडियारं मणुस्साणं ॥१०२॥
अज्जियतवोधणाणं कलेवरहरे वि निप्पिवासाणं ।
संलिहियसरीराणं मरणं पि वरं सुविहियाणं ॥१०३॥
सुगहियतवपच्छयणा निव्विसिऊण नियमेण अप्पाणं ।
मरणं मग्गन्ति मणोरहेहि धीरा धिइसहाया ॥१०४॥
जस्स मयस्सेगयरो सग्गो मोक्खो व होइ नियमेण ।
मरणं पि तस्स नरवर ! ऊसवभूयं मणूसस्स ॥१०५॥
अणवरयरोगमाउरयसाणधिराणुगयदेहघरयस्स ।
कत्थ गओ वा मुच्चइ कयन्तकण्हाहिलोयस्स ॥१०६॥
न वि जुज्झं न पलायं कयन्तहत्थिम्मि अग्घइ भयं वा
न य से दीसइ हत्थो गेण्हइ य दढं अमोक्खो य ॥१०७॥
जह वा लुणाइ सासाइं कासओ परिणयाइं कालेण ।
इय भूयाइं कयन्तो लुणाइ जायाइं जायाइं ॥१०८॥

स्वकउपायमल्लाना परिशाटितबन्धलोहनिगडानाम् ।
किं करोति कालमरण कृतप्रतिकार मनुष्याणाम् ? ॥१०२॥
अर्जिततपोधनानां कलेवरगृहेऽपि निष्पिपासानाम् ।
संलिखितशरीराणां मरणमपि वरं सुविहितानाम् ॥१०३॥
सुगृहीततपःपथ्यदना निर्वेश्य नियमेनात्मानाम् ।
मरण मार्गयन्ति मनोरथैर्धीरा धृतिसहायाः ॥१०४॥
यस्य मृतस्यैकतरः स्वर्गो वा भवति नियमेन ।
मरणमपि तस्य नरवर ! उत्सवभूतं मनुष्यस्य ॥१०५॥

नापि युद्धं न प्रलापं कृतान्तहस्तिनि अर्घति भयं वा ।
न च तस्य दृश्यते हस्तो गृह्णाति च दृढममोक्षश्च ॥१०७॥
यथा वा लुनाति सस्यानि कर्षकः परिणतानि कालेन ।
इति भूतानि कृतान्तो लुनाति जातानि जातानि ॥१०८॥

जइ ताव मच्चुपासा सच्छन्दसुहं सुरेसु वियरन्ति ।
अच्चन्तमणोयारो जत्थ जरारोगवाहीणं ॥१०९॥
किं पुण वाहिजरारोगसोगनिच्चुद्दुयम्मि माणुस्से ।
मच्चुस्स सो पमाओ जं जियइ नरो निमेसं पि ॥११०॥
ता मा अधीरजणसेवियस्स अयसस्स देहि उ(अ)वयासं ।
न हु मच्चुदाढलीढं इन्दो वि पहू नियत्तेउं ॥१११॥
इय मयमारणमेत्तेण वच्छ ! मा नियकुलं कलङ्केहि ।
गेण्हामि कहं चत्तं हन्त ! सवायाए आहारं ? ॥११२॥
सोऊण इयं वयणं कोवाणलजलियरत्तनयणेण ।
'जंपइ अज्जाऽवि कहं' पहओ सीसम्मि खग्गेणं ॥११३॥
परिचिन्तियं च तेणं 'नमो जिणाणं' ति मुणियतत्तेणं ।
'पुव्वकयकम्मदोसो एसो' त्ति विसुद्धभावेणं ॥११४॥
सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु य निमित्तमेत्तं परो होइ ॥११५॥

यदि तावन्मृत्युपाशाः स्वच्छन्दसुखं सुरेषु विचरन्ति ।
अत्यन्तमनवतारो यत्र जरारोगव्याधीनाम् ॥१०९॥
किं पुनर्व्याधिजरारोगशोकनित्योद्द्रुते मानुषे ।
मृत्योः स प्रमादो यज्जीवति नरो निमेषमपि ॥११०॥
ततो माऽधीरजनसेवितस्यायशसो देहि अवकाशम् ।
न खलु मृत्युदाढालीढं इन्द्रोऽपि प्रभुर्निवर्तयितुम् ॥१११॥
'इति मृतमारणमात्रेण वत्स ! मा निजकुलं कलङ्कय ।
गृह्णामि कथं त्यक्तं हन्त ! स्ववाचा आहारम् ॥११२॥
श्रुत्वेदं वचनं कोपानलज्वलितरक्तनयनेन ।
जल्पति अद्यापि कथं प्रहतः शीर्षे खड्गेन ॥११३॥
परिचिन्तितं च तेन 'नमो जिनेभ्यः' इति ज्ञाततत्त्वेन ।
पूर्वकृतकर्मदोष एष इति विशुद्धभावेन ॥११४॥
सर्वः पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकम् ।
अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ॥११५॥

एवं च चिन्तयन्तो पुणो वि हन्तूण पावकम्मेण ।
विणिवाइओ महप्पा अकलुसचित्तो सकलुसेण ॥११६॥
मरिऊण य उववन्नो सणंकुमारम्मि सुरवरो जुइमं ।
अह पञ्चसागराऊ लीलारामे विमाणम्मि ॥११७॥
इयरो वि य काऊणं रज्जं मरिऊण रयणपुढवीए ।
उववन्नो नेरइओ उक्कोसाऊ महाघोरो ॥११८॥

'समराइच्चकहाए' बीओ भवो समत्तो ।



एवं च चिन्तयन् पुनरपि हत्वा पापकर्मणा ।
विनिपातितो महात्माऽकलुषचित्तः सकलुषेण ॥११६॥
मृत्वा चोपपन्नः सनत्कुमारे सुरवरो द्युतिमान् ।
अथ पञ्चसागरायुर्लीलारामे विमाने ॥११७॥
इतरोऽपि च कृत्वा राज्यं मृत्वा रत्नपृथिव्याम् ।
उपपन्नो नैरयिक उत्कृष्टायुर्महाघोरः ॥११८॥

याकिनीमहत्तरासूनु-परमगुणानुरागि-परमसत्यप्रिय-परमकारुणिक-
भगवद्-श्रीहरिभद्रसूरिवररचितायां 'समरादित्यकथायाम्'
द्वितीयो भवः समाप्तः ।



तइओ भवो

॥ ※ ॥

वक्खायं जं भणियं सीहा-णंदा य तह पियापुत्ता ।
सिहि-जालिणिमाइसुआ एत्तो एअं पवक्खामि ॥१॥

अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे, अवरविदेहे खेत्ते अपरिमियजणनिवासं, अणणुहूयवाहिवेयणं, अदिट्ठपरचक्कविब्भमं सुन्दरपुरनायगभूयं कोसंबं नाम नयरं। जत्थ सरलसहावो, थिरसिणेहाणुबन्धो, अणंगरायहाणी, धम्मफलकप्पो इत्थियाजणो। जत्थ पियंवओ, सच्चवयणो, पढमाभिभासि, धम्मनिरओ य मणुस्सवग्गो। तत्थ य अणेयसमरसंघट्टविणिज्जियदरिय-नरिन्दावणयपल्हत्थवियडमउडकोडिरयणप्पहारंजियचरणजुयलो राया नामेण अजियसेणो त्ति। तस्स य सकलरज्जचिन्तओ, अत्ताणनिव्विसेसो इन्दसम्मो नाम माहणसचिवो। सुहंकरा से भारिया॥ इओ य सो आणन्दनारओ सागरोवमन्तम्मि नरए खविऊण, अन्ने वि किचूणे चत्तारि

तृतीयः भवः

व्याख्यातं यद् भणितम् सिंहा-ऽऽनन्दौ च तथा पितृपुत्रौ ।
शिखि-जालिनिमातृसुते इत एतत् प्रवक्ष्यामि ॥१॥

अस्ति इहैव जम्बूद्वीपे, अपरविदेहे क्षेत्रे अपरिमितजननिवासम्, अननुभूतव्याधिवेदनम्, अदृष्टपरचक्रविभ्रमम्, सुन्दरपुरनायकभूतं कौशाम्बं नाम नगरम्। यत्र सरलस्वभावः, स्थिरस्नेहानुबन्धः, अनङ्गराजधानी, धर्मफलकल्पः स्त्रीजनः। यत्र प्रियंवदः, सत्यवचनः, प्रथमाऽभिभाषी धर्मनिरतो मनुष्यवर्गः। तत्र च अनेकसमरसंघट्टविनिर्जितदृप्तनरेन्द्रावनतपर्यस्तविकटमुकुटकोटिरत्नप्रभारञ्जितचरणयुगलो राजा नाम्ना अजितसेन इति। तस्य च सकलराज्यचिन्तकः, आत्मनिर्विशेष इन्द्रशर्मा नाम ब्राह्मणसचिवः। शुभंकरा तस्य भार्या॥ इतश्च स आनन्दनारकः सागरोपममन्ते नरके क्षपयित्वा, अन्यानि अपि किञ्चिदूनानि चत्वारि

सागरोवमे संसारे समाहिण्डिय इन्दसम्मस्स माहणस्स सुहंकराए भारियाए कुच्छिंसि इत्थियत्ताए उववन्नो त्ति । जाया उचियसमएणं । कयं से नामं जालिणि त्ति कहाणयविसेसेण । पत्ता जोव्वणं । दिन्ना तस्स चेव राइणो बुद्धिसागराभिहाणसचिवपुत्तस्स बम्भदत्तस्स । कयं पाणिग्गहणं । भुञ्जमाणाण भोए गओ कोइ कालो ॥

इओ य सो सीहदेवो तओ देवलोगाओ चविऊण अचिन्तमाहप्पयाए कम्मस्स, तीसे चेव जालिणीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । दिट्ठो य तीए तीए चेव रयणीए सुमिणओ—जहा किर सुवण्णमयपुण्णकलसो मे उयरं पविट्ठो, सो य असंजायपरिओसाए विणिग्गओ समाणो कहकहवि भग्गो त्ति । तं च दट्ठूण ससज्झसा विव विउद्धा एसा । जाओ से संकिण्णो सुहरसो । न साहिओ य तीए सुमिणओ दइयस्स । तओ से वड्ढिउं पयत्तो गब्भो । जाया से देहमणपीडा । चिन्तियं च तीए 'वावाएमि ताव एयं पावगब्भं' ति । पउत्ताइं गब्भसाडणाइं । कम्मविवागओ न विवन्नो गब्भो । मुणिओ य वुत्तन्तो बम्भदत्तेण । निउत्तो तेण परियणो पसूइसमए, जहा गब्भविवत्ती न हवइ तहा तुब्भेहिं जइयव्वं; अवि

सागरोपमाणि संसारे समाहिण्ड्य इन्द्रशर्मणो ब्राह्मणस्य शुभंकराया भार्यायाः कुक्षौ स्त्रीकतया उपपन्न इति । जाता उचितसमयेन । कृतं तस्या नाम जालिनी इति कथानकविशेषेण । प्राप्ता यौवनम् । दत्ता तस्य एव राज्ञो बुद्धिसागराभिधानसचिवपुत्रस्य ब्रह्मदत्तस्य । कृतं पाणिग्रहणम् । भुञ्जानयोर्भोगान् गतः कश्चित् कालः ॥

इतश्च स सिंहदेवः ततो देवलोकात् च्युत्वा अचिन्त्यमाहात्म्यतया कर्मणः, तस्या एव जालिन्याः कुक्षौ पुत्रतया उपपन्न इति । दृष्टश्च तया तस्यामेव रजन्यां स्वप्नकः—यथा किल सुवर्णमयपूर्णकलशो मम उदरं प्रविष्टः, स च असंजातपरितोषाया विनिर्गतः सन् कथंकथमपि भग्न इति । तं च दृष्ट्वा ससाध्वसा इव विबुद्धा एषा । जातस्तस्याः संकीर्णः सुखरसः । न कथितश्च तया स्वप्नको दयितस्य । ततः स वर्धितुं प्रवृत्तो गर्भः । जाता तस्य देहमनःपीडा । चिन्तितं च तया—'व्यापादयामि तावद् एतं पापगर्भम्' इति । प्रयुक्तानि गर्भशातनानि । कर्मविपाकतो न विपन्नो गर्भः । ज्ञातश्च वृत्तान्तो ब्रह्मदत्तेन । नियुक्तस्तेन परिजनः प्रसूतिसमये, यथा गर्भविपत्तिर्न भवति तथा युष्माभिः यतितव्यम्, अपि

य भट्टिणीपरिओसनिमित्तं कहंचि खिसं से वञ्चिऊण मम निवेइयव्वो त्ति। तओ जाओ से दोहलओ-करेमि सव्वसत्ताणमाणन्दं, संपाडेमि देवाययणाणं महापूयाओ, पूएमि भयवन्ते धम्मनिरए महातवस्सी, सुणिमो किंचि परलोयमग्गं ति। संपाडिओ से भत्तारेण डोहलो। गब्भपभावेण जाया मणोरमा लोयस्स। पत्तो य सूइसमओ। पसूया एसा। चिन्तियं च तीए-कहं पुण एस एद्दहमेत्तपरियणसमक्खं वावाइयव्वो त्ति? एत्थन्तरम्मि मुणियतयभिप्पायाए बम्भदत्तवयणं सरिऊण भणियं बन्धुजीवाभिहाणाए बालसहीए। भट्टिणि! पावो खु एस गब्भो। ता अलमिमिणा किलेसाऽऽयासकारएण, वरं विइञ्चिओ एसो त्ति। तओ कसायपरवसाए वावायणम्मि सहियणलज्जालुयाए भणियं जालिणीए-'तुब्भे जाणह' त्ति। तओ अवणीओ दारओ, निवेइओ बम्भदत्तस्स। कयं से तेण सयलं सुत्थं। नीणिओ लोगवाओ 'वावन्नगब्भा भट्टिणि' त्ति। एवं च अइक्कन्तो कोइ कालो। पइट्ठावियं नामं बालयस्स 'सिहि' त्ति। वड्ढिओ सो कलाकलावेण देहोवचएण य। संपाइयं से निरवसेसं कालोचियं बम्भदत्तेणं। गहिओ पच्छा उदरपुत्तओ' त्ति।

च भर्त्रीपरितोषनिमित्तं कथंचित् चित्तं तस्य वञ्चित्वा मम निवेदयितव्य इति। ततो जातस्तस्या दोहदः-करोमि सर्वसत्त्वानामानन्दम्, संपादयामि देवतायतनानां महापूजाः, पूजयामि भगवतो धर्मनिरतान् महातपस्विनः, शृणुमः कंचित् परलोकमार्गम्-इति। संपादितस्तस्या भर्त्रा दोहदः। गर्भप्रभावेण जाता मनोरमा लोकस्य। प्राप्तश्च सूतिसमयः। प्रसूता एषा। चिन्तितं च तया-कथं पुनरेष एतावन्मात्रपरिजनसमक्षं व्यापादयितव्य? इति अत्रान्तरे ज्ञाततदभिप्रायया ब्रह्मदत्तवचनं स्मृत्वा भणितं बन्धुजीवाभिधानया बालसख्या। भर्त्रि! पापः खलु एष गर्भः। ततोऽलमनेन क्लेशा-ऽऽयासकारकेन, वरं विभक्त (विनाशित.) एष इति। ततः कषायपरवशया व्यापादने सखीजनलज्जालुतया भणितं जालिन्या-'यूयं जानीत' इति। ततोऽपनीतो दारक, निवेदितो ब्रह्मदत्तस्य। कृतं तस्य तेन सकलं सुस्थम्। नीतो लोकवाद 'व्यापन्नगर्भा भर्त्री' इति। एवं च अतिक्रान्तः कश्चित् कालः। प्रतिष्ठापितं नाम बालकस्य 'शिखी' इति। वर्धितः स कलाकलापेन देहोपचयेन च। संपादितं तस्य निरवशेषं कालोचितं ब्रह्मदत्तेन। गृहीतः पश्चात् 'उदरपुत्र' इति।

विन्नाओ य वुत्तन्तो इमिणा सुमिणयदंसण-गब्भसाडणाइओ य जणणीए। वेरग्गिओ एसो ॥

एत्थन्तरम्मि मुणियवुत्तन्ता पुत्तस्स कसाइया से जणणी । चिन्तियं च तेण–किह ?

एवंविहा कसाया पावा भवविडविमूलजलओघा ।
मोक्खत्थमुज्जएहिं वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥२॥
एत्तो कम्मविवुड्ढी, तओ भवो तत्थ दुक्खसंघाओ ।
तत्तो उव्विग्गमाणो पयहेज्ज तए महापावे ॥३॥

भणियं च —

कलुसफलेण न जुज्जइ किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो ।
सन्ते वि जो कसाए निगिण्हइ सो वि तत्तुल्लो ॥४॥

तक्कसाओदएण य सा कुविया बम्भदत्तस्स । परिचत्तं च सयलकरणिज्जं । भणिओ बम्भदत्तो । एय वा पियं करेहि, ममं व त्ति, एयम्मि अपरिचत्ते नाहं पाणसाहारणं उदयं पि गेण्हामि त्ति । निसामिओ एयवुत्तन्तो सिहिकुमारेण । अच्चुव्विग्गो निग्गओ गेहाओ । चिन्तियं च तेण-

---

विज्ञातो वृत्तान्तोऽनेन स्वप्नदर्शन गर्भशातनादिकश्च जनन्याः । वैराग्यिक एषः ।

अत्रान्तरे ज्ञातवृत्तान्ता पुत्रस्य कषायिता तस्य जननी । चिन्तितं च तेन–कस्मात् ?

एवंविधाः कषायाः पापा भवविटपिमूलजलदोघाः ।
मोक्षार्थमुद्यतैः वर्जयितव्याः प्रयत्नेन ॥२॥
इतः कर्मविवृद्धिः, ततो भवः, तत्र दुःखसंघातः ।
तत उद्विजमानः प्रजह्यात् तकान् महापापान् ॥३॥

भणितं च–

कलुषफलेन न युज्यते किं चित्रं तत्र यद् विगतरागः ।
सतोऽपि यः कषायान् निगृह्णाति सोऽपि तत्तुल्यः ॥४॥

तत्कषायोदयेन च सा कुपिता ब्रह्मदत्तस्य । परित्यक्तं सकलकरणीयम् । भणितो ब्रह्मदत्तः । एतं वा प्रियं कुरु, मां वा इति, एतस्मिन् अपरित्यक्ते नाऽहं प्राणसाधारणमुदकमपि गृह्णामि इति । निशामित एतद्वृत्तान्तः शिखिकुमारेण । अत्युद्विग्नो निर्गतो गेहात् । चिन्तितं च तेन

पेच्छ मे पावपरिणइं, जेण जणणी वि एवं वट्टइ त्ति। एयवइयरेणं च ताओ वि मे दुहिओ। ता न जुत्तं मे इह अच्छिउं। एवं चिन्तिऊणमणापुच्छिऊण तायं निग्गओ नयराओ॥

गओ असोगवणुज्जाणं। दिट्ठो य तत्थ असोयपायवतलगओ ससिस्सपरिवारिओ, एगविहसंजमरओ, दोअसज्झाणविरहिओ, तिदण्डरहिओ, चउक्कसायमहणो, पञ्चिन्दियनिग्गहपरो, छज्जीवनिकायवच्छलो, सत्तभयविप्पमुक्को, अट्ठमयट्ठाणरहिओ, नवबम्भचेरगुत्तो दसविहधम्मसुट्ठियमणो, एक्कारसंगनाणी, बारसतवचरणकम्मनिरओ य विजयसिंहो नामायरिओ त्ति। तओ तं दट्ठूण समुप्पन्ना तस्स पीती। चिन्तियं च तेण–धन्नो खु एसो, जो अणवट्ठियसिणेहविब्भमे संसारे, एवं धम्मे निरओ त्ति। ता पुच्छामि ताव एयं, किं पुण एयस्स निव्वेयकारणं, जेण एसो एव धम्मे निरओ त्ति। गओ तस्स समीवं। सविणयं पणमिओ भयवं। कओ से गुरुणा वि धम्मलाहो। उवविट्ठो तस्स पायमूले। पुच्छिओ य भयवं–किं ते निव्वेयकारणं? जेण तुमं एवं पि सव्वंगसुन्दराहिरामो, सुन्दराहिराममयाओ चेव पिसुणियनियविभववित्थारो,

---

प्रेक्षस्व मम पापपरिणतिम्, येन जनन्यपि एवं वर्तत इति। एतद्व्यतिकरेण च तातोऽपि मम दुःखितः। ततो न युक्तं मम इह आसितुम्। एवं चिन्तयित्वा अनापृच्छ्य तातं निर्गतो नगरात्॥

गतोऽशोकवनोद्यानम्। दृष्टश्च तत्र अशोकपादपतलगतः, स्वशिष्यपरिवारितः, एकविधसंयमरतः, द्विअसद्ध्यानविरहितः, त्रिदण्डरहितः, चतुष्कषायमथनः, पञ्चेन्द्रियनिग्रहपरः, षड्जीवनिकायवत्सलः, सप्तभयविप्रमुक्तः, अष्टमदस्थानरहितः, नवब्रह्मचर्यगुप्तः, दशविधधर्मसुस्थितमनाः, एकादशाङ्गज्ञानी, द्वादशतपश्चरणकर्मनिरतश्च विजयसिंहो नाम आचार्य इति। ततः तं दृष्ट्वा समुत्पन्ना तस्य प्रीतिः। चिन्तितं च तेन–धन्यः खलु एषः, योऽनवस्थितस्नेहविभ्रमे संसारे एवं धर्मे निरत इति। ततः पृच्छामि तावत् एनं, किं पुनः एतस्य निर्वेदकारणं? येन एषः एवं धर्मे निरत इति। गतस्तस्य समीपम्। सविनयं प्रणतो भगवान्। कृतस्तस्य गुरुणा अपि धर्मलाभः। उपविष्टस्तस्य पादमूले। पृष्टश्च भगवान्–किं तव निर्वेदकारणम्? येन त्वम् एवम् अपि सर्वाङ्गसुन्दराऽभिरामः, सुन्दराभिरामतया एव पिशुनितनिजविभवविस्तारः,

विभववित्थारा संचियसयणवग्गो, सयणवग्गनिरवेक्खमिमं ईइसं निस्सारं पवन्नो त्ति। गुरुणा भणियं–सुण, किमिह अट्ठिमंसरुहिरसंगए सरीरे वि सुन्दरत्तं ? को वा आयासमेत्तफले विहववित्थारे पडिबन्धो, को वा सुमिणयसमागमचञ्चले सयणे त्ति। अवि य–

सयणस्स वि मज्झगओ रोगाभिहुओ किलिस्सइ इहेगो।
सयणो वि य से रोगं न विरिञ्चइ नेव नासेइ ॥५॥
मज्झम्मि बन्धवाणं एक्को मरइ कलुणं रुयन्ताणं ।
न य णं धारेइ तओ बन्धुजणो नेव दाराई ॥६॥
एक्को करेइ कम्मं फलमवि तस्सेक्कओ समणुहोइ।
एक्को जायइ मरइ य परलोयं एक्कओ जाइ ॥७॥
पत्तेयं पत्तेयं नियगं कम्मफलमणुहवन्ताणं ।
को कस्स जए सयणो को कस्स व होइ अन्नजणो ? ॥८॥
मरिऊण वेरिओ वि हु जायइ जणगो, सुओ वि हु रिवु त्ति।
ता अणवट्ठियभावे सयणे संगो त्ति मोहफलं ॥९॥

विभवविस्तारात् संचितस्वजनवर्गः स्वजनवर्गनिरपेक्षामिमाम् ईदृशीं निस्सारतां प्रपन्नोऽसि । गुरुणा भणितम्–शृणु, किमिह अस्थिमांसरुधिरसंगते शरीरेऽपि सौन्दर्यम् ? को वा आयासमात्रफले विभवविस्तारे प्रतिबन्धः ? को वा स्वप्नकसमागमचञ्चले स्वजने इति ? । अपि च–

स्वजनस्यापि मध्यगतो रोगाभिहतः क्लिश्यति इहैकः ।
स्वजनोऽपि च तस्य रोगं न विभजति नैव नाशयति ॥५॥
मध्ये बान्धवानामेको म्रियते करुणं रुदताम् ।
न च तं धारयति ततो बन्धुजनो नैव दाराः ॥६॥
एकः करोति कर्म फलमपि तस्य एकः समनुभवति ।
एको जायते म्रियते च परलोकमेकको याति ॥७॥
प्रत्येकं प्रत्येकं नियतं कर्मफलमनुभवताम् ।
कः कस्य जायते स्वजनः कः कस्य वा भवति अन्यजनः ? ॥८॥
मृत्वा वैर्यपि खलु जायते जनकः, सुतोऽपि खलु रिपुरिति
तस्मादनवस्थितस्वभावे स्वजने सङ्ग इति मोहफलम् ॥९॥

अन्नं च । सुण, अम्हाणमेव जं वत्तं–

अत्थि इहेव विजए लच्छिनिलयं नाम नयरं । [illegible] नाम सत्थवाहो, सिरिमई से भारिया, ताणं अहं पुत्तो [illegible] वट्टमाणो गओ तन्नयरासन्नमेव लच्छिपव्वयं । [illegible]

[illegible]

एद्दहमेत्तस्सवि पायवस्स एद्दहमेत्ताओ [illegible] धरणि पविट्ठो त्ति । ता नूणमेत्थ कारणेण होयव्वं ॥

एत्थन्तरम्मि य अयण्डम्मि चेव संजाओ मे पमोओ, [illegible] सुरहिमारुओ, विमुक्को सहजो वि वेराणुबन्धो पसूहिं, [illegible] विय समद्धासिओ लच्छिपव्वओ, सव्वोउयकुसुमेहि वि [illegible] मुज्जाणाइ, पमुइया विहगसंघाया, मणहरतालरम्मं च [illegible] यावलीहिं, विसुद्धपयासमलावं च तमुद्देसमुज्जोइउं [illegible] मए चिन्तियं 'अह पुण किं इमं भुवणच्छेरयं' ति ॥

अन्यच्च । शृणु, अस्माकमेव यद् वृत्तम्–

अस्ति इहैव विजये लक्ष्मीनिलयं नाम नगरं [illegible] नाम सार्थवाहः, श्रीमती तस्य भार्या । तयोरहं [illegible] वर्तमानो गतो नन्नगरासन्नमेव लक्ष्मीपर्वतम् । [illegible] विभागे स्निग्धपत्रसचयः, धराप्रविष्टदीर्घपाद[illegible] त च दृष्ट्वा समुत्पन्नं मम कौतुकम् । चि[illegible] र्यम् । एतावन्मात्रस्यापि पादपस्य एताव[illegible] पादको धरणी प्रविष्ट इति । ततो नूनमत्र [illegible] उम्– [illegible] पाकः,

अत्रान्तरे च अकाण्ड एव सजातो [illegible] भिमारुतः, विमुक्तः सहजोऽपि वैरानु[illegible] नाम समध्यासितो लक्ष्मीपर्वतः सर्वऋतुक[illegible] परि- प्रमुदिता विहंगसंघाताः, मनोहरोत्ता[illegible] भ्रमो विशुद्धप्रकाशमताप च तमुद्देशमुद्[illegible] म् । चिन्तितम्–'अथ पुनः किमिदं भु[illegible]

एत्थन्तरम्मि तरुणरविमण्डलनिहं, सुविसुद्धजच्चकञ्चणं, अणेयरयणमण्डियं, जयजयरवापूरियनहंगणं, गिज्जन्ततियसमंगलं, निवडन्तकुसुमवुट्ठि, अणेयतियसपरियरियं, विजियसंसारचक्कपिसुणयं, अवरदिसाओ समोवयन्तं भयवओ अजियदेवतित्थयरस्स दिट्ठं मए धम्मचक्कं ति। तयणन्तरं च महग्घगुणरयणभूसिया सियम्बरधारिणो अणेगे साहवो, तओ सुरधरियकुन्दधवलायवत्तो दुन्दुहिनिणायबहिरियनहंगणो, विरायन्तदिव्वभामण्डलो, सुरवइसमुक्खित्तचारुचामरो, सुरासुरमणुयवन्दसंथुओ, कालायरुपवरतुरुक्कधूवमहमहेन्तगन्धो, गन्धवट्टिभूओ अच्चन्तसोमो कञ्चणमयदिव्वकमलावलीए परिसक्कमाणो भयवं, तिलोयनाहो, निच्छिण्णभवसमुद्दो अजियदेवतित्थयरो त्ति। तं च दट्ठूण समुप्पन्नो मे पमोओ, पणट्ठं मिच्छत्ततिमिरेणं, वियम्भियं धम्मववसाएणं। चिन्तियं च मए धन्नो अहं, जेण मए तिलोयचिन्तामणी भयवं उवलद्धो त्ति॥

एत्थन्तरम्मि य कयं तियसेहिं भयवओ मणिकणयकलहोयमयनिम्मियपायारतियं, सुविहत्तदिव्वतोरणं रयणमयविचित्तकविसीसयं, ऊसियमहाकेउनिवहं, गुञ्जन्तमहुयरामोयसोहियं, ऊसियसियायवत्त'

अत्रान्तरे तरुणरविमण्डलनिभम्, सुविशुद्धजात्यकाञ्चनम्, अनेकरत्नमण्डितम्, जयजयरवापूरितनभोऽङ्गणम्, गीयमानत्रिदशमङ्गलम्, निपतत्कुसुमवृष्टि, अनेकत्रिदशपरिकरितम्, विजितसंसारचक्रपिशुनकम्, अपरदिशः समवपतद् भगवतोऽजितदेवतीर्थंकरस्य दृष्टं मया धर्मचक्रम्-इति। तदनन्तरं च महार्घगुणरत्नभूषिताः सिताम्बरधारिणोऽनेके साधवः, ततः सुरधृतकुन्दधवलातपत्रः, दुन्दुभिनिनादबधिरितनभोऽङ्गणः, विराजमानदिव्यभामण्डलः, सुरपतिसमुत्क्षिप्तचारुचामरः, सुरासुरमनुजवृन्दसंस्तुतः कालागुरुप्रवरतुरुष्कधूपप्रसरद्गन्धः, गन्धवर्तिभूतः, अत्यन्तसौम्यः, काञ्चनमयदिव्यकमलावल्या परिसरन् भगवान्, त्रिलोकनाथः, निस्तीर्णभवसमुद्रः, अजितदेवतीर्थंकर इति। तं च दृष्ट्वा समुत्पन्नो मे प्रमोदः, प्रनष्टं मिथ्यात्वतिमिरेण, विजृम्भितं धर्मव्यवसायेन, चिन्तितं च मया—धन्योऽहम्, येन मया त्रिलोकचिन्तामणिर्भगवानुपलब्ध इति॥

अत्रान्तरे च कृतं त्रिदशैर्भगवतो मणिकनककलधौतमयनिर्मितप्राकारत्रितयम्, सुविभक्तदिव्यतोरणम्, रत्नमयविचित्रकपिशीर्षकम्, उच्छ्रितमहाकेतुनिवहम्, गुञ्जन्मधुकराऽऽमोदशोभितम्, उच्छ्रितसिताऽऽतप-

सणिहरं, वेरुलियदिव्वसीहासणं, महल्लसीहधयचक्कमण्डियं समोसरणं ति। पविट्ठो भयवं। पत्थुया धम्मकहा। कहिओ भयवया असासओ जीवलोगो। अवगओ अम्हाणं। तओ तं पुव्वकोउयं समणुस्सरन्तेण पुच्छिओ भयवं मए तिलोयनाहो। भयवं! किं पुण तस्स नालिएरिपायवस्स पायओ ओइण्णो, किं अत्थि तत्थ दविणजायं कि वा नहि (निही), किंपरिमाणं वा, केण वा तं ठवियं, कोइसो वा तस्स विवागो त्ति? भगवया भणियं—सुण, लोहदोसेण पायओ ओइण्णो। अत्थि तत्थ दविणजायं। तं च दीणारसत्तलक्खपरिमाणं। तुमए तेणं च नालिएरिजीवेण ठवियं। धम्मसाहओ य विवागो एयस्स। मए भणियं—भयवं! कहं पुण मए इमिणा य ठवियं, कहं च मम ईइसो विवागो इमस्स वि ईइसो त्ति। भगवया भणियं—सुण,

अत्थि इहेव विजए अमरउर नाम नयरं। तत्थ अमरदेवो नाम गाहावई होत्था। सुन्दरी से भारिया। ताणं च दुवे दुवे वि उवरोवरिजायगा गुणचन्दबालचन्दाभिहाणा य पुत्तय त्ति। संपत्तजोव्वणा य महन्ते वेलाइक्कन्ते पेसुणे वाणिज्जवडियाए आगया इमं देसं।

मनोहरम् वैदूर्यदिव्यसिंहासनम्, महासिंहध्वजचक्रमण्डितं, समवसरणम्—इति। प्रविष्टो भगवान्। प्रस्तुता धर्मकथा। कथितो भगवता अशाश्वतो जीवलोकः। अवगतोऽस्माभिः। ततस्तं पूर्वकौतुकं समनुस्मरता पृष्टो भगवान् मया त्रिलोकनाथः। भगवन्! किं पुनस्तस्य नालिकेरीपादपस्य पादकोऽवतीर्णः, किम् अस्ति तत्र द्रविणजातं किं वा निधिः, किं परिमाणं वा, केन वा तत् स्थापितम्, कीदृशो वा तस्य विपाक इति? । भगवता भणितम्—शृणु लोभदोषेण पादकोऽवतीर्णः। अस्ति तत्र द्रविणजातम्। तच्च दीनारसप्तलक्षपरिमाणम्। त्वया तेन च नालिकेरीजीवेन स्थापितम्। धर्मसाधकश्च विपाक एतस्य। मया भणितम्—भगवन्! कथं पुनर्मया अनेन च स्थापितम्, कथं मम ईदृशो विपाकः, एतस्यापि ईदृश इति। भगवता भणितम्, शृणु—

अस्ति इहैव विजये अमरपुरं नाम नगरम्। तत्र अमरदेवो नाम गृहपतिरभवत्। सुन्दरी तस्य भार्या। तयोश्चयुवां द्वावपि उपर्युपरिजातकौ गुणचन्द्र-बालचन्द्राभिधानौ च पुत्रकौ इति। संप्राप्तयौवनौ च महद् वेलादिक्रान्ते गृहीत्वा वाणिज्यवृत्तिकया आगतौ इमं देशम्

एत्थन्तरम्मि लच्छिनिवासिनीदेवयामहम्मि समागओ तुम लच्छिपव्वयं। कया देवयाए पूया। दिन्नं दीणाणाहाण दविणजायं। संपाइओ भोयणोवयारो। तओ तुम पुव्वभवसिनेहेणं रम्मयाए पव्वयस्स परिब्भमन्तो आगओ इमं उद्देसं। दिट्ठो भुयंगमेणं। तओ लोहदोसेण 'एस एयं दविणजायं गेण्हिस्सइ' त्ति डक्को चरणदेसम्मि। अच्चुग्गयाए विसस्स तक्खणा चेव निवडिओ धरणिवट्ठे। पासवत्तिणा य ते परियणेण वावाइओ भुयगमो। उप्पन्नो एत्थेव पव्वए सीहत्ताए त्ति। तुम पि मरिऊण एत्थेव विजए कयंगलाए नयरीए सिवदेवस्स कुलउत्तयस्स जसोहराए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो सि। जाओ कालक्कमेण। पइट्ठावियं च ते नाम इन्ददेवो त्ति। पत्तो जोव्वणं। इओ य तेण सीहजीवेण पुव्वभवब्भत्थभावणाओ ओहसन्नाए परिग्गहियं तं दव्वं। एवं च गओ कोइ कालो। अन्नया य वीरदेवनरवइणा नियसामिएण पेसिओ तुमं लच्छिनिलयसामिणो माणभंगस्स समीवं। आगच्छमाणो य कइवयपुरिसपरिवारिओ कालक्कमेण पत्तो इमं उद्देसं। उवविट्ठो नीवपायवस्सहेट्ठे एत्थन्तरम्मि गिरिगुहामुहगएणं दिट्ठो सि सीहेण। तओ लोहसन्नाविपज्जासियचित्तेणं वावाइओ सि इमिणा,

---

अत्रान्तरे लक्ष्मीनिवासिनीदेवतामहसि समागतस्त्वं लक्ष्मीपर्वतम्। कृता देवतायाः पूजा। दत्तं दीनाऽनाथानां द्रविणजातम्। सम्पादितो भोजनोपचारः। ततस्त्वं पूर्वभवस्नेहेन रम्यतया पर्वतस्य परिभ्रमन् आगतः इममुद्देशम्। दृष्टो भुजङ्गमेन। ततो लोभदोषेण 'एष एतद् द्रविणजातं ग्रहीष्यति' इति दष्टश्चरणदेशे। अत्युग्रतया विषस्य तत्क्षण एव निपतितो धरणिपृष्ठे। पार्श्ववर्तिना च ते परिजनेन व्यापादितो भुजङ्गमः। उत्पन्नोऽत्रैव पर्वते सिंहतया इति। त्वमपि मृत्वाऽत्रैव विजये कृतङ्गलायां नगर्यां शिवदेवस्य कुलपुत्रस्य यशोधराया भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतया उपपन्नोऽसि। जातः कालक्रमेण। प्रतिष्ठापितं च ते नाम इन्द्रदेव इति। प्राप्तो यौवनम्। इतश्च तेन सिंहजीवेन पूर्वभवाभ्यस्तभावनात ओघसंज्ञया परिगृहीतं तद् द्रव्यम्। एवं च गतः कियान् कालः। अन्यदा च वीरदेवनरपतिना निजस्वामिकेन प्रेषितस्त्वं लक्ष्मीनिलयस्वामिनो मानभङ्गस्य समीपम्। आगच्छंश्च कतिपयपुरुषपरिवृतः कालक्रमेण प्राप्त इममुद्देशम्। उपविष्टो नीपपादपस्याऽधः। अत्रान्तरे गिरिगुहामुखगतेन दृष्टोऽसि सिंहेन। ततो लोभसंज्ञाविपर्यासितचित्तेन व्यापादितोऽसि अनेन,

इमो वि य तुमए त्ति। उववन्ना य तुब्भे एत्थेव विजयम्मि सिरिसन्त-
पट्टणे जनसवाससन्निवस्स चण्डालस्स माइजक्खाए भारियाए जमल-
गत्ताए त्ति। जाया कालक्कमेणं। पइट्ठावियाइं नामाइं तुम्हं कालसेणो,
इयरस्स चण्डसेणो त्ति। पत्ता य जोव्वणं। अन्नया आहेडयनिमित्तं गए-
हिं कच्छिनच्छयं, पायाइओ कोलो। सो य एयम्मि चेव निहाणपएसे नि-
सन्नो। पज्जालिओ जलणो। जलणभएणं तं खाइउं पयत्ता। एत्थन्तरम्मि
कट्टारएणं निहणिऊण कहंचि अणत्थदण्डओ चेव धरणिं खणमाणेण उवलद्धो
निहाणकलसस्स एगदेसो चण्डसेणेणं। पयट्टो गोविउं, लक्खिओ य तुमए।
तओ दव्वलोहेणं वीसत्थो तुमं वावाइओ तेण। उववन्नो वालुयप्पहाए
नरयपुढवीए पञ्चसागरोवमाऊ नारगो। इमो वि तद्दव्वलोभेण तं दे-
सं अणुन्नयमाणो अइकक्खडेसु कइवयपहारेसु अणुभुञ्जिऊण तं
भववेरियचण्डालविनिवाइओ समाणो उप्पन्नो तमाभिहाणाए नरयपु-
ढवीए अट्ठारससागरोवमाऊ नारगो त्ति। तओ तुमं पडिपुण्णे महाउए ना-
रगाओ उव्वट्टिऊण एत्थेव विजए तिमिरद्धए सन्निवेसम्मि सालिभद्दस्स गाह-
वइस्स नन्दिणीए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति। जाओ

मदमपि च त्वया इति। उपपन्नौ च युवामत्रैव विजये श्रीसम-
पत्तने जनसवाससन्निभस्य चाण्डालस्य मातृयक्षाया भार्याया यमलक-
तया इति। जातौ कालक्रमेण। प्रतिष्ठापिते नाम्नी तव कालसे-
न इतरस्य चण्डसेन इति। प्राप्तौ च यौवनम्। अन्यदा आखेटकनिमि-
त्तं ... कान्तारम्। प्रधावितः कोलः। स च एतस्मिन् चैव निधान-
प्रदेशे निलीनः। प्रज्वालितो ज्वलनः। ज्वलनभयेन तं खादितुं प्रवृ-
त्तौ। अत्रान्तरे कट्टारकेण निहत्य कथंचिद् अनर्थदण्ड एव धरणीं ख-
नमानेन निधानकलशस्य एकदेशश्चण्डसेनेन। प्रवृत्तो गोपायितुं
लक्षितश्च त्वया। ततो द्रव्यलोभेन विश्वस्तस्त्वं व्यापादितस्तेन। उ-
पपन्नो वालुकाप्रभायां नरकपृथिव्यां पञ्चसागरोपमायुर्नारकः। अय-
मपि तद्द्रव्यलोभेन तं देशमनुपालयन् अतिकर्कशेषु कतिपयवर्षेषु अनु-
भूय ... पूर्ववैरिचण्डालविनिपातितः सन् तमाभिधानायां नरक-
पृथिव्यां अष्टादशसागरोपमायुर्नारक इति। ततस्त्वं प्रतिपूर्णे महायु-
षि नारकादुद्वृत्य अत्रैव विजये तिमिरद्धके सन्निवेशे शालिभद्र-
गृहपतेर्नन्दिन्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतया उपपन्न इति। जातश्च

कालक्कमेण। पइट्ठावियं से नामं बालगुत्तो त्ति। पत्तो जोव्वणं। एयम्मि य धीरदेवाणगारसमीवे पत्तो तए अपत्तपुव्वो जिणवरपणीओ धम्मो। परिपालियं सावयत्तं। कओ य अहाविहिं देहच्चाओ। उववन्नो लन्तगाभिहाणे देवलोए किंचूणतेरससागरोवमाऊ वेमाणिओ त्ति। तत्थ परिभुंजिऊण दिव्वभोए अहाउयपरिक्खएण चुओ समाणो इहेव विजए हत्थिणाउरे नयरे गिहवइणो नयरघोसस्स कन्तिमईए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति, इयरो वि तओ नरयाओ उव्वट्टिऊण तम्मेव नयरे तस्स चेव पिउणो सोमिलाभिहाणाए घरदासीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए त्ति। जाया कालक्कमेण। पइट्ठावियाइं नामाइं—तुज्झ समुद्ददत्तो, इयरस्स मंगलगो त्ति। पत्ता य तुब्भे अहक्कमेणं कुमारभावं। एयम्मि अन्तरम्मि पवन्नो तए अणंगदेवगणिसमीवे जिणदेसिओ धम्मो। कया देसविरई। परिणीया य लच्छिनिलयवासिणो सावगस्स अयलसत्थवाहस्स धूया जिणमई। अन्नया य मंगलगदुइओ जिणमईनिमित्तमेव पयट्टो लच्छिनिलयं। आगओ य कइवयपयाणएहिं। पत्तो तमुद्देसं, जत्थ निहाणं ति। तओ बहुलपत्तयाए पएसस्स वीसमिओ मुहुत्तयं। दिट्ठो य तए पासाण-

कालक्रमेण। प्रतिष्ठापितं तस्य नाम बालगुप्त इति। प्राप्तो यौवनम्। अत्रान्तरे धीरदेवानगारसमीपे प्राप्तस्त्वया अप्राप्तपूर्वो जिनवरप्रणीतो धर्मः। परिपालितं श्रावकत्वम्। कृतश्च यथाविधि देहत्यागः। उत्पन्नो लान्तकाभिधाने देवलोके किञ्चिन्न्यूनत्रयोदशसागरोपमायुर्वैमानिक इति। तत्र परिभुज्य दिव्यभोगान् यथाऽऽयुष्कपरिक्षयेण च्युतः सन् अत्रैव विजये हस्तिनापुरे नगरे गृहपतेर्नगरघोषस्य कान्तिमत्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतया उत्पन्नोऽसि, इतरोऽपि ततो नरकाद् उद्वृत्य तत्रैव नगरे तस्य चैव पितुः सोमिलाऽभिधानाया गृहदास्याः कुक्षौ पुत्रतया इति। जातौ कालक्रमेण। प्रतिष्ठापिते नाम्नी—तव समुद्रदत्तः, इतरस्य मङ्गलक इति। प्राप्तौ च युवां यथाक्रमेण कुमारभावम्। अत्रान्तरे प्रपन्नस्त्वया अनङ्गदेवगणिसमीपे जिनदेशितो धर्मः। कृता देशविरतिः। परिणीता च लक्ष्मीनिलयवासिनः श्रावकस्य अचलसार्थवाहस्य दुहिता जिनमतिः। अन्यदा च मङ्गलकद्वितीयो जिनमतिनिमित्तमेव प्रवृत्तो लक्ष्मीनिलयम्। आगतश्च कतिपयप्रयाणकैः। प्राप्तस्तमुद्देशम्, यत्र निधानमिति। ततो बहुलपत्रतया प्रदेशस्य विश्रान्तो मुहूर्तकम्। दृष्टश्च त्वया पाषाण-

वावाइस्सं ति । एत्थन्तरम्मि पत्ता नयरं । आरामसमीवठिएणं भणिओ तुमए मंगलगो । भद्द मंगलग ! गच्छ, ससुरकुलपउत्तिं मे कुओ वि उवलहिय संपाएहि, जेण पविसामो नयरं ति पयट्टो मंगलगो। चिन्तियं च णेण–पविट्ठो खु एसो लहुं चेव एयं गेण्हिस्सइ। ता तहाणुचिट्ठामि, जहा न एस एत्थ पविसइ । गच्छन्तो य मे सुहवावायणिज्जो भविस्सइ । ता एयं से निवेएमि । जहा, इत्थिसहावओ कुलविरुद्धमाचरिऊण पविसिया ते घरिणी । अओ अच्चन्तमुव्विग्गं ते ससुरकुलं । सुयं च अम्हाणमागमणमेएहि, अओ अहिययरं लज्जियाणि । ता न जुत्तमेत्थ पविसिउं ति संपहारिय तओ नयरं पविसिऊण कयकालक्खेवो मायाचारिएण विवण्णमुहच्छाओ आगओ ते समीवं । निवेइयं जहा चिन्तियं । तओ विसण्णो तुमं । चिन्तियं च तुमए–धिरत्थु इत्थिभावस्स, जमेवंविहा वि सावयकुलुप्पन्ना वि सुविन्नायजिणवयणसारा वि उभयलोयविरुद्धमायरइ । अहवा नत्थि दुक्करं मोहभावस्स । ता अलं मे इयाणिं पि गिहवासेण । पवज्जामो तित्थयरभासियं साहुधम्मं । एवमसाणो खु एस सिणेहबन्धो । ता अलं मे सगिहगमणेणं पि । इओ चेव गच्छामि, जत्थ भगवं

व्यापादयिष्य इति । अत्रान्तरे प्राप्तौ नगरम् । आरामसमीपस्थितेन भणितस्त्वया मंगलकः–भद्र मंगलक ! गच्छ, श्वसुरकुलप्रवृत्तिं मम कुतोऽपि उपलभ्य संपादय, येन प्रविशामो नगरमिति । प्रवृत्तो मंगलकः । चिन्तितं च तेन–प्रविष्टः खलु एष लघ्वेव एतं ग्रहीष्यति । ततस्तथाऽनुतिष्ठामि, यथा नैषोऽत्र प्रविशति । गच्छश्च मम सुखव्यापादनीयो भविष्यति । तत एतत् तस्य निवेदयामि । यथा, स्त्रीस्वभावतः कुलविरुद्धमाचर्य प्रविष्टा (अन्यगृहे) तव गृहिणी । अतोऽत्यन्तमुद्विग्नं तव श्वसुरकुलम् । श्रुतं च अस्माकमागमनमेतैः, अतोऽधिकतरं लज्जितानि । ततो न युक्तमत्र प्रवेष्टुमिति संप्रधार्य ततो नगरं प्रविश्य कृतकालक्षेपः मायाचरितेन विवर्णमुखच्छाय आगतस्तव समीपम् । निवेदितं यथा चिन्तितम् । ततो विषण्णस्त्वम् । चिन्तितं च त्वया-धिगस्तु स्त्रीस्वभावम्, यदेवंविधाऽपि श्रावककुलोत्पन्नाऽपि, सुविज्ञातजिनवचनसाराऽपि उभयलोकविरुद्धमाचरति । अथवा नास्ति दुष्करं मोहभावस्य । ततोऽलं मम इदानीमपि गृहवासेन । प्रपद्यामहे तीर्थंकरभाषितं साधुधर्मम् । एवमवसानः खलु एष स्नेहबन्धः । ततोऽलं मम स्वगृहगमनेनाऽपि । इत एव गच्छामि, यत्र भगवान्

अणंगदेवो । एसो वि मंगलगो इओ चेव वच्चउ घरं, किमिमिणा किलि-
सिएणं ति सपहारिऊण भणिओ जहाचिन्तियमेव मंगलगो । चिन्तियं च
णेणं–अहो ! ! एस मायाचरिएणं मं वञ्चिउं उज्जओ । ता कहमहमि-
मिणा वञ्चिज्जामि त्ति । ता भणामि ताव एयं । जाव तुमं न चिन्तियदेस-
पत्तो सि, ताव कहमहं भवन्तं परिच्चयामि । एयं कइवयदिणाणि इमिणा
सह गच्छिऊण वावाइस्सं इमं ति । चिन्तिऊण भणिओ तुमं इमिणा ।
पडिभणियं च तुमए । भद्द मंगलग ! जइ ते निब्बन्धो, ता एव हवउ त्ति ।
तओ पुच्छिस्सामो कंचि साहुं, कहिं भयवं अणंगदेवो त्ति ? । मन्तिऊण
पत्थिया तुब्भे पढिपहेण । अइक्कन्ता कइवि वासरा । अन्नया अइवि-
सरण्णमज्झवत्तिनइपुलसरन्तरमभिगए दिणयरम्मि 'महासाहसं' ति
कलिऊण अच्चन्तदुट्ठहियएणं लोहदोसओ तहा वि अणियत्तमाणेण मुणे-
सत्थहियओ चेव पहओ तुम पिट्ठिदेसम्मि छुरियाए मंगलगेणं ति । एत्थ-
न्तरम्मि अद्धाणपडिवन्नो अणेयसमणपरियारओ तत्थेव पएसे सहसा
समागओ अणंगदेवो । दिट्ठो तुमं अग्गगामिएहिं साहूहिं । एत्थन्त-
रम्मि सज्झसेण छुरियमवहाय नट्ठो मंगलगो । चिन्तियं च तुमए–हा !

अनङ्गदेव. । एषोऽपि मङ्गलक इत एव व्रजतु गृहम्, किमनेन क्लेशि-
तेनेति सम्प्रधार्य भणितो यथाचिन्तितमेव मङ्गलकः । चिन्तितं च तेन–
अहो ! एष मायाचरितेन मां वञ्चितुं उद्यतः । ततः कथमहमनेन वञ्च्ये
इति । ततो भणामि तावद् एतम् । यावत् त्वं न चिन्तितदेशं प्राप्तोऽसि,
तावत् कथमहं भवन्तं परित्यजामि । एवं कतिपयदिनानि अनेन सह
गत्वा व्यापादयिष्ये इममिति चिन्तयित्वा भणितस्त्वमनेन । प्रतिभणितं
च त्वया । भद्र ! मङ्गलक ! यदि तव निर्बन्धः, तत एवं भवतु इति ।
ततः प्रक्ष्यामः कञ्चिद् साधुम्, कुत्र भगवान् अनङ्गदेव इति मन्त्रयित्वा
प्रस्थितौ युवां प्रतिपथेन । अतिक्रान्ताः कतिचिद् वासराः । अन्यदा
अतिविषमारण्यमध्यवर्तिनदीपुलसरोन्तरमभिगते । दिनकरे 'महासाह-
सम्' इति कलयित्वा अत्यन्तदुष्टहृदयेन लोभदोषतस्तथाऽपि अनिवर्त-
मानेन मुनिविश्वस्तहृदय एव प्रहतस्त्वं पृष्ठदेशे छुरिकया मङ्गल-
केन इति ॥ अत्रान्तरे अध्वप्रतिपन्नोऽनेकश्रमणपरिवृत. तत्रैव प्रदेशे
सहसा समागतोऽनङ्गदेव । दृष्टस्त्वमग्रगामिकैः साधुभिः । अत्रान्तरे
साध्वसेन छुरिकामपहाय नष्टो मङ्गलक. । चिन्तितं च त्वया–हा !

किमेयं ति। किं तक्करा समागया भवे। जोवियं पिट्ठओ, जाव दिट्ठो ससंभमाउलं पलायमाणो मंगलगो। चिन्तियं च तुमए–न एत्थ अन्ने चोरा दीसन्ति, पलायइ य एसो। ता किमेयं ति ?। एत्थन्तरम्मि दिट्ठा सोणियाणुरञ्जिया छुरिया। गहिया य सा तए पच्चभिन्नाया य। तओ संजाओ ते वियप्पो। किमेयं मंगलगेण ववसियं भवे ?। अहवा न एयस्स किंपि एवं ववसायकारणं उप्पेक्खामि। ता सद्देमि ताव एय ति। एसेव मे एत्थ परमत्थं साहिस्सइ। सद्दिओ मंगलगो, जाव अहिययरं पलाइउमारद्धो। तओ अवगओ ते वियप्पो। हन्त ! एएण चेव ववसियं ति। ता किं पुण से इमस्स ववसायस्स कारणं। आभोइओ निहाणयवुत्तन्तो। चिन्तियं च तुमए–नत्थि अकरणिज्जं नाम लोहवसगाणं ति। अओ चेव निमित्तओ जिणमईवुत्तन्तो वि इमिणा विगप्पिओ भवे। अन्नहा कहं तारिसी महाकुलपसूया सुविन्नायजिणवयणसारा य तारिसं उभयलोगविरुद्धं करिस्सइ। एत्थन्तरम्मि पत्ता ते साहवो तमुद्देसं। पच्चभिन्नाओ य तेहिं। वन्दिया य तुमए। धम्मलाहिओ साहूहिं। पुच्छिओ य तेहिं। सावय ! किमेयं ति ?।

किमेतदिति। किं तस्कराः समागता भवेयुः ?। दृष्टं पृष्ठतः, यावद् दृष्टः ससंभ्रमाकुलं पलायमानः मंगलकः। चिन्तितं च त्वया–न अत्र अन्ये चौरा दृश्यन्ते, पलायते च एषः। ततः किमेतदिति। अत्रान्तरे दृष्टा शोणितानुरक्ता छुरिका। गृहीता च सा त्वया प्रत्यभिज्ञाता च। ततः सञ्जातस्तव विकल्पः। किमेतद् मंगलकेन व्यवसितं भवेत् ? अथवा न एतस्य किमपि एवं व्यवसायकारणमुत्प्रेक्षे। ततः शब्दयामि तावद् एतमिति। एष एव ममात्र परमार्थं कथयिष्यति। शब्दितो मङ्गलकः, यावद् अधिकतरं पलायितुमारब्धः। ततोऽपगतस्तव विकल्पः। हन्त ! एतेन एव एतद् व्यवसितमिति। ततः किं पुनः तस्यास्य व्यवसायस्य कारणम् ?। आभोगितो निधानकवृत्तान्तः। चिन्तितं च त्वया–नास्ति अकरणीयं नाम लोभवशगानामिति। अत एव निमित्ततो जिनमतीवृत्तान्तोऽपि अनेन विकल्पितो भवेत्। अन्यथा कथं तादृशी महाकुलप्रसूता सुविज्ञातजिनवचनसारा च तादृशं उभयलोकविरुद्धं करिष्यति। अत्रान्तरे प्राप्तास्ते साधवस्तमुद्देशम्। प्रत्यभिज्ञातश्च तैः। वन्दिताश्च त्वया। धर्मलाभितः साधुभिः। पृष्टश्च तैः। श्रावक ! किमेतदिति।

साहिओ तुमए तेसिं जहावत्तो वुत्तन्तो। समासासिओ साहूहिं। एत्थन्तरम्मि दिट्ठो अणंगदेवेणं। वन्दिओ सो तए। अभिणन्दिओ तुमं इमिणा धम्मलाहेण। पुच्छिओ पउत्तिं। साहिया तुमए। समासासिओ गुरुणा। नियत्तो तुमं समं साहुगच्छेण। पत्तो थाणेसरं नाम सन्निवेसं। ठिओ तत्थ गुरू मासकप्पं। पउणो ते पहारो। उवलद्धा जहाट्ठिया जिणमईपउत्ती। चिन्तियं च तुमए-अहो! मंगलस्स वञ्चणापगारो, अहो निव्विसया मोहस्स अहो! अणुवाएयया संसारस्स। ता जइ वि अवरिग्गहीया जिणमई, तहावि अलं गिहासमेण। संपाडेमि उभयलोगसुहावहं समीहियं। सुविन्नायजिणवयणसारा य सा तुल्लचित्ता य मे पाएण। ता सोऊण इमं वइयरं सा वि य पव्वइस्सइ त्ति। एवं च कए सा वि इमाओ दुक्खबहुलाओ भवसमुद्दाओ समुत्तारिया हवइ। अवं च अणुग्गहियाइ तीए दंसणेणं। बहुविग्घा चरणपडिवत्ती, सुहावहा य। एसा चिय त्ति चिन्तिऊण पव्वइओ अणंगदेवगुरुसमीवे।

अइक्कन्तो कोइ कालो। सुओ एस वइयरो कुओवि जिणमईए। भत्तिणा एसा। चिन्तियं च तीए। सोहणमणुचिट्ठियं अज्जउत्तेण।

कथितस्त्वया तेषां यथावृत्तो वृत्तान्तः। समाश्वासितस्साधुभिः। अत्रान्तरे दृष्टोऽनङ्गदेवेन। वन्दितः स त्वया। अभिनन्दितस्त्वमनेन धर्मलाभेन। पृष्टः प्रवृत्तिम्। कथिता त्वया। समाश्वासितो गुरुणा। निवृत्तस्त्वं समं साधुगच्छेन। प्राप्तः स्थानेश्वरं नाम सन्निवेशम्। स्थितस्तत्र गुरुर्मासकल्पम्। प्रगुणस्तव प्रहारः। उपलब्धा यथास्थिता जिनमतीप्रवृत्तिः। चिन्तितं च त्वया-अहो! मङ्गलस्य वञ्चनाप्रकारः, अहो! निर्विषया मोहस्य, [illegible] ! [illegible] संसारस्य। ततो यद्यपि अव-
परिगृहीता जिन [illegible] । संपादयामि उभयलो-
कसुखावहं समी[illegible] सा [illegible] च मम
लोकेन। ततः [illegible]
सार्धं [illegible]
भवति। अलं [illegible]
सुखावहा [illegible]
अपि [illegible]
गता।

साहिओ तुमए तेसिं जहावत्तो वुत्तन्तो। समासासिओ साहूहि।
एत्थन्तरम्मि दिट्ठो अणंगदेवेणं। वन्दिओ सो तए। अभिणन्दिओ तुमं
इमिणा धम्मलाहेण। पुच्छिओ पउत्तिं। साहिया तुमए। समासासिओ
गुरुणा। नियत्तो तुमं समं साहुगच्छेण। पत्तो थाणेसरं नाम सन्निवेसं।
ठिओ तत्थ गुरू मासकप्पं। पउणो ते पहारो। उवलद्धा जहाट्ठिया जिण
मईपउत्ती। चिन्तियं च तुमए-अहो! मंगलस्स वञ्चणापगारो, अहं
विचित्तया मोहस्स अहो! अणुवाएयया संसारस्स। ता जइ वि अ
णिट्ठयसीला जिणमई, तहावि अलं गिहासमेण। संपाडेमि उभयलोगसुह
यहं समीहियं। सुविन्नायजिणवयणसारा य सा तुल्लचित्ता य मे पाए
ता सोऊण इमं वइयरं सा वि य पव्वइस्सइ त्ति। एवं च कए सा वि
तवस्सिणी इमाओ दुक्खबहुलाओ भवसमुद्दाओ समुत्तारिया हवइ।
च अपव्वइयस्स तीए दंसणेणं। बहुविग्घा चरणपडिवत्ती, सुहावहा
एसा चेव त्ति चिन्तिऊण पव्वइओ अणंगदेवगुरुसमीवे।
अइक्कन्तो कोइ कालो। सुओ एस वइयरो कुओवि जिणम
संविग्गा एसा। चिन्तियं च तीए। सोहणमणुचिट्ठियं अज्जउ

कथितस्त्वया तेषां यथावृत्तो वृत्तान्तः। समाश्वासितस्साधुभिः।
न्तरे दृष्टोऽनङ्गदेवेन। वन्दितः स त्वया। अभिनन्दितस्त्वमनेन
लाभेन। पृष्टः प्रवृत्तिम्। कथिता त्वया। समाश्वासितो गुरुणा
स्त्वं समं साधुगच्छेन। प्राप्तः स्थानेश्वरं नाम सन्निवेशम्।
तत्र गुरुर्मासकल्पम्। प्रगुणस्तव प्रहारः। उपलब्धा यथास्थिता जि
प्रवृत्तिः। चिन्तितं च त्वया-अहो! मङ्गलकस्य वञ्चनाप्रकारः,
विचित्रता मोहस्य, अहो! अनुपादेयता संसारस्य। ततो यद्य-
पि खण्डशीला जिनमती, तथाऽपि अलं गृहाश्रमेण। संपादयामि उभयलो-
कसुखावह समीहितम्। सुविज्ञातजिनवचनसारा च सा तुल्यचित्ता च मम
प्रायेण। ततः श्रुत्वा इमं व्यतिकरं साऽपि च प्रव्रजिष्यतीति। एवं च कृते
साऽपि खलु तपस्विनी अस्माद् दुःखबहुलाद् भवसमुद्रात् समुत्तारिता
भवति। अलं च अप्रव्रजितस्य तस्या दर्शनेन। बहुविघ्ना चरणप्रतिपत्तिः
सुखावहा च एषा एव इति चिन्तयित्वा प्रव्रजितोऽनङ्गदेवगुरुसमीपे॥
अतिक्रान्तः कश्चित् कालः। श्रुत एष व्यतिकरः कुतोऽपि जिन-
मत्या। संविग्ना एषा। चिन्तितं च तया-शोभनमनुष्ठितमार्यपुत्रेण।

किलेसायासबहुलो एस संसारो, विओगावसाणो य संगमो, दारुणो य विवागो विसयपरिभोगस्स, दुल्लहं च मणुयभावंमि जिणमयं, उभयलोयसुहावहं च एयं चेव त्ति । तओ सा एवं विचिन्तिऊण अणुन्नविय जणणिजणए अणुन्नाया तेहिं आगया तं अन्नेसमाणी, जत्थ तुमं । दिट्ठो य अणाए । पेच्छिऊण निव्वुइपुरपट्ठियं तुमं भणियं च अणाए । अज्जउत्त, सोहण-मणुचिट्ठियं तुमए । छिन्ना मोहवल्ली । अवलम्बियं सप्पुरिसचरियं । समुत्तारिया अहं अप्पा य इमाओ भवसमुद्दाओ त्ति । अहिणन्दिऊण पवन्ना पव्वज्जं अणंगदेवगुरुसमीवे । अइक्कन्तो कोइ कालो । निरइयारं सामण्णमणुवालिऊण तुमं कालक्कमेण मओ समाणो उववन्नो पणुवीस-सागरोवमाऊ गेवेज्जगसुरो त्ति । इयरो वि मंगलगो तमत्थं परिग्गहिय महासिलासंचओच्छाइयं च काऊण तम्ममत्तेण तत्थेव देसे कुणिमाहारेण किलेससंपाइयवित्ती अहाउयं पालिऊण मओ समाणो उववन्नो तमाभिहा-णाए नरयपुढवीए बावीससागरोवमाऊ नारगो त्ति । तओ य महया परिकि-लेसेण तमहाउयं पालिऊण उव्वट्टो समाणो एत्थेव विजए रट्ठवद्धणए गामे वेल्लियगस्स चण्डालस्स गेहे छेलगत्ताए उववन्नो त्ति । पत्तो य जोव्वणं ।

क्लेशायासबहुल एष संसारः, वियोगावसानश्च सगमः, दारुणश्च विपाको विषयपरिभोगस्य, दुर्लभं च मनुजभावे जिनमतम्, उभयलोकसुखावहं च एतदेव इति । ततः सा एवं विचिन्त्य अनुज्ञाप्य जननी-जनकौ अनु-ज्ञाता ताभ्याम्, आगता त्वामन्वेषमाणा, यत्र त्वम् । दृष्टश्च अनया । प्रेक्ष्य निर्वृतिपुरप्रस्थितं त्वां भणितं चानया । आर्यपुत्र ! शोभनमनुष्ठितं त्वया । छिन्ना मोहवल्ली । अवलम्बितं सत्पुरुषचरितम् । समुत्तारिताऽ-हम् आत्मा च अस्माद् भवसमुद्राद् इति । अभिनन्द्य प्रपन्ना प्रव्रज्याम् अनङ्गदेवगुरुसमीपे । अतिक्रान्तः कश्चित् कालः । निरतिचारं श्रामण्य-मनुपाल्य त्वं कालक्रमेण मृतः सन् उपपन्नः पञ्चविंशतिसागरोपमायुर्ग्रै-वेयकसुर इति । इतरोऽपि मङ्गलकस्तमर्थं परिगृह्य महाशिलासंचया-वच्छादितं च कृत्वा तन्ममत्वेन तत्रैव देशे कुणिमाहारेण क्लेशसंपादित-वृत्तिर्यथायुष्कं पालयित्वा मृतः सन् उपपन्नः तमाभिधानायां नरक-पृथिव्यां द्वाविंशतिसागरोपमायुर्नारक इति । ततश्च महता परिक्लेशेन तद् यथायुष्कं पालयित्वा उद्वृत्तः सन् अत्रैव विजये राष्ट्रवर्धनके ग्रामे वेल्लितकस्य चाण्डालस्य गृहे छागकतया उपपन्न इति । प्राप्तश्च यौवनम् ।

अन्नया य बहुछेलगमज्झगओ तओ रट्ठवद्धणाओ जयत्थले निज्जमाणो पत्तो इमं निहाणगुद्देसं । समुप्पन्नं च से तमुद्देसमवलोइऊण पुव्वभवब्भासओ जाइस्सरणं । तओ लोहदोसेण विपट्ठो वेल्लियस्स नेच्छइ तओ उद्देसाओ अन्नत्थमभिगन्तुं, चोइज्जन्तो वि पुणो पुणो नियत्तइ । कोहाभिभूएणं वावाइओ वेल्लियगेण । उप्पन्नो तत्थेव निहाणगुद्दे मूसओ । परिग्गहियं च णेण ओहसन्नाए तं दव्वं । अणुवालियं कंचि कालं । अन्नया सोमचण्डो नाम जूयारिओ कहंचि परिब्भमन्तो आगओ तमुद्देसं । उवविट्ठो सालपायवसमीवे । तओ अन्नाणलोहदोसेण तस्स पुरओ सामरिसमिव परिब्भमिउमाढत्तो । वावाइओ य तेणं । समुप्पन्नो य तस्सेव पणट्ठसवणनासिगाए दुग्गिलिगाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तताए त्ति । जाओ कालक्कमेणं । पइट्ठावियं च से नामं रुद्दचण्डो त्ति । पत्तो अणेगजणसंतावगारयं विसपायवो इव जोव्वणं । असमञ्जसं च ववहरिउमारद्धो । अन्नया गहिओ खत्तमुहे । उवणीओ राइणो समरभासुरस्स । समाणत्तो वज्झो । भिन्नो सूलियाए आरक्खियनरेहिं । मओ य समाणो समुप्पन्नो सक्कराभिहाणाए नरयपुढवीए किंचूणतिसागरोवमाऊ नारगो त्ति ।

अन्यदा च बहुछागमध्यगतः ततो राष्ट्रवर्धनाद् जयस्थले नीयमानः प्राप्त इमं निधानकोद्देशम् । समुत्पन्नं च तस्य तमुद्देशमवलोक्य पूर्वभवाभ्यासतः जातिस्मरणम् । ततो लोभदोषेण विकृष्टो वेल्लितकस्य नेच्छति तत उद्देशाद् अन्यत्राऽभिगन्तुम्, चोद्यमानोऽपि पुनः पुनः निवर्तते इति क्रोधाभिभूतेन व्यापादितो वेल्लितकेन । उत्पन्नस्तत्रैव निधानकोद्दे मूषकः । परिगृहीतं चानेन ओघसंज्ञया तद् द्रव्यम् । अनुपालितं कंचि कालम् । अन्यदा सोमचण्डो नाम द्यूताचार्यः कथञ्चित् परिभ्रम आगतस्तमुद्देशम् उपविष्टः शालपादपसमीपे । ततोऽज्ञानलोभदोषेण तस्य पुरतः सामर्षमिव परिभ्रमितुमारब्धः । व्यापादितश्च तेन । समुत्पन्नस्तस्यैव प्रनष्टश्रवणनासिकाया दुर्गिलिकाऽभिधानाया भार्यायाः कुक्षौ पु त्रतया इति । जातः कालक्रमेण । प्रतिष्ठापितं च तस्य नाम रुद्रचण्ड इति प्राप्तोऽनेकजनसंतापकारकं विषपादप इव यौवनम् । असमञ्जसं च व्य वहर्तुमारब्धः । अन्यदा गृहीतः खात्रमुखे । उपनीतो राज्ञः समरभासुरस्य समाज्ञप्तो वध्यः । भिन्नः शूलिकया आरक्षितनरैः । मृतः सन् समुत्प शर्कराभिधानायां नरकपृथिव्यां किञ्चिन्न्यूनत्रिसागरोपमायुर्नारक इ…

तओ अहाउयमणुवालिऊण उव्वट्टो समाणो समुप्पन्नो एत्थेव विजए एत्थेव लच्छिनिलए असोगदत्तस्स सेट्ठिस्स सुहङ्कराए भारियाए कुच्छिसि इत्थियत्ताए त्ति । जाया उचियसमएणं । पइट्ठावियं च से नामं सिरिदेवि त्ति । पत्ता जोव्वणं । दिन्ना सागरदत्तसत्थवाहपुत्तस्स समुद्दत्तस्स । वत्तो विवाहो भुञ्जन्ति भोए त्ति । एत्थन्तरम्मि तुमं गेवेज्जगेहितो चविऊण इमाए चेव कुच्छिसि समुप्पन्नो पुत्तत्ताए त्ति । जाओ कालक्कमेण । पइट्ठावियं च से नामं सागरदत्तो त्ति । पत्तो जोव्वणं । पडिबुद्धो य देवसम्मायरियसमीवे । परिणीया ईसरखन्दसावगस्स धूया नन्दिणि त्ति । भोगसुहमणुहवन्ताणं कालक्कमेणं जाओ ते पुत्तो । अन्नया य पुत्तजम्मब्भुदयनिमित्तेणं चेव सपरिवारो आगओ उज्जाणियाए इमं चेव निहाणगुद्देसं । दिट्ठो य तुमए पुत्तज्झयनिवेसणनिमित्तं खड्ड खणमाणेणं निहाणगकलसकण्ठेगदेसो त्ति । तओ तमन्नत्थ निवेसिऊण तं च पएसं पुणरवि तहेव करिऊण भुत्तुत्तरकाले पविट्ठो नयरं । चिन्तियं तुमए । किमेत्थ जुत्तं ति अम्बं ताव पुच्छामि । साहिओ इमीए एस वइयरो । पुच्छिया एसा 'किमेत्थ जुत्तं' त्ति । तीए भणियं । मम ताव त पएसं

ततः यथायुष्कमनुपाल्य उद्‍वृत्तः सन् समुत्पन्नः अत्रैव विजये, अत्रैव लक्ष्मीनिलये अशोकदत्तस्य श्रेष्ठिनः शुभकराया भार्यायाः कुक्षौ स्त्रीकतया इति। जाता उचितसमयेन। प्रतिष्ठापितं च तस्या नाम 'श्रीदेवी' इति । प्राप्ता यौवनम् । दत्ता सागरदत्तसार्थवाहपुत्रस्य समुद्रदत्तस्य । वृत्तो विवाहः। भुञ्जाते भोगान् इति। अत्रान्तरे त्वं ग्रैवयकेभ्यश्च्युत्वा अस्याश्चैव कुक्षौ समुत्पन्नः पुत्रतया । जातः कालक्रमेण । प्रतिष्ठापितं च तव नाम सागरदत्त इति। प्राप्तो यौवनम् । प्रतिबुद्धश्च देवशर्माचार्यसमीपे । परिणीता ईश्वरस्कन्दश्रावकस्य दुहिता नन्दिनी इति । भोगसुखमनुभवतोः कालक्रमेण जातस्तव पुत्रः अन्यदा च पुत्रजन्माभ्युदयनिमित्तेन चैव सपरिवार आगत उद्यानिकायाम्–इमं चैव निधानकोद्देशम् । दृष्टश्च त्वया पुत्रध्वजनिवेशननिमित्तं गर्तां खनमानेन निधानकलशकण्ठैकदेश इति । ततः तमन्यत्र निवेश्य तं च प्रदेशं पुनरपि तथैव कृत्वा भुक्तोत्तरकाले प्रविष्टो नगरम् । चिन्तितं त्वया–किमत्र युक्तमिति अम्बां तावत् पृच्छामि । कथितोऽस्या एष व्यतिकरः। पृष्टा एषा 'किमत्र युक्तम्' इति। तया भणितम्–मम तावत् तं प्रदेशं

दंसेहि; तओ जं जुत्तं, तं भणिस्सामि त्ति। दाविओ से पएसो। अन्नाणलोहदोसेण चिन्तियं च तीए। वावाएमि एयं तओ एगागिणी गेण्हिस्सामि। एयं चिन्तिऊण भणिओ तुमं। पुत्तय, पभूयमेयं दव्वं। एयंमि घेप्पमाणे कयाइ नरवई अवगच्छे। तओ य सो मे दण्डावहारं पि मा करिस्सइ ता अलं ताव एएणं, अवसरेण गेण्हिस्सामो त्ति। तए भणियं। अम्ब, जं तुम आणवेसि। पविट्ठाइं नयरं। अइक्कन्ता कइवि दियहा तुज्झ सुहेण, इमीए पुण पुव्वभवब्भत्थलोहदोसेण तुह मरणचिन्तोवायवज्जाउलाए दुक्खेणं ति। परिचिन्तिओ उवाओ। देमि से पोसहोववासपारणयभोयणे विसं ति। तओ उववासलहुसरीरो विसप्पओगेण लहुं चेव न भविस्सइ त्ति चिन्तिऊण पउत्तं विसं। लद्धो तुमं तेण। एयन्तरम्मि दिट्ठो नन्दिणीए। कओ अणाए कोलाहलो। तओ अहिययरं ते कूजिउं पवत्ता जणणी। संमिलिओ लोयनिवहो। तओ एगेण सिद्धपुत्तेण विसावहारमन्तसामत्थओ 'साहम्मिओ' त्ति कलिऊण जीवाविओ। समुप्पन्ना य ते चिन्ता। एवमणेगोवद्दवभायणं मणुयाण जीवियं। ता अलं गिहवासेणं। मा पुणो वि मे पमत्तस्स एवमेव

दर्शय, ततो यद् युक्तम्, तद् भणिष्यामि इति। दर्शितस्तस्याः प्रदेशः। अज्ञानलोभदोषेण चिन्तितं च तया—व्यापादयामि एतम्, तत एकाकिनी ग्रहीष्यामि। एवं चिन्तयित्वा भणितस्त्वम्। पुत्रक ! प्रभूतमेतद् द्रव्यम्। एतस्मिन् गृह्यमाणे कदाचिद् नरपतिरवगच्छेत्, ततश्च स मे दण्डापहारमपि मा करिष्यति, ततोऽलं तावद् एतेन, अवसरेण ग्रहीष्याम इति। त्वया भणितम्—अम्ब ! यत् त्वमाज्ञापयसि। प्रविष्टं नगरम्। अतिक्रान्ताः कतिचिद् दिवसाः तव सुखेन, अस्याः पुनः पूर्वभवाभ्यस्तलोभदोषेण तव मरणचिन्तोपायपर्याकुलाया दुःखेनेति। परिचिन्तित उपायः। ददामि तस्य पौषधोपवासपारणकभोजने विषमिति। ततः उपवासलघुशरीरो विषप्रयोगेण लघ्वेव न भविष्यति इति चिन्तयित्वा प्रयुक्तं विषम्। लब्धस्त्वं तेन। अत्रान्तरे दृष्टो नन्दिन्या। कृतोऽनया कोलाहलः। ततोऽधिकतरं तव कूजितुं प्रवृत्ता जननी। संमिलितो लोकनिवहः। तत एकेन सिद्धपुत्रेण विषापहारमन्त्रसामर्थ्यतः 'साधर्मिकः' इति कलयित्वा जीवितः। समुत्पन्ना च तव चिन्ता। एवमनेकोपद्रवभाजनं मनुजानां जीवितम्। ततोऽलं गृहवासेन। मा पुनरपि मम प्रमत्तस्य एवमेव

°णाणावगमो भविस्सइ । अओ पवज्जामि पव्वज्जं ति चिन्तिऊण जहोचिएण विहिणा पवन्नो देवसम्मगुरुसमीवे पव्वज्जं ति । परिवालिऊण निरइयारं काऊण य कालमासे कालं उववन्नो तीससागरोवमाऊ गेवेज्जगसुरो त्ति । एसा य ते जणणी तहाविहलोभेण तम्मि चेव सहत्थनिक्खणनिम्मियं महानिहिं काऊण पुत्तवहपरिणामजणियनरयाउया अमुञ्चिऊण तं दव्वं मया समाणी धूमप्पभाए नरयपुढवीए उववन्ना पन्नरससागरोवमट्ठिई नारगो त्ति । तओ उव्वट्टा समाणी नाणाविहेसु तिरिएसु आहिण्डिय पुव्वभवब्भत्थलोभदोसओ एत्थ नालिएरिपायवत्ताए उववन्न त्ति । तुमं पि य तओ चविऊण सागरदत्तसेट्ठिगेहे सिरिमईए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । दोण्हं पि तुम्हाणं संबन्धे इमा अवत्था । एस एत्थ वइयरो त्ति ॥

तओ ममेयं सोऊण समुप्पन्नो संवेगो, विरत्तो भवचारगाओ मणो । अणुन्नविओ भयवं तन्निहाणे तद्दव्ववइयरं कहेउं । अणुन्नाओ य तेण तओ तं गेण्हाविय सयलदुहियसत्ताणं दाऊण पवन्ना मए विजयधम्मगुरुस्स समीवे पव्वज्ज त्ति ॥

गिरिकुमारेण भणियं—भयवं ! एवमेव, ईइसो चेव एस संसारो ।

ज्ञानावगमो भविष्यति । अतः प्रपद्ये प्रव्रज्यामिति चिन्तयित्वा यथोचितेन विधिना प्रपन्नो देवशर्मगुरुसमीपे प्रव्रज्यामिति । परिपाल्य निरतिचाराम्, कृत्वा च कालमासे कालमुपपन्नः त्रिंशत्सागरोपमायुर्ग्रैवेयकसुर इति । एषा च तव जननी तथाविधलोभेन तस्मिन्नेव स्वहस्तनिखातनिर्मितं महानिधिं कृत्वा पुत्रवधपरिणामजनितनरकायुष्का अमुक्त्वा तद् द्रव्यं मृता सती धूमप्रभायां नरकपृथिव्यामुपपन्ना पञ्चदशसागरोपमस्थितिर्नारक इति । ततः उद्वृत्ता सती नानाविधेषु तिर्यक्षु आहिण्ड्य पूर्वभवाभ्यस्तलोभदोषतोऽत्र नालिकेरीपादपतयोपपन्नेति । त्वमपि च ततश्च्युत्वा सागरदत्तश्रेष्ठिगृहे श्रीमत्याः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न इति । द्वयोरपि युवयोः सम्बन्धे इयमवस्था । एषोऽत्र व्यतिकर इति ॥

ततो मम इदं श्रुत्वा समुत्पन्नः संवेगः, विरक्तं भवचारकात् मनः । अनुज्ञापितो भगवान् तन्निधाने तद्द्रव्यव्यतिकरं कथयित्वा, अनुज्ञातश्च तेन, ततस्तद् ग्राहयित्वा सकलदुःखितसत्त्वेभ्यो दत्त्वा प्रपन्ना मया विजयधर्मगुरोः समीपे प्रव्रज्या इति ॥

गिरिकुमारेण भणितम्—भगवन् ! एवमेव, ईदृश एव एष संसारः,

इच्छंति सव्वजीवा निच्चं दुहिया वि जीविउं जम्हा।
तम्हा तं चेव पियं तेसिं कुसलेण विन्नेयं ॥२३॥
जम्हा य नरवरिन्दो मरणम्मि उवट्ठियम्मि रज्जं पि
देइ सजीवियहेउं तम्हा तं चेव दुक्करं ॥२४॥
दायव्वं च मइमया जं इट्ठं होइ गाहगाणं तु।
तं दाणं परलोए सुहमिच्छंतेण सुविसालं ॥२५॥
दीहाऊ उ सुरूवो नीरोगो होइ अभयदाणेणं।
जम्मन्तरे वि जीवो सयलजणसलाहणिज्जो य ॥२६॥
एयं तु अभयदाणं तियसिन्दनरिन्दनमियचलणेहिं।
सावय ! जिणेहिं भणियं दुज्जयकम्मट्ठदलणेहिं ॥२७॥
धम्मोवग्गहदाणं भण्णइ सयमेव दव्वअविरुद्धं।
नवकोडीपरिसुद्धं दिज्जइ जं धम्मियजणस्स ॥२८॥
तं पुण असणं पाणं वत्थं पत्तं च भेसयं जोग्गं।
दायव्वं तु मइमया तहेव सयणासणं पवरं ॥२९॥

इच्छन्ति सर्वजीवा नित्यं दुःखिता अपि जीवितुं यस्मात्।
तस्मात् तदेव प्रियं तेषां कुशलेन विज्ञेयम् ॥२३॥
यस्माच्च नरवरेन्द्रो मरणे उपस्थिते राज्यमपि।
ददाति स्वजीवितहेतुं तस्मात् तदेव दुष्करम् ॥२४॥
दातव्यं च मतिमता यदिष्टं भवति ग्राहकाणां तु।
तद् दानं परलोके सुखमिच्छता सुविशालम् ॥२५॥
दीर्घायुस्तु सुरूपो नीरोगो भवति अभयदानेन।
जन्मान्तरेऽपि जीवः सकलजनश्लाघनीयश्च ॥२६॥
एतत् तु अभयदान त्रिदशेन्द्रनरेन्द्रनतचरणैः।
श्रावक ! जिनैर्भणितं दुर्जयकर्माष्टदलनैः ॥२७॥
धर्मोपग्रहदानं भण्यते स्वयमेव द्रव्यमविरुद्धम्।
नवकोटिपरिशुद्धं दीयते यद् धार्मिकजनाय ॥२८॥
तत् पुनरशनं पानं वस्त्रं पात्रं च भेषजं योग्यम्।
तु मतिमता तथैव शयनाऽऽसनं प्रवरम् ॥२९॥

तं सद्धाजलरहियं बीयं व न होइ बहुफलं तस्स ।
दाणं बहुं पि पवरं दूसियचित्तस्स मोहेण ॥३७॥
काऊण य पाणिवहं जो दाणं देइ धम्मसद्धाए ।
डहिऊण चन्दणं सो करेइ अंगारवाणिज्जं ॥३८॥
मूढो लोयविरुद्धं धम्मविरुद्धं च देइ जो दाणं ।
सो अप्पाणं तह गाहगं च पाडेइ संसारे ॥३९॥
जाणह गाहगसुद्धं पञ्चमहव्वयधरो उ जो नियमा ।
गुरुसुस्सूसानिरओ जोगम्मि समाहियप्पा य ॥४०॥
तह खन्ति-मद्दव-ऽज्जवजुत्तो धणियं च विगयलोहो उ ।
मण-वयण-कायगुत्तो पञ्चिन्दियनिग्गहपरो य ॥४१॥
सज्झायझाणनिरओ सुद्धप्पा सुद्धसाहुचरिओ य ।
इह परलोए य तहा सव्वत्थं दढं अपडिबद्धो ॥४२॥
मेरु व्व जो न तीरइ उवसग्गसमीरणेहि चालेउं ।
एयारिसम्मि दाणं गाहगसुद्धं तु विन्नेयं ॥४३॥

तद् श्रद्धाजलरहितं बीजमिव न भवति बहुफलं तस्य ।
दानं बहु यदि प्रवरं दूषितचित्तस्य मोहेन ॥३७॥
कृत्वा च प्राणिवधं यो दानं ददाति धर्मश्रद्धया ।
दग्ध्वा चन्दनं स करोति अङ्गारवाणिज्यम् ॥३८॥
मूढो लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च ददाति यो दानम् ।
स आत्मानं तथा ग्राहकं च पातयति संसारे ॥३९॥
जानीत ग्राहकशुद्धं पञ्चमहाव्रतधरस्तु यो नियमात् ।
गुरुशुश्रूषानिरतो योगे समाहितात्मा च ॥४०॥
तथा क्षान्ति-मार्दवा-ऽऽर्जवयुक्तो बाढं च विगतलोभस्तु ।
मनो-वचन-कायगुप्तः पञ्चेन्द्रियनिग्रहपरश्च ॥४१॥
स्वाध्यायध्याननिरतः शुद्धात्मा शुद्धसाधुचरितश्च ।
इह परलोके च तथा सर्वत्र दृढमप्रतिबद्धः ॥४२॥
मेरुरिव यो न शक्यते उपसर्गसमीरणैश्चालयितुम् ।
एतादृशे दानं ग्राहकशुद्धं तु विज्ञेयम् ॥४३॥

जाणह य भावसुद्धं सद्धा-संवेगपायडुल्लासो य ।
कयकिच्चं मन्नंतो अप्पाणं देइ जो दाणं ॥५१॥
नवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं च देयं पि ।
एयं पि भावसुद्धं पसत्थं वीयरागेहिं ॥५२॥
अट्टवसट्टोवगओ अवि सुद्धं देइ कलुसियमणो उ ।
सनियाणं च न एयं भावविसुद्धं हवइ दाणं ॥५३॥
मोक्खत्थं जं दाणं तं पइ एसो विही मुणेयव्वो ।
अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं ॥५४॥
एसो उ दाणमइओ धम्मो संखेवओ समक्खाओ ।
इत्तो य सीलमइयं तु भण्णमाणं निसामेह ॥५५॥
जाणह य सीलमइयं पाणवहा-ऽलिय-अदिन्नदाणाणं ।
मेहुण-परिग्गहाण य विरई जा सव्वहा सम्मं ॥५६॥
तह कोह-माण-माया-लोहस्स य निग्गहो दढं जो उ ।
खंतीय मद्दव-ऽज्जव-संतोसविचित्तरूवेहिं ॥५७॥

जानीत च भावशुद्धं श्रद्धा-संवेगप्रकटोल्लासश्च ।
कृतकृत्यं मन्यमान आत्मानं ददाति यो दानम् ॥५१॥
नवकोटिपरिशुद्धं दशदोषविवर्जितं च देयमपि ।
एतद् अपि भावशुद्धं प्रशस्तं वीतरागैः ॥५२॥
आर्तवशार्तोपगतोऽपि शुद्धं ददाति कलुषितमनास्तु ।
सनिदानं च न एतद् भावविशुद्धं भवति दानम् ॥५३॥
मोक्षार्थं यद् दानं तत् प्रति एष विधिर्ज्ञातव्यः ।
अनुकम्पादानं पुनर्जिनैर्न कुत्रचित् प्रतिषिद्धम् ५४॥
एष तु दानमयो धर्मः संक्षेपतः समाख्यातः ।
इतश्च शीलमयं तु भण्यमानं निशामयत ॥५५॥
जानीत च शीलमयं प्राणवधा-ऽलीका-ऽदत्ताऽऽदानानाम् ।
मैथुन-परिग्रहाणां च विरतिर्या सर्वथा सम्यक् ॥५६॥
तथा क्रोध-मान-माया-लोभस्य च निग्रहो दृढं यस्तु ।
क्षान्त्या मार्दवा-ऽऽर्जव-संतोष

खणलवपडिवुज्झणया सद्धा-संवेगफासणा तह य ।
चित्तेण निरीहेणं मेत्ती वि य सव्वजीवेसु ॥५८॥
एयं च सेविऊणं धम्मं जिणदेसियं सुसीलमयं ।
सुगई पावन्ति नरा ठएन्ति सइ दुग्गइदुवारं ॥५९॥
एसो उ सीलमइओ भणिओ धम्मो जिणेहि सव्वेहि ।
सावय ! परमगुरूहिं दुज्जयजियरागदोसेहिं ॥६०॥
भण्णइ तवोमइओ स बाहिर-ऽब्भन्तरस्स य तवस्स ।
जमणुट्ठाणं कीरइ असेसकम्मक्खयनिमित्तं ॥६१॥
अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥६२॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि य अब्भिन्तरओ तवो होइ ॥६३॥
एवं चरिऊणं तवं जीवा इह-पारलोइयसुहाइं ।
पावेन्ति विसालाइं करेन्ति दुक्खक्खयं तह य ॥६४॥

क्षणलवप्रतिबोधनता श्रद्धा-संवेगस्पर्शना तथा च ।
चित्तेन निरीहेण मैत्री अपि च सर्वजीवेषु ॥५८॥
एवं च सेवित्वा धर्मं जिनदेशितं सुशीलमयम् ।
सुगतिं प्राप्नुवन्ति नराः, स्थगयन्ति सदा दुर्गतिद्वारम् ॥५९॥
एष तु शीलमयो भणितो धर्मो जिनैः सर्वैः ।
श्रावक ! परमगुरुभिर्दुर्जयजितराग-द्वेषैः ॥६०॥
भण्यते तपोमयः सबाह्या-ऽभ्यन्तरस्य च तपसः ।
यद् अनुष्ठानं क्रियते अशेषकर्मक्षयनिमित्तम् ॥६१॥
अनशनमूनोदरिका वृत्तिसंक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥६२॥
प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि च आभ्यन्तरं तपो भवति ॥६३॥
एवं चरित्वा तपो जीवा इह-पारलौकिकसुखानि ।
प्राप्नुवन्ति विशालानि कुर्वन्ति दुःखक्षयं तथा च ॥६४॥

एसो उ तवोमइओ धम्मो संखेवओ समक्खाओ ।
निसुणह एत्तो सुन्दर ! धम्मं पुण भावणामइयं ॥६५॥
सम्मं सम्मद्दंसण-नाण-चरित्ताण-भावणा जाओ ।
वेरग्गभावणा वि य परमा तित्थयरभत्ती य ॥६६॥
संसारजुगुच्छणया कामविरागो सुसाहु-जिणसेवा ।
तित्थयरभासियस्स य धम्मस्स पभावणा तह य ॥६७॥
मोक्खसुहम्मि य राओ अणाययणवज्जणा य सुपसत्था ।
सइ अप्पणो य निन्दा गरहा य कहिंचि खलियस्स ॥६८॥
एसो जिणेहि भणिओ अणन्तनाणीहि भावणामइओ ।
धम्मो उ भीमभववणसुजलियदावाणलब्भूओ ॥६९॥
एयं चउव्विहं फासिऊण धम्मं जिणेहि पन्नत्तं ।
सुन्दर ! अणन्तजीवा पत्ता मोक्खं सदासोक्खं ॥७०॥
तओ एयमायण्णिऊण आविब्भूओ सिहिकुमारस्स जिणधम्मबोहो। भणिओ य णेण भयवं विजयसिंहो—भयवं ! एवमेवं, ईदिसो चेव एस

एष तु तपोमयो धर्मः संक्षेपतः समाख्यातः ।
निशृणुत इतः सुन्दर ! धर्मं पुनर्भावनामयम् ॥६५॥
सम्यक् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां भावना याः ।
वैराग्यभावनाऽपि च परमा तीर्थंकरभक्तिश्च ॥६६॥
संसारजुगुप्सनता कामविरागः सुसाधु-जिनसेवा ।
तीर्थंकरभाषितस्य च धर्मस्य प्रभावना तथा च ॥६७॥
मोक्षसुखे च रागोऽनायतनवर्जना च सुप्रशस्ता ।
सदा आत्मनश्च निन्दा गर्हा च कुत्रचित् स्खलितस्य ॥६८॥
एष जिनैर्भणितोऽनन्तज्ञानिभिर्भावनामयः ।
धर्मस्तु भीमभववनसुज्वलितदावानलभूतः ॥६९॥
एवं चतुर्विधं स्पृष्ट्वा धर्मं जिनैः प्रज्ञप्तम् ।
सुन्दर ! अनन्तजीवाः प्राप्ता मोक्षं सदासौख्यम् ॥७०॥
तत एतद् आकर्ण्य आविर्भूतः शिखिकुमारस्य जिनधर्मबोधः । भणितश्च तेन भगवान् विजयसिंह:—भगवन् ! एवमेव, ईदृश एव एषः

[illegible] संवेयओ समवसाओ ।
[illegible] पुण भावणामइयं ॥६५॥
[illegible]-भावणा जाओ ।
[illegible] निच्चपरमत्तो य ॥६६॥
[illegible] जिणसेवा ।
[illegible] पभावणा तह य ॥६७॥
[illegible] य गुणसत्था ।
[illegible]पस्स ॥६८॥
[illegible] भावणामइओ ।
[illegible] ॥६९॥
[illegible] ।
[illegible] ॥७०॥
[illegible]रो ।
[illegible] एस

एसो उ तवोमइओ धम्मो संखेवओ समक्खाओ ।
निसुणह एत्तो सुन्दर ! धम्मं पुण भावणामइयं ॥६
सम्मं सम्मद्दंसण-नाण-चरित्ताण-भावणा जाओ ।
वेरग्गभावणा वि य परमा तित्थयरभत्ती य ॥६६॥
संसारजुगुच्छणया कामविरागो सुसाहु-जिणसेवा ।
तित्थयरभासियस्स य धम्मस्स पभावणा तह य ॥६
मोक्खसुहम्मि य राओ अणाययणवज्जणा य सुपसत्
सइ अप्पणो य निन्दा गरहा य कहिंचि खलियस्स ॥६
एसो जिणेहि भणिओ अणन्तनाणीहि भावणामइओ
धम्मो उ भीमभववणसुजलियदावाणलब्भूओ ॥६९।
एयं चउव्विहं फासिऊण धम्मं जिणेहि पन्नत्तं ।
सुन्दर ! अणन्तजीवा पत्ता मोक्खं सदासोक्खं ॥७०

तओ एयमायण्णिऊण आविब्भूओ सिहिकुमारस्स जिणधम्मबो
णिओ य णेण भयवं विजयसिङ्घो–भयवं ! एवमेयं, ईदिसो चेव

एष तु तपोमयो धर्मः संक्षेपतः समाख्यातः ।
निश्रृणुत इतः सुन्दर ! धर्मं पुनर्भावनामयम् ॥६५॥
सम्यक् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां भावना याः ।
वैराग्यभावनाऽपि च परमा तीर्थंकरभक्तिश्च ॥६६॥
संसारजुगुप्सनता कामविरागः सुसाधु-जिनसेवा ।
तीर्थंकरभाषितस्य च धर्मस्य प्रभावना तथा च ॥६७॥
मोक्षसुखे च रागोऽनायतनवर्जना च सुप्रशस्ता ।

धम्मो, न एत्थ संदेहो त्ति । किं तु दाणमइयं मोत्तूण न सेसभेया इमस्स सम्मं अवियला तीरन्ति गिहत्थेण काउं । ता आचिक्ख भयवं ! केरिसो पुण इमस्स महापुरिससेवियस्स, सयलदुक्खाणलजलस्स, सिद्धिवहूसंगमेक्कहेउणो समणत्तस्स जोग्गो त्ति । भयवया भणियं-सुण, समणत्तणारिहो आरियदेसुप्पन्नो, विसिट्ठजाइकुलसमन्निओ, खीणप्पायकम्ममलो, तओ चेव विमलबुद्धी 'दुल्लहं माणुसत्तणं, जम्मो मरणनिमित्तं, चलाओ संपयाओ, दुक्खहेयवो विसया, संजोगे विओगो, अणुसमयमेव मरणं, दारुणो विवागो' त्ति अहिगयसंसारसरूवो, तओ चेव तव्विरत्तो, पयणुकसाओ, थेवहासो, अकोउगो, कयन्नू, विणीओ, पुव्वं पि राया-ऽमच्चपउरजणबहुमओ, अदोसगारी, कल्लाणंगो, सद्धावन्तो, थिरसद्धो समुवसंपन्नो य । सिहिकुमारेण भणियं-भयवं ! सोहणो समणत्तणारिहो भयवया पवेइओ । अहं पुण समुवसंपन्नो । ता एवं निवेइए भयवं पमाणं ति । तओ परिचिन्तियं भयवया-जहा य एसो महाभागवन्तो सुहुमपसिणेसु वियक्खणो, अच्चन्तपसन्तरूवो, अइनिउणभणिइकुसलो वि य लक्खिज्जइ, तहा भवियव्वमणेण महाकुलपसूएणं भवविरत्तचित्तेण

धर्म., न अत्र संदेह इति । किं तु दानमयं मुक्त्वा न शेषभेदा अस्य सम्यग् अविकलास्तीर्यन्ते (शक्यन्ते) गृहस्थेन कर्तुम् । तत आचक्ष्व भगवन् ! कीदृशः पुनरस्य महापुरुषसेवितस्य, सकलदुःखाऽनलजलस्य, सिद्धिवधूसंगमैकहेतोः श्रमणत्वस्य योग्य इति । भगवता भणितम्-शृणु, श्रमणत्वार्हः आर्यदेशोत्पन्नः विशिष्टजातिकुलसमन्वितः, क्षीणप्रायकर्ममलः, ततश्चैव विमलबुद्धिः 'दुर्लभं मनुष्यत्वम्, जन्म मरणनिमित्तम्, चलाः संपदः, दुःखहेतवो विषयाः, संयोगे वियोगः, अनुसमयमेव मरणम्, दारुणो विपाकः' इति अधिगतसंसारस्वरूपः, ततश्चैव तद्विरक्तः, प्रतनुकषायः, स्तोकहास्यः, अकौतुकः, कृतज्ञः, विनीतः, पूर्वमपि राजा-ऽमात्य पौरजनबहुमतः अद्वेषकारी, कल्याणाङ्गः, श्रद्धावान्, स्थिरश्रद्धः समुपसंपन्नश्च । शिखिकुमारेण भणितम्-भगवन् ! शोभनः श्रमणत्वार्हो भगवता प्रवेदितः, अहं पुनः समुपसंपन्नः । तत एवं निवेदिते भगवान् प्रमाणमिति । ततः परिचिन्तितं भगवता-यथा खलु एष महाभागवान् सूक्ष्मप्रश्नेषु विचक्षणः, अत्यन्तप्रशान्तरूपः, अतिनिपुणभणितिकुशलोऽपि च लक्ष्यते, तथा भवितव्यमनेन महाकुलप्रसूतेन

य । ता इह ताव एत्थ पत्तकालं, जं एसो उवसंपज्जइ त्ति चिन्तिऊण भणियं च तेण–महासावय ! न सेसगुणविप्पहूणो इहं उवसंपज्जइ। वुत्तं च पयइनिग्गुणे संसारवासे समणत्तणं, किं तु दुक्करमिणं। एत्थ खलु सव्वकालमेव समसत्तुमित्तभावेण पाणाइवायविरई, अप्पमत्तयाए अणालियभासणं, दन्तसोहणमेत्तस्स वि अदिन्नस्स वज्जणा, मण-वयण-काएहिं अबम्भचेरनिरोहो, वत्थ-पत्तो-वगरणेहिं वि निम्ममत्तया, चउव्विहरयणिभत्तविरई, उग्गम-उप्पाय-णेसणाविसुद्धपिण्डगहणं, संजोयणाइपञ्चदोसरहियपरियकालभोयणं, पञ्चसमियत्तणं, तिगुत्तया, इरियासमियाइभावणाओ, अणसण-पायच्छित्त-विणयाइसबाहिरब्भन्तरतवोविहाणं, मासाइया य अणेगाओ पडिमाओ, विचित्ता य दव्वाइओ अभिग्गहा, अण्हाणं, भूमिसयणिज्जं, केसलोओ, निप्पडिकम्मसरीरया, सव्वकालमेव गुरुणा निद्देसकरणं, खुहा–पिवासाइपरीसहाहियासणं, दिव्वाइउवसग्गविजओ, लद्धावलद्धवित्तिया–किं बहुणा ? अच्चन्तदुव्वहमहापुरिसवूढअट्ठारससीलङ्गसहस्सभरवहणमविस्सामं ति । ता तरियव्वो खलु अयं बाहाहिं महासमुद्दो, भक्खियव्वो निरासाय (ए) एव वालुयाकवलो,

---

च । तत इह तावद् अत्र प्राप्तकालम्, यद् एष उपसम्पद्यते इति चिन्तयित्वा भणितं च तेन–महाश्रावक ! न शेषगुणविप्रहीन इह उपसम्पद्यते । उक्तं च प्रकृतिनिर्गुणे संसारवासे इदं श्रमणत्वम्, किं तु दुष्करमिदम् । अत्र खलु, सर्वकालमेव समशत्रुमित्रभावेन प्राणातिपातविरतिः, अप्रमत्ततया अनलीकभाषणम्, दन्तशोधनमात्रस्यापि अदत्तस्य वर्जना, मनोवचन-कायैर् अब्रह्मचर्यनिरोधः, वस्त्र-पात्रो-पकरणेष्वपि निर्ममत्वता, चतुर्विधरात्रिभक्तविरतिः, उद्गमो-त्पादनै-षणाविशुद्धपिण्डग्रहणं संयोजनादिपञ्चदोषरहितमितकालभोजनम्, पञ्चसमितत्वम्, त्रिगुप्तता, ईर्यासमित्यादिभावनाः, अनशन-प्रायश्चित्त-विनयादिसबाह्याऽभ्यन्तरतपोविधानम्, मासादिकाश्च अनेकाः प्रतिमाः, विचित्राश्च द्रव्यादयोऽभिग्रहाः, अस्नानम्, भूमिशयनीयम्, केशलोचः, निष्प्रतिकर्मशरीरता, सर्वकालमेव गुरुणा निर्देशकरणम्, क्षुत्-पिपासादिपरिषहाधिसहनम्, दिव्याद्युपसर्गविजयः, लब्धाऽपलब्धवृत्तिता–किं बहुना ? अत्यन्तदुर्वहमहापुरुषव्यूढाष्टादशशीलाङ्गसहस्रभरवहनमविश्रामम्–इति । ततस्तरीतव्यः खलु अयं बाहुभ्यां महासमुद्रः, भक्षयितव्यो (एव वालुकाकवलः,

परिसक्कियव्वं निसियकरवालधाराए, पायव्वा सुहुयहुयवहजालावली, भरियव्वो सुहुमपवणकोत्थलो, गन्तव्वं गंगापवाहपडिसोएण, तोलियव्वो तुलाए मन्दरगिरी, जेयव्वमेगागिणा चाउरंगबलं, विंधेयव्वा विवरीय-भमन्तचक्कोवरिथिउत्तलिया, गहियव्वा अगहियपुव्वा तिहुयणजयप-डागा। एओवमं दुक्करं समणत्तणं ति ॥

तओ एयमायण्णिऊण पहट्ठवयणकमलेण भणियं सिहिकुमारेण— भयवं! एवमेयं, जहा तुब्भे आणवेह। किं तु विइयसंसारसरूवस्स पाणिणो तव्विओगुज्जयस्स तस्सुच्छेयकारणं न किंचि दुक्करं ति। भय-वया भणियं—एवमेयं, किं तु तं चेव संसारसरूवं पच्चक्खोवलब्भमाणा-सुन्दरं पि अणेयभवभावणाओ मोहेइ पाणिणं, मूढो य सो न चिन्तेइ तस्स-रूवं, न गणेइ आवइं न मन्नए उवएसं, नाभिणन्दइ गुणं, न पेच्छइ कुलं, न सेवइ धम्मं, न संहेइ अयसस्स, न रक्खइ वयणिज्जं। सव्वहा तं समायरइ, जेण जेण सो इहलोए परलोए य किलेसभायणं होइ। ता निरुणियव्वो खलु एस मोहो त्ति। सिहिकुमारेण भणियं—भयवं! तस्स वि य निहणणे

परिसक्तव्यं निशितकरवालधारायाम्, पातव्या सुहुतहुतवहज्वालावली, भर्तव्यः सूक्ष्मपवनकोत्थलः, गन्तव्यं गङ्गाप्रवाहप्रतिस्रोतसा, तोलयि-तव्यः तुलायां मन्दरगिरिः, जेतव्यमेकाकिना चातुरङ्गबलम्, वेद्धव्या विपरीतभ्रमच्चक्रोपरिस्थितपुत्तलिका, ग्रहीतव्या अगृहीतपूर्वा त्रिभुव-नजयपताका। एतदुपमं दुष्करं श्रमणत्वमिति ॥

तत एतद् आकर्ण्य प्रहृष्टवदनकमलेन भणितं शिखिकुमारेण— भगवन्! एवमेतद्, यथा यूयम् आज्ञापयत। किं तु विदितसंसारस्व-रूपस्य प्राणिनः तद्वियोगोद्यतस्य तस्योच्छेदकारणं न किञ्चिद् दुष्कर-मिति। भगवता भणितम्—एवमेतत्, किं तु तदेव संसारस्वरूपं प्रत्यक्षो-पलभ्यमानासुन्दरमपि अनेकभवभावनातो मोहयति प्राणिनः, मूढश्च स न चिन्तयति तत्स्वरूपम्, न गणयति आपदम्, न मन्यते उपदेशम्, नाभिनन्दति गुणम्, न प्रेक्षते कुलम्, न सेवते धर्मम्, न बिभेति अय-शसः, न रक्षति वचनीयम्। सर्वथा तत् समाचरति, येन येन स इह-लोके परलोके च क्लेशभाजनं भवति। ततो निहन्तव्यः खलु एष मोह इति। शिखिकुमारेण भणितम्—भगवन्! तस्यापि च निहनने

अहिहाणं पवत्तए। न उण एत्थ कोइ देहं चइऊण घडचिडओ विव परभवं गच्छइ। ता मा तुमं असन्ते वि परलोगे मिच्छाहिणिवेसभाविय-मई सहावसुन्दरं विसयसुहं परिच्चयसु, दंसेहि वा देहवइरित्त देहिणं। अओ ज तए भणियं—जहा दुल्लहं मणुयत्तणं, तमसंबद्धमेव। जओ न तं सुकय-दुक्कयाणुभावेण लब्भइ, अवि य भूयपरिणईओ, अओ किमिय-माउलत्तणं। तहा जं च भणियं 'अणिच्चा पियजणसमागमा', एयं पि अकारणं। जओ न ते निक्कन्ताण वि अन्नहा होन्ति। तहा जं च भणियं 'चञ्चलाओ रिद्धीओ', एयस्स वि न निक्कमणमेव पडिवक्खो, अवि य उवाएण परिरक्खणं ति। तहा जं च भणियं 'कुसुमसारं जोव्वणं', एत्थ वि य रसायणं जुत्तं, न उण निक्कमणं ति। तहा जं च भणियं 'परलोयपच्चत्थिओ अणंगो' त्ति, एयं पि न सोहणं, जओ परलोओ चेव नत्थि, न य कोइ तओ आगन्तूणमप्पाणयं दंसेइ। एवमवि य परिणत्थणे अइप्पसंगो त्ति। तहा जं च भणियं 'दारुणो विसयविवागो' त्ति, एयं पि न जुत्तिसंगयं; जओ आहारस्स वि विवागो दारुणो चेव, एवं च भोयण-मवि परिच्चइअव्वं। न य 'हरिणा विज्जन्ति त्ति जवा चेव न वुप्पन्ति।'

अभिधानं प्रवर्तते। न पुनरत्र कश्चिद् देहं त्यक्त्वा घटचटक इव परभवं गच्छति। ततो मा त्वमसत्यपि परलोके मिथ्याभिनिवेशभावितमतिः स्वभावसुन्दरं विषयसुखं परित्यज, दर्शय वा देहव्यतिरिक्तं देहिनम्। अतो यत् त्वया भणितम्—यथा दुर्लभं मनुजत्वम्, तद असंबद्धमेव। यतो न तत् सुकृतदुष्कृतानुभावेन लभ्यते, अपि च भूतपरिणतितः। अतः किमिदमाकुलत्वम्। तथा यच्च भणितम् 'अनित्याः प्रियजनसमागमाः,' एतदपि अकारणम्। यतो न ते निष्क्रान्तानामपि अन्यथा भवन्ति। तथा यच्च भणितम् 'चञ्चला ऋद्धयः,' एतस्यापि न निष्क्रमणमेव प्रतिपक्षः, अपि च उपायेन परिरक्षणमिति। तथा यच्च भणितम् 'कुसुमसारं यौवनम्,' अत्रापि च रसायनं युक्तम्, न पुनर्निष्क्रमणमिति। तथा यच्च भणितम्—'परलोकप्रत्यर्थिकोऽनङ्ग' इति, एतदपि न शोभनम्, यतः परलोक एव नास्ति, न च कोऽपि ततः आगत्य आत्मानं दर्शयति। एवमपि च परिकल्पने अतिप्रसङ्ग इति। तथा यच्च भणितम् 'दारुणो विषयविपाक' इति, एतदपि न युक्तिसंगतम्; यत आहारस्यापि विपाको दारुण एव, एवं च भोजनमपि परित्यक्तव्यम्। न च 'हरिणा विद्यन्ते इति यवा एव नोप्यन्ते'।

(जयट्ठिई य एस त्ति) न य उवायभुओ पुरिसस्स दारुणत्तं पि संभवइ। तहा जं च भणियं 'पहवइ य सया अणिवारियपसरो मच्चु'त्ति, एयं पि बालवयणमेत्तं; जेण निक्खन्तस्स वि एस अणिवारियप्पसरो चेव, तेण वि य समणेण 'पज्जन्ते मरियव्वं' ति। न य 'पज्जन्ते मरियव्व' त्ति मसाणे चेवावत्थाणमुववन्नं। न य सन्ते वि परलोए दुक्खसेवणाओ सुहं, अवि य सुहसेवणाओ चेव। जओ जं चेव अब्भसिज्जइ, तस्सेव पगरिसो लोए दिट्ठो, न उण विवज्जओ त्ति। ता विरम एयाओ ववसाओ त्ति। सिहिकुमारेण भणियं–सव्वमिणमसंगयं। सुण। अहवा न जुत्तं भयवओ समक्खं मम जंपिउं। ता भयवं चेव एत्थ भणिस्सइ त्ति। तओ भयवया भणियं–भो महामाहण! सुण। जं तए भणियं, जहा 'केण तुमं पयारिओ' त्ति, एस जम्मन्तरब्भत्थकुसलभावणाभावियमई अप्पावरणसंजुओ वीयरागवयणाविब्भूयखओवसमभावेण समुप्पन्नतत्तनाणो जहट्ठियं भवसहावमवबुज्झिऊण तओ विरत्तो, न उण केणइ विप्पयारिओ त्ति। तहा जं च भणियं–'न खलु एत्थ पञ्चभूयवइरित्तो परलोगगामी जीवो समत्थीयइ, अवि य एयाणि चेव भूयाणि सहावओ चेव

(जगत्स्थितिश्च एषा इति) न च उपायज्ञस्य पुरुषस्य दारुणत्वमपि सम्भवति। तथा यच्च भणितम् 'प्रभवति च सदा अनिवारितप्रसरो मृत्युः' इति, एतदपि बालवचनमात्रम्; येन निष्क्रान्तस्यापि एष अनिवारितप्रसर एव, तेनाऽपि च श्रमणेन पर्यन्ते मर्तव्यमिति। न च 'पर्यन्ते मर्तव्यम्' इति श्मशाने एव अवस्थानमुपपन्नम्। न च सत्यपि परलोके दुःखसेवनात् सुखम्, अपि च सुखसेवनादेव। यतो यदेव अभ्यस्यते, तस्यैव प्रकर्षो लोके दृष्टः, न पुनर्विपर्यय इति। ततो विरम एतस्माद् व्यवसायादिति। शिखिकुमारेण भणितम्–सर्वमिदमसंगतम्। शृणु। अथवा न युक्तं भगवतः समक्षं मम जल्पितुम्। ततो भगवान् एव अत्र भणिष्यति इति। ततो भगवता भणितम्–भो महाब्राह्मण! शृणु। यत्त्वया भणितम्, यथा 'केन त्वं प्रतारित' इति, एष जन्मान्तराभ्यस्तकुशलभावनाभावितमतिरल्पावरणसंयुतो वीतरागवचनाऽऽविर्भूतक्षयोपशमभावेन समुत्पन्नतत्त्वज्ञानो यथास्थितं भवस्वभावमवबुध्य ततो विरक्तः, न पुनः केनचिद् विप्रतारित इति। तथा यच्च भणितम् 'न खलु अत्र पञ्चभूतव्यतिरिक्तः परलोकगामी जीवः समर्थ्यते, अपि च एतानि एव भूतानि स्वभावत एव

एयप्पगारपरिणामपरिणयाणि जीवो त्ति भण्णन्ति', एयं पि न जुत्ति-संगयं । जओ सव्वहा अचेयणाणि भूयाणि । ता कहं इमाणं एयप्पगार-परिणामपरिणयाण वि एसा पच्चक्खपमाणाणुहवमाणा गमणाइचेट्ठा-निबन्धणा चेयणा जुज्जइ त्ति । न हि जं जेसु पत्तेयं न विज्जए, तं तेसि समुदए वि हवइ, जहा वालुयाकणेसु तेल्लं । अह 'पत्तेयं पि इमाणि चेयणाणि' त्ति, तओ सिद्धमणेगचेयन्नसमुदाओ पुरिसो, एगिन्दिया य जीवा, घडाईण य चेयन्नत्तणं ति । न य घडाईण चेयणं ति । अओ अत्थि खलु पञ्चभूयवइरित्तो चेयणारूवो परलोगगामी जीवो त्ति । तओ य जं भणियं-'जया एयाणि चइऊण समुदयं पञ्चत्तमुवगच्छन्ति, तया '' मओ पुरिसो'' त्ति अभिहाणं पयट्टइ', एयं पि वयणमेत्तं चेव । चेयन्नस्स तदइरेगभावविसओ । न याणुहवमाणरूवा चेव चेयणा निसे-हिउं पारीयइ । तहा जं च भणियं-'न उण एत्थ कोइ देहं चइऊण घडचिडओ विय परभवं गच्छइ' त्ति, एयं पि अओ चेव पडिसिद्धं वेइ-यव्वं, चेयणस्स अचेयणभेयाओ त्ति । तहा जं च भणियं-ता मा तुम असन्ते वि परलोए मिच्छाभिणिवेसभावियमई सहावसुन्दरं विसयसुहं

एतत्प्रकारपरिणामपरिणतानि जीव इति भण्यन्ते,' एतदपि न युक्ति-संगतम् । यतः सर्वथा अचेतनानि भूतानि । ततः कथमेषामेत-त्प्रकारपरिणामपरिणतानामपि एषा प्रत्यक्षप्रमाणानुभूयमाना गमनादि-चेष्टानिबन्धना चेतना युज्यत इति । नहि यद् येषु प्रत्येकं न विद्यते, तत् तेषां समुदयेऽपि भवति, यथा वालुकाकणेषु तैलम् । अथ 'प्रत्येक-मपि इमानि चेतनानि' इति, ततः सिद्धमनेकचैतन्यसमुदयः' पुरुषः, एकेन्द्रियाश्च जीवाः, घटादीनां च चेतनत्वमिति । न च घटादिना चेत-नेति । अतोऽस्ति खलु पञ्च भूतव्यतिरिक्तश्चेतनारूपः परलोकगामी जीव इति । ततश्च यद् भणितम्-'यदा एतानि त्यक्त्वा समुदय पञ्चत्वमुपगच्छन्ति, तदा '' मृतः पुरुषः'' इत्यभिधान प्रवर्तते,' एतदपि वचनमात्रमेव । चैतनस्य तदतिरेकभाववृत्तितः । न चानुभूयमानस्वरूपा एव चेतना निषेद्धुं पार्यते । तथा यच्च भणितम्-'न पुनरत्र कोऽपि देहं त्यक्त्वा घटचटक इव परभव गच्छति ' इति एतदपि अत एव प्रतिषिद्ध वेदितव्यम्,चेतनस्य अचेतनभेदाद् इति । तथा यच्च भणितम्-'ततो मा त्व ...ऽपि परलोके मिथ्याभिनिवेशभावितमतिः स्वभावसुन्दर विषयसुख

परिच्चयसु, दंसेहि वा मे देहवइरित्तं देहिणं', एत्थ वि य सुण–चेयन्न-
मेयसिद्धीए कहं नत्थि परलोगो ? विज्जमाणे य तम्मि कहं एयस्स
मिच्छाभिणिवेसो ? । कहं च पसुगणसाहारणा विडम्बणामेत्तरूवा चिन्ता-
यासबहुला मणनिव्वाणवेरिणो अविन्नायवीसम्भसुहसरूवा सहावसुन्दरा
विसय त्ति, किं च तेहिंतो सुहं ? । जं पुण 'सो देहभिन्नो न दीसइ'
एत्थ कारणं सुण–सुहुमो अणिन्दिओ य सो वत्तए, अओ न दीसइ त्ति ।
पेच्छन्ति पुण सव्वन्नू । भणियं च वीयरागेहिं–

अणिन्दियगुणं जीवं अदिस्सं मंसचक्खुणो ।
सिद्धा पस्सन्ति सव्वन्नू नाणसिद्धा य साहुणो ॥७१॥

एवं च पयंपिरम्मि विजयसिहायरिए ईसि विहसिऊण भणियं पिंग-
केण–भयवं ! सव्वमसंबद्धमेव भणियं भयवया । कहं ? सुण–जं ताव
भणियं–'सव्वहा अचेयणाणि भूयाणि, ता कहं इमाणं एयप्पगारपरि-
णामपरिणयाण वि एसा पच्चक्खपमाणाणुभूयमाणा गमणाइचेट्ठानिब-
न्धणा चेयणा जुज्जइ त्ति; न हि जं जेसु पत्तेयं न विज्जए तं तेसिं समुदए वि

परित्यज, दर्शय वा मम देहव्यतिरिक्तं देहिनम्,' अत्राऽपि च शृणु–
चैतन्यमदसिद्धया कथं नाऽस्ति परलोकः ? विद्यमाने च तस्मिन् कथ-
मेतस्य मिथ्याभिनिवेशः ? कथं च पशुगणसाधारणा विडम्बनामात्ररूपा-
श्चिन्ताऽऽयासबहुला मनोनिर्वाणवैरिणोऽविज्ञातविस्रम्भसुखस्वरूपाः
स्वभावसुन्दरा विषया इति ? किं च तेभ्यः सुखम् ? यत् पुनः 'स देह-
भिन्नो न दृश्यते,' अत्र कारणं शृणु–सूक्ष्मोऽनिन्द्रियश्च स वर्तते, अतो
न दृश्यत इति । प्रेक्षन्ते पुनः सर्वज्ञाः । भणितं च वीतरागैः–

अनिन्द्रियगुणं जीवमदृश्यं मांसचक्षुषः ।
सिद्धाः पश्यन्ति सर्वज्ञा ज्ञानसिद्धाश्च साधवः ॥७१॥

एवं च प्रजल्पति विजयसिंहाचार्ये ईषद् विहस्य भणितं पिङ्गकेन–
भगवन् ! सर्वमसंबद्धमेव भणितं भगवता । कथम् ? शृणु–यत् तावद्
भणितम्–'सर्वथा अचेतनानि भूतानि, तत् कथमेवामेतत्प्रकारपरिणाम-
परिणतानामपि एषा प्रत्यक्षप्रमाणानुभूयमाना गमनादिचेष्टानिबन्धना
चेतना युज्यते इति ? न हि यद् येषु प्रत्येकं न विद्यते, तद् तेषां समुदयेऽपि

सयणं दट्ठुं वि न लहइ, किमंग पुणाणुसासिउं ? एवमेव ते नारगा पमा-
यावराहकारिणो तिव्वयरकम्मपरिणामगहिया चण्डेहिं निरयपालेहिं
वज्जसंकलानिबद्धदेहा तिमिरन्धयारदुत्तरनरयनिवासिणो कम्मपरतन्ता
कहं निक्खमिउं लहन्ति, जेण देवाणुप्पियं अणुसासेन्ति ? । भणियं च-

निरयाउए अखीणे निक्खमिउं नो लहन्ति नरगाओ ।
कम्मेण पावकारी नेरइया ते निहम्मन्ति ॥७२॥

पिङ्गकेण भणियं-भयवं ! जइ एवं, ता मम चेव पिया सोमपिंगो नाम, सो अच्चन्तपरलोयभीरू, पाणवहाइविरओ, अकसायसीलो, अणेगजागकारी पच्छा य समणवयं घेत्तूण कञ्चि कालं परियालिय मओ । सो य तुह दंसणेण नियमेण देवेसु उववन्नो । अच्चन्तवल्लहो य अहं तस्स आसि । धम्मं च मे देसियव्वं ति भणियमासी । ता कहं सो अपरतन्तो वि समाणो इहागच्छिऊण मं न पडिबोहेइ । भयवया भणियं-सुण, जहा नाम कोइ दरिद्दपुरिसो, हीणजाइकुलरूवो ववसायं काऊण गहियकलाकलावो देसन्तरमुवगन्तूण तप्पसायओ कहिंचि पत्तरज्जो,

---

स्वजनं द्रष्टुमपि न लभते, किमङ्ग पुनरनुशासितुम् ? एवमेव ते नारकाः प्रमादापराधकारिणस्तीव्रतरकर्मपरिणामगृहीताश्चण्डैर्निरयपालैर्वज्रशृङ्खलानिबद्धदेहास्तिमिरान्धकारदुरुत्तरनरकवासिनः कर्मपरतन्त्राः कथं निष्क्रमितुं लभन्ते, येन देवानुप्रियमनुशासयन्ति । भणितं च-

निरयायुष्यक्षीणे निष्क्रमितुं नो लभन्ते नरकात् ।
कर्मणा पापकारिणो नैरयिकास्ते निहन्यन्ते ॥७२॥

पिङ्गकेन भणितम्-भगवन् ! यदि एवम्, ततो ममैव पिता सोमपिङ्गो नाम, सोऽत्यन्तपरलोकभीरुः, प्राणवधादिविरतः, अकषायशीलः, अनेकयागकारी, पश्चाच्च श्रमणव्रतं गृहीत्वा कञ्चित् कालं परिपाल्य मृतः । स च तव दर्शनेन नियमेन देवेषु उपपन्नः । अत्यन्तवल्लभश्चाहं तस्यासम् । धर्मश्च मम देष्टव्य इति भणितमासीत् । ततः कथं सोऽपरतन्त्रोऽपि सन् इहागत्य मां न प्रतिबोधयति । भगवता भणितम्-शृणु, यथा नाम कोऽपि दरिद्रपुरुषः, हीनजातिकुलरूपो व्यवसायं कृत्वा गृहीतकलाकलापो देशान्तरमुपगत्य तत्प्रसादतः कुत्रचित् प्राप्तराज्यः,

कयविविह-सुन्दरीपरिग्गहो, महानरिन्दपूइओ, संजायाणेगसुन्दरावच्चो, महासोक्खसागरावगाढो न सुमरए लज्जावणिज्जस्स कुकलत्त-पुत्तभण्डगस्स, एवं चेव ते देवा मणुयत्तणमसारं मन्नमाणा धम्मववसायं काऊण गहियपरलोगकलाकलावा सुरालयं पाविऊण पुव्वसुकयपसायओ देविड्ढि पाविऊण तियससुन्दरीपरियरिया, महाणेगदेवगणपूइया, समुप्पन्नाणेयरइनिबन्धणा, अच्चन्तरइसागरावगाढा न सुमरन्ति वि मणुयभावस्स, किमंग पुण आगच्छन्ति ? । ता कहं समणुसासइन्ति ? । भणियं च-

"संकन्तदिव्वपेमा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।
अणहीणमणुयकज्जा नरभवमसुहं न एन्ति सुरा ॥७३॥

पिंगकेण भणियं-भयवं ! जइ एएण हेउणा नागच्छन्ति, देहभिन्नो य जीवो, ता इमं इह नयरवत्तं चेव सव्वलोयपच्चक्खं विरुज्झइ। भयवया भणियं-कहेहि, किं तं नयरवत्तं ति ? । पिंगकेण भणियं-सुण, एत्थ नयरे एगेण तक्करेण नरवइभण्डागारं मुट्ठमासी । सो य कहंचि निग्गच्छमाणो गहिओ निउत्तपुरिसेहिं । गेण्हिऊण सलोत्तगो चेव

कृतविविधसुन्दरीपरिग्रहः, महानरेन्द्रपूजितः, संजातानेकसुन्दरापत्यः, महासौख्यसागरावगाढो न स्मरति लज्जापनेयस्य कुकलत्र पुत्रभाण्डकस्य, एवं चैव ते देवा मनुजत्वमसारं मन्यमानाः, धर्मव्यवसायं कृत्वा गृहीतपरलोककलाकलापाः, सुरालयं प्राप्य पूर्वसुकृतप्रसादतो देवर्द्धि प्राप्य त्रिदशसुन्दरीपरिकरिताः, महानेकदेवगणपूजिताः, समुत्पन्नानेकरतिनिबन्धनाः, अत्यन्तरतिसागरावगाढा न स्मरन्त्यपि मनुजभावस्य, किमंग पुनरागच्छन्ति ? । ततः कथं समनुशासयन्ति ? । भणितं च-

संक्रान्तदिव्यप्रेमाणो विषयप्रसक्ता असमाप्तकर्तव्याः ।
अनधीनमनुजकार्या नरभवमशुभं नाऽऽयन्ति सुराः ॥७३॥

पिंगकेन भणितम्-भगवन् ! यदि एतेन हेतुना नागच्छन्ति, देहभिन्नश्च जीवः, तत इदमिह नगरवृत्तं चैव सर्वलोकप्रत्यक्षं विरुध्यते । भगवता भणितम्-कथय, किं तद् नगरवृत्तम्-इति ? । पिंगकेन भणितम्-शृणु, अत्र नगरे एकेन तस्करेण नरपतिभाण्डागारं मुष्टमासीत् । स च कथंचिद् निर्गच्छन् गृहीतो नियुक्तपुरुषैः । गृहीत्वा सलोप्त्रक एव

उवणीओ नरवइस्स। राइणा भणियं–वावाएह एयं। तओ सो वहनिउत्तेन लोहकुम्भीए पक्खित्तो; पक्खिविऊण य ठइया लोहकुम्भी। सम्मं ठयाइं छिड्डाइं तत्तसीसएणं। तओ दिन्ना रक्खवालया। तहिं च सो उवगओ पञ्चत्तं। न दिट्ठो सुहुमो वि से निग्गमणमग्गो त्ति। अओ अवगच्छामो, न अन्नो जीवो त्ति॥ भयवया भणियं–भद्द! जं किंचि एयं ति। सुण, इहेगम्मि नयरे एगो संखिओ विन्नाणपगरिसं संपत्तो सीहदारे वि ठिओ धमेन्तो सव्वनयरजणस्स कण्णे वि य धमेइ। सो य राइणा पुच्छिओ–कियद्दूरे धमेसि? तेण भणियं–देव! सीहदारम्मि। राइणा भणियं कह मम ठइयदुवारे वि वासहरए पविसइ त्ति? तेण भणियं–नत्थि से पडिघाओ त्ति। तओ राइणा असद्दहन्तेण सो पुरिसो ससंखगो चेव उड्डियाए पक्खित्तो, वुत्तो य 'वाएज्जसि संखं'। ठइया उड्डिया जउसारीकया य। वाइओ तेण संखो। विनिग्गओ से सद्दो, उवलद्धो राइणा नायरेहिं। न य तस्स निग्गमणछिड्डमुवलद्धं ति। एवं इहावि भवे, को विरोहो त्ति?॥

पिंगकेण भणियं–भयवं! न एयमेवं ति। सुण। इहेगो

उपनीतो नरपतेः। राज्ञा भणितम्–व्यापादयत एतम्। ततः स वधनियुक्तेन लोहकुम्भ्यां प्रक्षिप्तः, प्रक्षिप्य च स्थगिता लोहकुम्भी। सम्यक् स्थगितानि छिद्राणि तप्तसीसकेन। ततो दत्ता रक्षपालकाः। तत्र च स उपगतः पञ्चत्वम्। न दृष्टः सूक्ष्मोऽपि तस्य निर्गमनमार्ग इति। अतोऽवगच्छामः, न अन्यो जीव इति॥ भगवता भणितम्–भद्र! यद् किञ्चिद् एतद् इति। शृणु। इहैकस्मिन् नगरे एकः शाङ्खिको विज्ञानप्रकर्षं सम्प्राप्तः सिंहद्वारे (मुख्यद्वारे) अपि स्थितः धमन् सर्वनगरजनस्य कर्णेऽपि च धमति। स च राज्ञा पृष्टः–कियद्दूरे धमसि? तेन भणितम्–देव! सिंहद्वारे। राज्ञा भणितम्–कथं मम स्थगितद्वारेऽपि वासगृहे प्रविशति–इति? तेन भणितम्–नास्ति तस्य प्रतिघात इति। ततो राज्ञाऽश्रद्दधता स पुरुषः सशङ्खक एव ऊर्ध्विकायां प्रक्षिप्तः, उक्तश्च 'वादय शङ्खम्'। स्थगिता ऊर्ध्विका जतुसारीकृता च। वादितस्तेन शङ्खः। विनिर्गतस्तस्य शब्दः, उपलब्धो राज्ञा नागरैः। न च तस्य निर्गमनच्छिद्रमुपलब्धमिति। एवमिहापि भवेत्, को विरोध इति?॥

पिङ्गकेन भणितम्–भगवन्! नैवमेतद् इति। शृणु। इहैकः

तक्करजुवाणओ मित्तेण मे कालदण्डपासिएण मम वयणाओ तुलाए तोलिऊण गलकरमोडएण वावाइओ। सो य पुणो वि तोलिओ जाव जत्तिओ सजीवो तत्तिओ अजीवो वि। अओ अवगच्छामो, न अन्नो जीवो; अन्नहा ऊणगरुओ होन्तो त्ति॥ भगवया भणियं-भद्द! जं किंचि एयं। सुण, इहेगेणं गोवालेण वायभरिओ वत्थिपुडगो तुलाए तोलाविओ, रित्तो पुणो वि तोलाविओ, जाव जत्तिओ भरिओ, तत्तिओ रित्तओ वि। अह य अन्नो तओ वाओ त्ति। अह मन्नसे, सो मणाग ऊणगो त्ति। एवं च होन्तगे इयरम्मि वि समो पसंगो॥ पिङ्गकेण भणियं-भयवं! न एयमेयं ति। सुण, इहेव नयरे मित्तेण मे कालदण्डपासिएण मम वयणाओ एगस्स तक्करस्स सरीरयं संवत्तुव्वत्तयं करेन्तेण वि मग्गिओ जीवो, न य दिट्ठो। तओ से सरीरयं खण्डखण्डाइं करेन्तेण पुणो वि मग्गिओ, न य दिट्ठो त्ति। अओ अवगच्छामो-न अन्नो जीवो। भयवया भणियं-भद्द! जं किंचि एयं। सुण, इहेगेण मणुस्सेण अरणिं संवत्तुव्वत्तयं करेन्तेण वि मग्गिओ अग्गी, न य दिट्ठो। तओ तेण अरणिं खण्डखण्डाइं करेन्तेण पुणो वि मग्गिओ, न य दिट्ठो त्ति। ता किं सो न तम्मि अत्थि त्ति?।

तस्करयुवको मित्रेण मम कालदण्डपाशिकेन मम वचनात् तुलायां तोलयित्वा गलकरमोटकेन व्यापादितः। स च पुनरपि तोलितः। यावद् यावान् सजीवः, तावान् अजीवोऽपि। अतोऽवगच्छामः, न अन्यो जीवः, अन्यथा ऊनकल्पोऽभविष्यद् इति॥ भगवता भणितम्-भद्र! यत् किञ्चिद् एतत्। शृणु, इहैकेन गोपालेन वातभृतो बस्तिपुटकस्तुलायां तोलितः, रिक्तः, पुनरपि तोलितः, यावद् यावान् भृतः, तावान् रिक्तोऽपि। अथ च अन्यस्ततो वात इति। अथ मन्यसे, स मनाग् ऊनक इति। एवं च भवति इतरस्मिन्नपि समः प्रसङ्गः॥ पिङ्गकेन भणितम्-भगवन्! न एवमेतद्। शृणु, इहैव नगरे मित्रेण मम कालदण्डपाशिकेन मम वचनाद् एकस्य तस्करस्य शरीरकं सवर्तोद्वर्तकं कुर्वताऽपि मार्गितो जीवः, न च दृष्टः। ततस्तस्य शरीरकं खण्डखण्डानि कुर्वता पुनरपि मार्गितः, न च दृष्ट इति। अतोऽवगच्छामः-न अन्यो जीवः। भगवता भणितम्-भद्र! यद् किञ्चिद् एतत्। शृणु, इहैकेन मनुष्येण अरणिं सवर्तोद्वर्तकं कुर्वताऽपि मार्गितोऽग्निः, न च दृष्टः। ततस्तेन अरणिं खण्डखण्डानि कुर्वता पुनरपि मार्गितः न च दृष्ट इति। ततः किं स न तस्मिन्नस्ति इति?।

अह मन्नसे नत्थि त्ति, एवं तओ अणुप्पायपसंगो ॥

एवं च भणिए उत्तरप्पयाणाभावेण विलियमिव पिंगकं पेच्छिऊण भणियं भयवया–ता एवं रुक्खसाहापयलणनिमित्तपवणो व्व अदिस्समाणो वि चक्खुणा सरीरचेट्ठानिमित्तभूओ जीवो अत्थि त्ति सद्धेयं। अह मन्नसे, पवणो फासिन्दिएण घेप्पइ। हन्त ! जीवो वि चित्तचेयणाइधम्माणुहवेण घेप्पइ त्ति। भणियं च–

चित्तं चेयण सन्ना विन्नाणं धारणा य बुद्धी य।
ईहा मई वियक्का जीवस्स उ लक्खणा एए ॥७४॥

ता अत्थि जीवो त्ति। एवं च होन्तए जं तुमए भणियमासि, जहा–'दुल्लहं खलु एयं माणुसत्तणं ति, एयमसंबद्धं चेव; जओ न तं सुकयदुक्कयाणुभावेण लब्भइ, अवि य भूयपरिणईओ त्ति, अओ किमियमाउलत्तणं' त्ति, एयमजुत्तं। न हि परलोगगामुए जीवे विज्जमाणे चेव एयं समत्थधम्मारम्भसाहगं माणुसत्तणं भूयपरिणइमेत्तलब्भं ति। तहा जं भणियं–'अणिच्चा पियजणसमागम त्ति, एयं पि

अथ मन्यसे नास्तीति। एवं ततोऽनुत्पादप्रसङ्गः ॥

एवं च भणिते उत्तरप्रदानाभावेन व्यलीकं (लज्जितम्) इव पिङ्गकं प्रेक्ष्य भणितं भगवता–तत एव वृक्षशाखाप्रचलननिमित्तपवन इव अदृश्यमानोऽपि चक्षुषा शरीरचेष्टानिमित्तभूतो जीवोऽस्ति इति श्रद्धेयम्। अथ मन्यसे, पवनः स्पर्शेन्द्रियेण गृह्यते। हन्त ! जीवोऽपि चित्तचेतनादिधर्मानुभवेन गृह्यत इति। भणितं च–

चित्तं चेतना संज्ञा विज्ञानं धारणा च बुद्धिश्च।
ईहा मतिर्वितर्को जीवस्य तु लक्षणानि एतानि ॥७४॥

ततोऽस्ति जीव इति। एवं च भवति यत् त्वया भणितमासीत्, यथा–'दुर्लभं खलु एतद् मनुष्यत्वम्–इति, एतद् असम्बद्धमेव; यतो न तत् सुकृतदुष्कृतानुभावेन लभ्यते, अपि च भूतपरिणतिरिति, अतः किमियमाकुलत्वम्' इति, एतद् अयुक्तम्। न हि परलोकगामुके जीवे विद्यमाने एव एतद् समस्तधर्मारम्भसाधकं मनुष्यत्वं भूतपरिणतिमात्र- ...। तथा यद् भणितम्–'अनित्याः प्रियजनसमागमा इति, एतदपि

अकारणं, जओ न ते निक्खन्ताणं पि अन्नहा होन्ति,' एयं पि न सोहणं; जओ निक्खन्ताणमिह मुणीणं पिया-ऽपियवियप्पो चेव नत्थि त्ति । तहा जं च भणियं–'चञ्चलाओ रिद्धीओ त्ति, एयस्स वि न निक्खमणं चेव ... ...' ति, एयं पि बालवयणसरिसं ... रिरक्खणोवाओ, असाराओ य ... णोओ य। तहा जं च भणियं–'कुसुमसारं जोव्वणं ति, एत्थ वि य रसायणं जुत्तं, न पुणो निक्खमणं' ति, एय पि न संगयं। जओ न निक्खमणधम्मसाहणरसायणाओ परमत्थचिन्ताए अन्न रसायणं ति। तहा ज च भणिय–'परलोयपच्चत्थिओ धम्मो त्ति, एय पि न सोहण; जओ परलोओ चेव नत्थि, न य कोइ तओ आगन्तूणमप्पाणय दसेइ, एवमवि य परियप्पणे अइप्पसंगो' त्ति, एय पि हु असारं। विचित्तकिरियाणुहव–जाइस्सरणोवलम्भतवकहियपच्चया विज्जमाणुप्पाइसिद्धो कहं परलोओ चेव नत्थि ?। अप्पाणयादसणे य भणिय कारण। तह जं च भणियं–'दारुणो विसयविवागो त्ति, एयं पि न जुत्तिसंगय; जओ आहारस्स विवागो दारुणो

अकारणम्, यतो न ते निष्क्रान्तनामपि अन्यथा भवन्ति,' एतदपि न शोभनम्; यतो निष्क्रान्तानामिह मुनीनां प्रिया-ऽप्रियविकल्प एव नास्ति इति। तथा यच्च भणितम्–'चञ्चला ऋद्धय इति, एतस्याऽपि न निष्क्रमणमेव प्रतिपक्षः, अपि च उपायेन परिरक्षणम्' इति, एतदपि बालवचनसदृशमेव। यतो न धर्ममेव मुक्त्वा अन्यः परिरक्षणोपायः, असाराश्च इमाः द्व्यर्द्धयोऽनेकसत्त्वापकारिण्यश्च। तथा यच्च भणितम्–'कुसुमसारं यौवनमिति, अत्रापि च रसायनं युक्तम्, न पुनर्निष्क्रमणम्' इति, एतदपि न सङ्गतम्। यतो न निष्क्रमणधर्मसाधनरसायनात् परमार्थचिन्तायामन्यद् रसायनमिति। तथा यच्च भणितम्–'परलोकप्रत्यर्थिकोऽनङ्ग इति, एतदपि न शोभनम्; यतः परलोक एव नास्ति, न च कश्चित् तत आगत्य आत्मानं दर्शयति, एवमपि च परिकल्पने अतिप्रसङ्गः' इति, एतदपि खलु असारम्। विचित्रक्रियानुभव-जातिस्मरणोपलम्भतर्कहितप्रत्ययाद् विद्यमानोत्पादादिसिद्धः कथं परलोक एव नास्ति ?। आत्मादर्शने च भणितं कारणम्। तथा यच्च भणितम्–दारुण विषयपाक इति, एतदपि न युक्तिसङ्गतम्; यत आहारस्य विपाको दारुण

चेव, एवं च भोयणमवि परिच्चइयव्वं; न य 'हरिणा विज्जंति' त्ति जाओ
न वुप्पज्जंत त्ति, न य उवायन्नुणो पुरिसस्स दारुणत्तं पि संभवइ त्ति एयं
अणालोइयवयणं । जओ सव्वं चेव संसारियं वत्थुं विवागदारुणं ति
तं च कमेण वज्जिज्जइ, अहिप्पेओ य पव्वज्जाफलं संसारवोच्छेओ चेव त्ति
न य बंधुपरिच्चएण विसयपरिभोओ लोएइ त्ति । अओ चिय न
दारुणत्तं पि संभवइ त्ति । जं पि य भणियं—'पहवइ सया अणिवा-
रियपसरो मच्चु त्ति, एयं पि बालवयणमेत्तं ति; जेण निक्कमणस्स वि एस
अनिवारियपसरो चेव, न य पज्जंते मरियव्वं ति एयाओ चेव
जुत्तयं, न य संते वि परलोए दुक्खसेवणाओ सुहं, अवि य सुहे-
वणाओ चेव, जओ ज चेव अब्भसिज्जइ तस्सेव पगरिसो लोए दिट्ठो
न उण विवज्जए त्ति, ता विरम एयाओ ववसायाओ' त्ति, एयं पि मुद्ध-
जणमोहणं। जओ न निक्कमणसाहियफलस्स एस अनिवारियपसरो त्ति।
निक्कमणस्स हि फलं जम्हा जम्माभावओ निव्वाणं, निव्वाणपत्तस्स य
इमस्स जीवस्स न जम्मो, न जरा, न वाही, न मरणं, न इट्ठविओगो,
न अणिट्ठसंपओगो, न बुभुक्खा, न पिवासा, न रागो, न दोसो

एव, एवं च भोजनमपि परित्यक्तव्यम्; न च 'हरिणा म्रियन्ते' इति य
एव नोत्पद्यन्ते इति, न च उपायज्ञस्य पुरुषस्य दारुणत्वमपि संभवति' इ
एतदपि अनालोचितवचनम्। यतः सर्वमेव सांसारिकं वस्तु विपाकदा
मिति। तच्च क्रमेण वर्ज्यते, अभिप्रेतश्च प्रव्रज्याफलं संसारक्षय एवेति
न च बन्धुपरिवर्जनेन विषयपरिभोगः क्षयते इति। अत एव न
दारुणत्वमपि संभवतीति। यथा यच्च भणितम्—'प्रभवति सदा अ
धारितप्रसरो मृत्युरिति, एतदपि बालवचनमात्रमिति; येन निष्क्रा
स्याऽपि एष अनिवारितप्रसर एव; न च पर्यन्ते मर्तव्यमिति इम
एव अवस्थानमुपपन्नम्; न च सत्यपि परलोके दुःखसेवनात् सुख
अपि च सुखसेवनादेव, यतो यच्चैव अभ्यस्यते तस्यैव प्रकर्षो लोके दृ
न पुनर्विपर्यये इति, ततो विरम एतस्माद् व्यवसायाद्' इति, एत
मुग्धजनलोभनम्। यतो न निष्क्रमणसाधितफलस्य एष अनिवा
प्रसर इति। निष्क्रमणस्य हि फलं यस्माद् जन्माभावजं निर्वाणम्, नि
णप्राप्तस्य चास्य जीवस्य न जन्म, न जरा, न व्याधिः, न मरणम्,
[illegible], न अनिष्टसंप्रयोगः, न बुभुक्षा, न पिपासा, न रागः, न द्वे

न कोहो, न माणो, न माया, न लोहो, न भयं, न य अन्नो वि कोइ उवद्दवो त्ति, किं तु सव्वन्नू सव्वदरिसी निरुवमसुहसंपन्नो तिलोयचूडामणीभूओ मोक्खपए चिट्ठइ। अओ कहं तत्थ मच्चुणो पसरो? । न य अपयट्टकज्जारंभो पुरिसो फलं साहेइ। कहं च पइसमयमेव मरणाभिभूयाणं कापुरिसाणं तस्स पडियारमचिन्तयन्ताणं अवत्थाणं पसंसिज्जइ? । अओ 'न य पज्जन्ते मरियव्वं ति मसाणे चेवावत्थाणमुववन्नं' ति पहसणप्पायं। न य सयलसंगचाईण वीयरागवयणेण कम्मक्खउज्जयाणं परिणयचरित्तभावणाणं समणाणं जं सुहं, तं चक्कवट्टिणो वि न जुज्जइ त्ति। भणियं च भयवया-"इह खलु संसारे न सव्वहा सुहमत्थि, अणभिन्नायसुहसरूवा य एत्थ पाणिणो, कम्मसंजोए दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, आजाई दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, जरा दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, इच्छा दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, पियं दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, संकिलेसो दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, मरणं दुक्खं तन्निवित्ती सुहं, अणाइकम्मसंजोगओ य णं इमे पाणिणो अणभिन्ना य सुहसरूवस्स त्ति बेमि। एवं आजाइ-जरा-इच्छा-पिय-संकिलेस-मरणेसु वि विभासा। से जहा नाम केइ पुरिसा आजाइरोगखेत्तुप्पन्ना

न क्रोधः, न मानः, न माया, न लोभः, न भयम्, न च अन्योऽपि कोऽपि उपद्रव इति, किं तु सर्वज्ञो सर्वदर्शी निरुपमसुखसंपन्नस्त्रिलोकचूडामणीभूतो मोक्षपदे तिष्ठति। अतः कथं तत्र मृत्योः प्रसरः? । न चाप्रवृत्तकार्यारम्भः पुरुषः फलं साधयति। कथं च प्रतिसमयमेव मरणाभिभूतानां कापुरुषाणां तस्य प्रतीकारमचिन्तयतामवस्थानं प्रशस्यते? । अतो 'न च पर्यन्ते मर्तव्यमिति श्मशाने एवावस्थानमुपपन्नम्' इति प्रहसनप्रायम्। न च सकलसंगत्यागिनां वीतरागवचनेन कर्मक्षयोद्यतानां परिणतचारित्रभावनानां श्रमणानां यत् सुखम्, तत् चक्रवर्तिनोऽपि न युज्यते इति। भणितं च भगवता-"इह खलु संसारे न सर्वथा सुखमस्ति, अनभिज्ञातसुखस्वरूपाश्च अत्र प्राणिनः, कर्मसंयोगे दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, आजातिर्दुःखं तन्निवृत्तिः। (त्तिः) सुखम्, जरा दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, इच्छा दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, प्रियं दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, संक्लेशो दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, मरणं दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, अनादिकर्मसंयोगतश्च इमे प्राणिनोऽनभिज्ञाश्च सुखस्वरूपस्येति ब्रवीमि। एवम् आजाति-जरा-इच्छा-प्रिय-संक्लेश-मरणेषु अपि विभाषा। तद् यथा नाम-केचित् पुरुषा आजातिरोगक्षेत्रोत्पन्ना

आजाइरोगगहिया अदिट्ठारोगपुरिसाइया आमरणं तब्भावा अणभिन्ना आरोग्गसुहसरूवस्स, एवं चेव समणाउसो! अणाइअणवयग्गसंसारवासी इमे पाणिणो त्ति। जेण दट्ठूण वि य णं जहा ते अरोगिपुरिसं तेसु तेसु रोगिपुरिसाणुकूलेसु समायारेसु अवट्टमाणं सव्वरोगनिग्घायणि किरियमणुसासयन्तं अत्थेगे पउस्सन्ति, अत्थेगे उवहसन्ति, अत्थेगे अवहीरन्ति, अत्थेगे सुणन्ति, अत्थेगे न परिणामेन्ति, अत्थेगे परिणामेन्ति, अत्थेगे नाणुचिट्ठन्ति, अत्थेगे अणुचिट्ठन्ति, अत्थेगे सज्झं विराहेन्ति; अत्थेगे किच्छसज्झं विराहेन्ति, अत्थेगे न विराहेन्ति, अविराहणाए य णं अत्थि केइ सव्वदुक्खविमोक्खं करेन्ति, करेत्ता तब्भावं विउट्टन्ति, तओ अइक्कन्ततब्भावे खलु अय पुरिसेऽविगट्ठे अभिन्नायारोग्गसुहसरूवे भवइ, समणपरिणामगामा वि आवयट्टमभिन्नायारोग्गसुहसरूवा भवन्ति एवमेव समणाउसो! आवट्टलतवासा इमे पाणिणो दट्ठूण वि य णं भावारोग्गपुरिसं तेसु तेसु कम्मसंजोगाइदुक्खगहियपुरिसाणुकूलेसु समयारेसु अवट्टमाणं सव्वदुक्खनिग्घायणिं च किरियमणुसासयन्तं अत्थेगे (जाव-) अविपट्टमभिन्नायारोग्गसुहसरूवा भवन्ति, न पुण अन्नहत्ति"॥

आजातरोगगृहीता अदृष्टाऽरोगपुरुषादिका आमरणं तद्भावाद् अनभिज्ञा आरोग्यसुखस्वरूपस्य, एवमेव श्रमणायुष्मन्! अनाद्यपर्यवसानावर्तक्षेत्रवासिन इमे प्राणिनः इति। यन दृष्ट्वाऽपि च यथा ते अरोगिपुरुषं तेषु तेषु रोगपुरुषानुकूलेषु समाचारेषु अवर्तमानं सर्वरोगनिर्घातिनीं क्रियामनुशासयन्तं सन्त्येके (पुरुषाः) द्विषन्ति, सन्त्येके उपहसन्ति, सन्त्येके अवधीरयन्ति, सन्त्येके शृण्वन्ति, सन्त्येके न परिणमयन्ति, सन्त्येके परिणमयन्ति, सन्त्येके नानुतिष्ठन्ति, सन्त्येकेऽनुतिष्ठन्ति, सन्त्येके साध्यं विराधयन्ति, सन्त्येके कृच्छ्रसाध्यं विराधयन्ति, सन्त्येके न विराधयन्ति, अविराधनया च सन्ति केचित् सर्वदुःखविमोक्षं कुर्वन्ति, कृत्वा तद्भावं विकुट्टयन्ति, ततोऽतिक्रान्ततद्भावे खलु, अयं पुरुषोऽविसंवादितमभिज्ञाताऽऽरोग्यसुखस्वरूप इति भवति, श्रमण परिणामग्रामिणोऽपि अविसंवादितमभिज्ञाताऽऽरोग्यसुखस्वरूपा भवन्ति, एवमेव श्रमणायुष्मन्! आवर्तक्षेत्रवासिन इमे प्राणिनः दृष्ट्वाऽपि च तं भावाऽऽरोग्यपुरुषं तेषु तेषु कर्मसंयोगादिदुःखगृहीतपुरुषानुकूलेषु समाचारेषु अवर्तमानं सर्वदुःखनिर्घातिनीं च क्रियामनुशासयन्तं सन्त्येके (यावत्-) अविसंवादितमभिज्ञाताऽऽरोग्यसुखस्वरूपा भवन्ति, न पुनरन्यथा" इति॥

अओ न दुक्खसेवणं साहुकिरिया, अवि य सुहं चेव । भणियं च—

तिणसंथारनिवन्नो वि मुणिवरो भट्ठराग-मय-मोहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ? ॥७५॥

अओ सुहसेवणाओ चेव सुहपयरिसो त्ति सच्चं चेवोववन्नं ति । एयन्तरम्मि नाणत्तयाइअलंकरियलोयणेणं निरवडियहिययब्भावं चक्खु-नाणमग्गपरिणामेण भणियं बम्भयत्तेण—भयवं ! एवमेयं, न अन्नह त्ति । भाविओ तेण जिणदेसिओ धम्मो, पवन्नं सम्मत्तं, चिन्तियं च विग-यम्मोहं—'अहो ! मे गुयस्स सोहणो ववसाओ' त्ति । विणएण वि य पयय-सुद्धपरिणामेणं चेव भणियं—भयवं ! एवमेयं ति । अह कहं पुण पुण्ण-पावाणं विसेसो लक्खिज्जइ ? भयवया भणियं—सुण, पच्चक्खं चेव—

अथिरयडगलन्तागुरुधिमंगालुघल्लियधूमपडिहत्थे ।
एक्के वसन्ति भवणे नियदसणाणिम्मलालोए ॥७६॥
अन्ने वि रइयकुंकुमविच्छित्तपमोल्लिपूरिज्जपट्टंगे ।
जुण्णनिहेलणविवरन्तरालपरिसंठियभुयंगे ॥७७॥

अतो न दुःखसेवनं साधुक्रिया, अपि च सुखमेव । भणितं च—

तृणसंस्तारनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टराग-मद-मोहः ।
यत् प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ? ॥७५॥

अतः सुखसेवनादेव सुखप्रकर्ष इति सत्यमेवोपपन्नमिति । अत्रान्तरे [illegible] भणितं ब्रह्मदत्तेन—भगवन् ! एवमेतत्, न अन्यथेति । भावितस्तेन जिनदेशितो धर्मः, प्रपन्नं सम्यक्त्वम्, चिन्तितं च विगतव्यामोहम्—'अहो ! मम गुरोः शोभनो व्यवसायः' इति । विनयेनापि च प्रकृष्ट-शुभपरिणामेनैव भणितम्—भगवन् ! एवमेतदिति । अथ कथं पुनः पुण्य-पापयोर्विशेषो लक्ष्यते ? । भगवता भणितम्—शृणु, प्रत्यक्षमेव—

[illegible] (प्रतिहस्ते) ।
एके वसन्ति भवने [illegible] ॥७६॥
अन्येऽपि [illegible] ।
[illegible] ॥७७॥

एक्के धवलहरोवरि मियङ्कुकरबन्धुरे सह पियाहिं।
लीलाए गमिन्ति निसिं पेसलरयचाडुयम्मेहिं ॥७८॥
अन्ने वि सिसिरमारुयसीयपवेविरसमुद्धुसियदेहा।
कहकह वि पियारहिया वाएन्ता दन्तवीणाओ ॥७९॥
एगे कञ्चणपडिबद्धथोरमुत्ताहलुब्भडाहरणा।
विलसन्ति बहलकुंकुमभसलियवच्छत्थलाभोया ॥८०॥
अन्ने वि सइं महियलनिसीयणुप्पन्नकिणियपोंगिल्ला।
मलिणजरकप्पडोच्छइयविग्गहा कह वि हिण्डन्ति ॥८१॥
एक्के पूरेन्ति मणोरहाइं जं मग्गिराण पणतीणं।
अन्ने पुण परघरहिण्डणेण कुच्छिं पि न भरेन्ति ॥८२॥
इय पुण्णा-पुण्णफलं पच्चक्खं चेव दीसई लोए।
तह वि जणो रागन्धो धम्मम्मि अणायरं कुणइ ॥८३॥
एसो य तव्विसेसो लक्खिज्जइ आगमबलेण। अन्नं च—

एके धवलगृहोपरि मृगाङ्ककरबन्धुरे सह प्रियाभिः।
लीलया गमयन्ति निशा पेशलरतचाटुकर्मभिः ॥७८॥
अन्येऽपि शिशिरमारुतशीतप्रवेपमानसमद्धुषितदेहाः।
कथंकथमपि प्रियारहिता वादयन्तो दन्तवीणाः ॥७९॥
एके काञ्चनप्रतिबद्धस्थूलमुक्ताफलोद्भटाभरणाः।
विलसन्ति बहलकुङ्कुमभ्रमरितवक्षस्थलाभोगाः ॥८०॥
अन्येऽपि सदा महितलनिषदनोत्पन्नकिणितस्फिचः।
मलिनजीर्णकर्पट(वस्त्र)उच्छादितविग्रहाः कथमपि हिण्डन्ते ८१।
एके पूरयन्ति मनोरथादि यद् मार्गयमाणानां प्रणयिनाम्।
अन्ये पुनः परगृहहिण्डनेन कुक्षिमपि न भरन्ति ॥८२॥
इति पुण्या-ऽपुण्यफलं प्रत्यक्षमेव दृश्यते लोके।
तथापि जनो रागान्धो धर्मे अनादरं करोति ॥८३॥
एतश्च तद्विशेषो लक्ष्यते आगमबलेन। अन्यच्च—

पुण्णेण महासोक्खा चक्की देवा य सिद्धिगामी य ।
पावेण कुमाणुस-तिरिय-नारया होन्ति जीवा उ ॥८४॥

सिहिबेण भणियं भयवं ! एवमेयं; अह किं पुण पुण्णकारणं, पावकारणं वा अणुट्ठाणं ति ? । भयवया भणियं—सुण, पुण्णकारणं ताव सव्वपाणिवह-मुसावाया-ऽदत्तादाण-मेहुण-परिग्गहाण विरई, निसिभत्तचायणं, रागदोसाविनिग्गहो य । पावकारणं पुण इममेव विवरीय ति । तओ एयमायण्णिऊण पयओ सावयधम्मं राम बम्भदत्तेण सिरिबेणो । भणियं च बम्भदत्तेण-भयवं ! एस मे सिहिकुमारो पुत्तो होइ; ववसिओ य एसो महापुरिसोचिए अणुट्ठाणे । अण्णया य मे सवयमिम एयस्स ववसियं, ता किं एयस्स अणुट्ठाणस्स उचिओ, अणुचिओ त्ति वा ? भयवया भणियं—न एयस्स अणपत्तूणं रयणं पडिकमयस्स अणुचियं । तओ हरिसवसुप्फुल्ललोयणेण 'करेउ एस इमं मम वि मणोरहाणोवरं' ति चिन्तिऊण भणियं बम्भयत्तेण-वच्छ ! कयत्थाओ मए तुम, करेहि तवमणुज्जोय ति । तओ सहरिसं पणमिऊण भणियं सिहिकुमारेण-ताय ! अणुग्गहीओ म्हि । तओ वन्दिऊण

पुण्येन महासौख्याश्चक्रिणो देवाश्च सिद्धिगामिनश्च ।
पापेन कुमानुष-तिर्यङ्-नारका भवन्ति जीवास्तु ॥८४॥

शिखिवर्णेन भणितम्—भगवन् ! एवमेतत्, अथ किं पुनः पुण्यकारणम्, पापकारणं वा अनुष्ठानमिति । भगवता भणितम्—शृणु, पुण्यकारणं तावत् सर्वप्राणिवध-मृषावादा-ऽदत्तादान-मैथुन-परिग्रहाणां विरतिः, निशाभक्त(भोजन)वर्जनम्, रागद्वेषादिनिग्रहश्च । पापकारणं पुनरिदमेव विपरीतमिति । तत एतद् आकर्ण्य प्रयतः श्रावकधर्मं [illegible] विरक्तः । भणितं च ब्रह्मदत्तेन—भगवन् ! एष मम शिखिकुमारः पुत्रो भवति; व्यवसितश्च एष महापुरुषोचिते अनुष्ठाने । अद्य च मया [illegible] व्यवसितम्, तत् किमेतस्य अनुष्ठानस्य उचितः, अनुचित इति वा ? । भगवता भणितम्—न [illegible] प्रतिक्रमतोऽनुचितम् । ततो हर्षवशोत्फुल्ललोचनेन 'करोतु एष इदं ममापि मनोरथातीतम्' इति चिन्तयित्वा भणितं ब्रह्मदत्तेन—वत्स ! कृतार्थो मया त्वम्, कुरु तपोऽनुष्ठानम्—इति । ततः सहर्षं प्रणम्य भणितं शिखिकुमारेण—तात ! अनुगृहीतोऽस्मि । ततः वन्दित्वा

गुरुं पविट्ठो नयरं। बम्भयत्तेण वि य दवावियमाघोसणापुव्वयं महादाणं कराविया जिणाययणाईसु अट्ठाहिया महिमा। तओ पसत्थे तिहि-करण-मुहुत्त-जोगे महया पमोएण, दिव्वाए विभूईए, परियरिओ राय-नायरएहिं, दिव्वं सिवियमारूढो, वज्जन्तेहिं मंगलतूरसंघाएहिं, पसंसिज्ज-माणो बिहलोएणं, सहरिसमालोइज्जमाणो पुरसुन्दरीहिं, देन्तो जहा-समीहियं अत्थिजणाण दाणं निग्गओ नयराओ सिहिकुमारो। गओ जत्थ भगवं विजयसिंघायरिओ त्ति। ओइण्णो सिवियाओ। वन्दिओ गुरू। गुरुणा वि कए आवस्सए तं वामपासे ठविऊण वन्दिया परमगुरवो। तओ विहियवन्दणं दाऊण भणियं सिहिकुमारेण—इच्छाकारेण पव्वावेह। तओ गुरुणा 'इच्छामो' त्ति भणिऊण नमोक्कारपाढेण विहिपुव्वयं अप्पियं से रयहरणं 'साहुलिंगं' ति। बहुमाणओ गहियं सिहिकुमारेणं। वन्दिऊण गुरुं पुणो भणियमणेण—इच्छाकारेण मुण्डावेह। तओ 'इच्छामो' त्ति भणिऊण नमोक्कारपुव्वयं अवट्टाओ गुरुणा गहियाओ तिण्णि अट्टाओ। तओ वन्दिऊण गुरुं, भणियं सिहिकुमारेण—इच्छाकारेण सामाइयं मे आरोवेह। 'इच्छामो' त्ति भणिऊण तदारोवणनिमित्तं सम

गुरुं प्रविष्टो नगरम्। ब्रह्मदत्तेनापि च दापितमाघोषणापूर्वकं महादानम्, कारिता जिनायतनादिषु अष्टाहिका महिमा। ततः प्रशस्ते तिथि-करण-मुहूर्त-योगे महता प्रमोदेन, दिव्यया विभूत्या परिकरितो राजनागरकैः, दिव्यां शिबिकामारूढः, वाद्यमानैः मङ्गलतूर्यसंघातैः प्रशस्यमानो विबुधलोकेन, सहर्षमालोक्यमानः पुरसुन्दरीभिः, ददद् यथासमीहितमर्थिजनेभ्यो दानं निर्गतो नगरात शिखिकुमारः। गतो यत्र भगवान् विजयसिंहाचार्य इति। अवतीर्णः शिबिकातः। वन्दितो गुरुः। गुरुणा अपि कृते आवश्यके तं वामपार्श्वे स्थापयित्वा वन्दिताः परमगुरवः। ततो विधिवन्दनं दत्त्वा भणितं शिखिकुमारेण—इच्छाकारेण प्रव्राजयत। ततो गुरुणा 'इच्छामः' इति भणित्वा नमस्कारपाठेन विधिपूर्वकमर्पितं तस्य रजोहरणं 'साधुलिङ्गम्'—इति। बहुमानतो गृहीतं शिखिकुमारेण। वन्दित्वा गुरुं पुनर्भणितमनेन—इच्छाकारेण मुण्डयत। ततः 'इच्छामः' इति भणित्वा नमस्कारपूर्वकम्—अवस्थिता गुरुणा गृहीतास्तिस्रोऽष्टाः। ततो वन्दित्वा गुरुं भणितं शिखिकुमारेण—इच्छा कारेण सामायिकं मम आरोपयत। 'इच्छामः' इति भणित्वा तदाऽऽरोपणनिमित्तं सम

सिहिकुमारेण कओ णेण काउस्सग्गो, चिन्तिओ थओ, पारिओ नमो॰ क्कारेण। तओ नमोक्कारपुव्वयं तिण्णि वाराओ कड्ढियं सामाइयं, महा॰ संवेगसारं अणुकड्ढियं सिहिकुमारेण। तओ गहिया गुरुणा वासा, दिन्ना परमगुरुपाएसु, तहा सन्निहियाणं साहुमाईण य। एत्थन्तरम्मि वन्दि॰ ऊण गुरुं भणियं सिहिकुमारेण-संदिसह, किं भणामि ?। गुरुणा भणियं- वन्दित्तु पवेएह। तओ वन्दिऊण जंपियमणेण-तुब्भेहिं मे सामाइ[illegible] रोवियं, इच्छामि अणुस(सि)ट्ठिं ति। खमासमणपुव्वयं भणियं गुरु[illegible] नित्थारगपारगो गुरुगुणेहिं वड्ढाहि। तओ वन्दिऊण भणियं सिहिकु[illegible] रेणं-तुब्भं पवेइयं, संदिसह, साहूणं पवेएमि। गुरुणा भणियं-[illegible] तओ वन्दिऊण नमोक्कारपाढेण कयं पयाहिणमणेण। नित्थारगपारगो गुरुगुणेहिं वड्ढाहि त्ति भणमाणेहिं दिन्ना गुरुमाईहिं वासा। [illegible] गमणओ। एवं तिण्णि वारे। तओ पडिओ परमगुरुपाएसु, [illegible] य निसण्णस्स, कयं निरुद्धं, अणुसासिओ गुरुणा। एवं [illegible] पायमूले विसुज्झमाणेणं परिणामेणं जिणोवदिट्ठेणं विहि[illegible] परमोसहिं महापव्वज्जं ति॥

शिखिकुमारेण कृतोऽनेन कायोत्सर्गः, चिन्तितः स्तवः, [illegible] रेण। ततो नमस्कारपूर्वकं त्रीन् वारान् कथितं साम[illegible] सारमनुकथितं शिखिकुमारेण। ततो गृहीत्वा गुरु[illegible] मगुरुपादेषु, तथा संनिहितानां साध्वादीनां च। [illegible] भणितं शिखिकुमारेण-संदिशत, किं भणामि ? [illegible] ।, वन्दित्वा प्रवेदयत।' ततो वन्दित्वा जल्पितमने[illegible] [illegible]मारोपितम्, इच्छामि अनुशिष्टिम् इति। [illegible] इडा॰ गुरुणा-निस्तारकपारगो गुरुगणैर्वर्धस्व। [illegible] व्यव॰ कुमारेण-तुभ्यं प्रवेदितं, संदिशत, साधू[illegible] प्रेदि॰ तम्-प्रवेदयत। ततो वन्दित्वा नमस्[illegible] गृहीत॰ निस्तारकपारगो गुरुगुणैर्वर्धस्वेति [illegible] अदा॰ स्थितो मनाग् मार्गतः, एवं त्रीन् वार[illegible] इति,' आचार्यस्य निषण्णस्य च, कृतं निरु[illegible] गुदपि॰ मोऽस्य पादमूले विशुद्ध्यमानेन [illegible] । ततो [illegible] परमौषधि महाप्रव्रज्याम्-[illegible]

अहिणन्दिओ आणन्दबाहजलभरियलोयणेणं राइणा बम्भयत्तेणं नयरजणवएण य । तओ कइवयदियहे तत्थाऽऽसिऊण समत्ते मासकप्पे गओ भयवया सह खेत्तन्तरम्मि । एवं च निरइयारं सामण्णमणुपालेन्तस्स अइक्कन्ता अणेगे वरिसलक्खा ॥ इओ य समुप्पन्नो जालिणीए अणुतावो । हा ! दुट्ठु मए ववसियं, जेण एसो अवावाइओ चेव निग्गओ त्ति । ता पेसेमि से पेसलवयणसारं संदेसयपुव्वयं किंचि उवायणं, जेण एसो पुणो वि कहंचि इहागच्छइ, तओ वावाइस्सं ति । अणुचिट्ठियं च तीए जहासमीहियं । पेसिओ बहुविहसंदेसगब्भिणं कम्बलरयणमादाय सोमदेवो । गओ य सो देसविक्खायायरियपउत्तिपुच्छणेणं तमालत्थनिवेससंठियस्स सिहिकुमारस्स (समीवं) । दिट्ठो य तेण पच्चुच्चारएण साहूण सुत्तत्थमणुभासन्तो सिहिकुमारो । वन्दिओ पहट्ठवयणपङ्कएणं । धम्मलाहिओ तेणं । पच्चभिन्नाओ य पच्छा । पुच्छिओ य 'कओ भवं ति ? । तेण भणियं—देव ! कोसंबनयराओ अच्चन्तमणुतावाणलडज्झमाणदेहाए जणणीए भवओ चेव पउत्तिनिमित्त पेसिओ म्हि । सिहिकुमारेण भणियं—को वि य अणुतावो अम्बाए ? सोमदेवेण भणियं—

अभिनन्दित आनन्दबाष्पजलभृतलोचनेन राज्ञा ब्रह्मदत्तेन नगरजनपदेन च । ततः कतिपयदिवसान् तत्र आसित्वा समाप्ते मासकल्पे गतो भगवता सह क्षेत्रान्तरम् । एवं च निरतिचारं श्रामण्यमनुपालयतोऽतिक्रान्तानि अनेकानि वर्षलक्षाणि ॥ इतश्च समुत्पन्नो जालिन्या अनुतापः । हा ! दुष्ठु मया व्यवसितम्, येन एषोऽव्यापादित एव निर्गत इति । तावत् प्रेषयामि तस्य पेशलवचनसारं संदेशपूर्वकं किंचिद् उपायनम्, येन एष पुनरपि कथंचिद् इह आगच्छति । ततो व्यापादयिष्य इति । अनुष्ठितं च तया यथासमीहितम् । प्रेषितो बहुविधसंदेशगर्भितं कम्बलरत्नमादाय सोमदेवः । गतश्च स देशविख्याताचार्यप्रवृत्तिप्रच्छनेन तमालस्थनिवेशसंस्थितस्य शिखिकुमारस्य (समीपम्) । दृष्टश्च तेन प्रत्युच्चारकेण साधूनां सूत्रार्थमनुभाषमाणः शिखिकुमारः । वन्दितः प्रहृष्टवदनपङ्कजेन । धर्मलाभितश्च तेन । प्रत्यभिज्ञातश्च पश्चात् । पृष्टश्च—'कुतो भवान्—इति ? । तेन भणितम्—देव ! कोशाम्बनगराद् अत्यन्तमनुतापानलदह्यमानदेहया जनन्या भवत एव प्रवृत्तिनिमित्त प्रेषितोऽस्मि । शिखिकुमारेण भणितम्—कोऽपि च अनुतापोऽम्बायाः ? । सोमदेवेन भणितम्—

जं तुमं पव्वइओ त्ति । तओ सिहिकुमारेण चिन्तियं-अहो नु खलु नेहकायराणि अपरमत्थपेच्छीणि जणणिहिययाइं होन्ति, दुप्पडियाराणि य मायापित्तीणि त्ति चिन्तिऊण भणियं-भो सोमदेव ! न खलु अहं अम्बानिव्वेएणं पव्वइओ, अवि य भवनिव्वेएणं ति । ता अकारणं अणुतप्पइ अम्बा । सोमदेवेण भणियं-देव ! भणियं ते जणणीए, जहा-'जाय ! थेवहियओ, अविवेगभायणं, अविमिस्सयारी, चञ्चलसहावो, पबलमच्छरी, असग्गाहनिरओ, पच्छाणुतावी महिलायणो होइ । पुरिसो उण गम्भीरहियओ, विणयभायणं, सुविमिस्सयारी, अचञ्चलसहावो, कयन्नू, दढाणुराओ, बहुयावेक्खगो त्ति । ता किं तए मम हिययं अयाणिऊण एवं ववसियं ति । अन्नं च-पच्चक्खपरलोयमग्गेण वि भयवया अवस्समहं पेच्छियव्व त्ति । उवणीयं च ते कम्बलरयणं । एयं च भयवया अवस्सं घेत्तव्वं ति । सिहिकुमारेण भणियं-भो सोमदेव ! भणियं मए-'अकारणे अणुतप्पइ अम्बा' । जं च भणियं, अवस्समहं पेच्छियव्व त्ति ।' एत्थ वि गुरू पमाणं । अणहियारो मम अप्पवसयत्तणस्स । एयं पि कम्बलरयणं अणुचियं चेव साहूणं, तहा वि भयवओ निवेएहि त्ति । तओ

यत् त्वं प्रव्रजित इति । ततः शिखिकुमारेण-चिन्तितम्-अहो ! नु खलु स्नेहकातराणि अपरमार्थप्रेक्षीणि जननीहृदयानि भवन्ति, दुष्प्रतीकाराश्च मातापितर इति चिन्तयित्वा भणितम्-भोः सोमदेव ! न खलु अहं अम्बानिर्वेदेन प्रव्रजितः, अपि च भवनिर्वेदेन इति । ततोऽकारणमनुतप्यतेऽम्बा । सोमदेवेन भणितम्-देव ! भणित तव जनन्या, यथा-'जात ! स्तोकहृदयः, अविवेकभाजनम्, अविमृश्यकारी, चञ्चलस्वभावः, प्रभवत्मत्सरी, असद्ग्राहनिरतः, पश्चादनुतापी महिलाजनो भवति । पुरुषः पुनः गम्भीरहृदयः विनयभाजनम्, सुविमृश्यकारी, अचञ्चलस्वभावः, कृतज्ञः दृढानुरागः, बहुकावेक्षक इति । ततः किं त्वया मम हृदयमज्ञात्वा एतद् व्यवसितमिति । अन्यच्च-प्रपन्नपरलोकमार्गेणाऽपि भगवता अवश्यमहं प्रेक्षितव्या इति । उपनीत च तव कम्बलरत्नम् । एतच्च भगवता अवश्य ग्रहीतव्यमिति । शिखिकुमारेण भणितम्-भोः सोमदेव ! भणितं मया-'अकारणे अनुतप्यते अम्बा' । यच्च भणितम् 'अवश्यमहं प्रेक्षितव्या इति,' अत्राऽपि गुरवः प्रमाणम् । अनधिकारो मम आत्मवशगत्वस्य । एतदपि कम्बलरत्नमनुचितमेव साधूनाम् । तथाऽपि भगवतो निवेदय इति । ततो

दंसिओ से एगेण साहुणा गुरू । निवेइओ तेण एस वुत्तन्तो भयवओ । वन्दणीयं च कम्बलरयणं । कुमारबहुमाणओ गहियं गुरुणा, भणियं च-मोत्तूणमन्तरायं पेसिस्सं अहिगयमुवसमसोए कुमारं । सोमदेवेण भणियं-भयवं ! अणुग्गिहीया से जणणी । एवं च कइवयदियहे चिट्ठिऊण गओ सोमदेवो । अइक्कन्तो कोइ कालो कुमारस्स तव-संजमं करेन्तस्स । अन्नया य कोसंबनयरासन्नविसयविहारेण कुओइ पुरिसाओ 'उवरओ धम्मदत्तो' त्ति समुवलद्धपउत्तिणा सयणालोयणनिमित्तं चेव साहिऊण एयस्स वुत्तन्तं कइवयसुसाहुपरियारिओ पेसिओ सिहिकुमारो भयवया विजयसिंहायरिएण कोसंबनयरं ति । पत्तो य सो तयं । आवासिओ मेह-वणाभिहाणे उज्जाणे । जाओ य जणवाओ, अहो ! आगओ भयवं सिहिकुमारो । पुच्छिओ राय-नायरेहिं । कया य तेण भवसंवेयणी धम्मकहा ! आवज्जिया य नायरया । बिइयदियहम्मि गओ जणणिसयासं । दिट्ठा य तेण पावोदएण विय धम्मवत्तसवणेण अच्चन्तसीलविहुया अभंभाविज्जमाणा धरया सा जणणी । न पच्चभिन्नाया य । पच्चभिन्नाओ य एसो तीए । तओ सहजमायासहावेण बाहजलभरियलोयणं सदुक्खमिव भेरवसरं पइया

दर्शितस्तस्य एकेन साधुना गुरुः । निवेदितस्तेन एष वृत्तान्तो भगवतः । वन्दनीयं च कम्बलरत्नम् । कुमारबहुमानतो गृहीतं गुरुणा, भणितं च-मुक्त्वा अन्तरायं प्रेषयिष्ये अधिगतमुपशमस्रोतः कुमारम् । सोमदेवेन भणितम्-भगवन् ! अनुगृहीता तस्य जननी । एवं च कतिपयदिवसान् स्थित्वा गतः सोमदेवः । अतिक्रान्तः कश्चित् कालः कुमारस्य तपः-संयमं कुर्वतः । अन्यदा च कौशाम्बनगरासन्नविषयविहारेण कुतश्चित् पुरुषात् 'उपरतो धर्मदत्तः' इति समुपलब्धप्रवृत्तिना स्वजनालोकननिमित्तं चैव कथयित्वा एतस्य वृत्तान्तं कतिपयसुसाधुपरिवारितः प्रेषितः शिखिकुमारो भगवता विजयसिंहाचार्येण कौशाम्बनगरमिति । प्राप्तश्च स तत् । आवासितो मेघवनाभिधाने उद्याने । जातश्च जनवादः, अहो ! आगतो भगवान् शिखिकुमारः । पृष्टो राजनागरैः । कृता च तेन भवसंवेगनी धर्मकथा । आवर्जिताश्च नागरकाः । द्वितीयदिवसे गतो जननीसकाशम् । दृष्टा च तेन पापोदयेनेव धर्मश्रवणेन अत्यन्तशीलविकला अभिभाव्यमाना जननी । न च प्रत्यभिज्ञातश्च । प्रत्यभिज्ञातश्च एष तया । ततः सहजमायास्वभावेन बाष्पजलभृतलोचनं सदुःखमिव भैरवस्वरं प्ररुदिता

एवं च अम्ब ! जुत्तं तुज्झ वि चइऊण मोहविसयरसं।
पाउं अच्चन्तसुहं इणमो धम्मामयं चेव ॥९१॥

एवं च भणिए समाणे समायं चेव भणियं जालिणीए-जाय ! देहि
मे अवत्थोचियाइं वयाइं । तओ आलोचिऊण संपुण्णचरणासमं तीए
परिणामं संसिऊण सवित्थरं गिहिधम्मं दिन्नाणि से अणुव्वयाणि, तस्सा
वायणवीसम्भसमुप्पायणनिमित्तं सब्भावेण विय गहियाइं च तीए। तओ
कंचि वेलं गमेऊण पयट्टो कुमारो। भणिओ य जालिणीए-जाय ! अज्ज
तए इहेव भोत्तव्वं ति। सिहिकुमारेण भणियं-अम्ब ! अणायारो ख
एसो समणाणं, जं मोत्तूण महुयरवित्तिं एगपिण्डभोयणं ति। जालिणीए
भणियं-जाय ! तुमं जाणसि त्ति। एवं च सो पइदिणं से करेइ धम्मदेसणं
चिन्तेइ य जालिणी एयस्स मारणोवाए, न यावडइ कोइ सुहुमोउवाओ त्ति
अन्नया आगया चउद्दसी। ठिया साहुणो उववासेणं भिक्खाणहिण्डणेणं
मुणिया य तीए। तओ चिन्तिउं पयत्ता। जइ कहंचि कल्लं न एस वाव
इज्जइ, तओ गमिस्सइ पक्खसन्धीए। न एत्थ अन्नो कोइ उवाओ; ए

एवं च अम्ब ! युक्तं तवाऽपि त्यक्त्वा मोहविषयरसम् ।
प्राप्तुमत्यन्तसुखमिदं धर्मामृतमेव ॥९१॥

एवं च भणिते सति समाममेव भणितं जालिन्या-जात ! दे
मम अवस्थोचितानि व्रतानि । तत आलोच्य संपूर्णचरणाऽक्षमं तस
परिणामं शंसित्वा सविस्तरं गृहिधर्मं दत्तानि तस्यै अनुव्रतानि, तद
पादनविस्रम्भसमुत्पादननिमित्तं सद्भावेनेव गृहीतानि च तया । त
काञ्चिद् वेलां गमयित्वा प्रवृत्तः कुमारः । भणितश्च जालिन्या-जात
अद्य त्वया इहैव भोक्तव्यमिति । शिखिकुमारेण भणितम्-अम्ब ! अ
चारः खलु एष श्रमणानाम्, यद् मुक्त्वा मधुकरवृत्तिमेकपिण्डभोज
मिति । जालिन्या भणितम्-जात ! त्वं जानासि इति। एवं च स प्र
दिनं तस्यै करोति धर्मदेशनाम्। चिन्तयति च जालिनी एतस्य मार
पायान्, न चाऽऽपतति कश्चित् सूक्ष्म उपाय इति। अन्यदा आगता
दशी । स्थिताः साधव उपवासेन भिक्षाऽहिण्डनेन । ज्ञातश्च त
तदा चिन्तयितुं प्रवृत्ता । यदि कथंचित् कल्यं न एष व्यापाद
ततो गमिष्यति पक्षसन्धौ । नाऽत्र अन्यः कोऽपि उपायः;

करेऊण कंसारं तालपुडसंजुयं चेवं विसमोयगं गोसे उवणेमि एयाणं, निरवग्गओ य भुज्जाविस्सामि एते। तओ सहत्थपरिवेसणेणं तम्मोय गप्पयाणेणं वावाइस्सं इमं ति। संपाइयं जहासमीहियमिमीए। गया गोसे चेव मोयगं घेत्तूण तमुज्जाणं जालिणी। दिट्ठा सिहिकुमारेण, भणिया य तेणं-अम्ब! किमेगागिणी किंपि अणुचियं घेत्तूण आगया सि?। जालि- णीए भणियं-जाय! अत्तणो चेव पुण्णाहिलासिणी तुम्हाण मोयण ति। सिहिकुमारेण भणियं-अम्ब! एसो वि खु अणायारो चेव समणाणं, जमाहाकडं आहडं च भुज्जए त्ति। कहियो से विही। तओ तीए भणियं- जाय! न अन्नहा मे हिययनिव्वुई होइ, अफलं च मन्नेमि असंपाइए इमम्मि जायस्स आगमणं। ता अवस्सं तए इमं कायव्वं ति भणिऊण निवडिया चलणेसु। तओ य उज्जुयसहावओ 'पेच्छह, से धम्मसद्धा जायसिणेहो य, ता मा से विपरिणामो भविस्सइ' त्ति, तओ गुरुलाघवमालोचिऊणं भणियं सिहिकुमारेण-अम्ब! जं तुमं भणासि त्ति। किं तु न तुमए पुणो वि साहुनिमित्तमारम्भो कायव्वो। जालिणीए भणियं-जाय! एवं जं तुमं

कृत्वा कंसारं (लपनश्रियम्) तालपुटसंयुतं चकं विषमोदकं प्रत्युषसि उप- नयामि एतेषाम्, निरर्गलतश्च भोजयिष्यामि एतान्। ततः स्वहस्तपरिवे- षणेन तन्मोदकप्रदानेन व्यापादयिष्ये इममिति। संपादितं यथासमीहित- मनया। गता प्रत्युषसि एव भोजनं गृहीत्वा तदुद्यानं जालिनी। दृष्टा शिखिकुमारेण-भणिता च तेन-अम्ब! किमेकाकिनी किमपि अनुचितं गृहीत्वा आगताऽसि?। जालिन्या भणितम्-जात! आत्मान एव पुण्या- भिलाषिणीयुष्माकं भोजनमिति। शिखिकुमारेण भणितम्-अम्ब! एषोऽपि खलु अनाचार एव श्रमणानाम्, यद् आधाकृतम् आहृतं च भुज्यते इति। कथितस्तस्यै विधिः। ततस्तया भणितम्-जात! न अन्यथा मम हृदय निर्वृतिर्भवन्ति, अफलं च मन्ये असंपादिते अस्मिन् जातस्य आग- मनम्। ततोऽवश्यं त्वया इदं कर्तव्यमिति भणित्वा निपतिता चरणयोः। ततश्च ऋजुकस्वभावतः 'प्रेक्षध्वम्, तस्या धर्मश्रद्धा जातस्नेहश्च, ततो मा तस्या विपरिणामो भविष्यति' इति, ततो गुरुलाघवमालोच्य भणितं शिखिकुमारेण-अम्ब! यत् त्वं भणसि इति। किन्तु न त्वया पुनरपि साधुनिमित्तमारम्भः कर्तव्यः। जालिन्या भणितम्-जात! एवं यत् त्वं

मणसि त्ति। सिहिकुमारेण भणियं–जइ एवं तो देहि एयस्स [illegible] भोयणजायं, तओ भुञ्जिस्सामि त्ति। जालिणीए भणियं–जाय! [illegible] चेय तुमए माइवच्छलत्तणं, ता किं इमिणा, मम हिययओ [illegible] त्ति। सिहिकुमारेण भणियं–अम्ब! एवं; आगच्छउ पारणग[illegible] त्ति। तओ आगया पारणगवेला। कुमारवयणबहुमाणओ [illegible] साहुणो। दिन्नाणि तीए जहोचिएण विहिणा भायणाइं। [illegible] य सुसंभिओ कंसारो। पमुत्ता य साहुणो। दिन्नो य [illegible] सारसंगओ चेव कुमारस्स तालपुडलड्डुओ, भुत्तो य तेणं। [illegible] साहुणो। अवणीयाइं भायणाइं। एत्यन्तरम्मि आढत्तो धारिउं [illegible] कुमारो। चिन्तियं तेण 'किमियं' ति?। पलोइया य साहुणो, [illegible] सत्था चिट्ठन्ति। तओ गूहियमणेण। एवं च जाव थेवा वेला [illegible] ताव पणट्ठा से वाया। चिन्तियं च णेणं–नूणं न भविस्सामि त्ति। [illegible] डिओ धरणिवट्ठे। आउलीहूया साहवो, जालिणी य। चिन्तियं च [illegible] किमेयं अकज्जं जणणीए से ववसियं भविस्सइ?

भणसि इति। शिखिकुमारेण भणितम्–यदि एवम्, ततो देहि [illegible] साधोर्भोजनजातम्, ततो भोक्ष्ये इति। जालिन्या भणितम्–जात [illegible] त्वमेव त्वया मातृवात्सल्यम्। ततः किमनेन? मम हृदयात् [illegible] मिति। शिखिकुमारेण भणितम्–अम्ब! एवम्, आगच्छतु पारण[illegible] इति। तत आगता पारणकवेला। कुमारवचनबहुमानत [illegible] साधवः। दत्तानि तया यथोचितेन विधिना भाजनानि। [illegible] सुसंभृतः कंसारः। प्रभुक्ताश्च साधवः। दत्तश्च [illegible] एव कुमारस्य तालपुटलड्डुकः, भुक्तश्च तेन। आचान्ताश्च [illegible] अप[illegible]नानि। अत्रान्तरे आरब्धो (विषेण) [illegible] [illegible] 'किमेतत' इति?। प्रलोकिताश्च [illegible] [illegible]। एवं च यावत् [illegible] [illegible]। चिन्तितं च तेन। [illegible] [illegible]। आकुलीभूताः [illegible] किमेतद् अकार्यं जनन्या [illegible]

[illegible] विहिना ।
[illegible]ओ य समो विणेण [illegible] ॥१२॥
[illegible] । [illegible] विहेणं नि ? [illegible]
[illegible] संसार[illegible] ॥१३॥
[illegible] ॥१३॥
[illegible] ।
[illegible] ॥१४॥
[illegible] य [illegible] । [illegible] नि ।
[illegible] य [illegible] ॥१५॥
[illegible] ॥१५॥
[illegible] ।
[illegible] ॥१६॥ [illegible]
[illegible] ।
[illegible] ॥१७॥
[illegible] ।
[illegible] ॥१८॥
[illegible]

[illegible]

अहवा न सोयणिज्जा संपयमेसा वि जीवलोयम्मि ।
सिवसुहफलकप्पतरुं जिणधम्मं पाविया जेण ॥९९॥
ता सुमरामो परमं परमपयसाहगं जिणक्खायं ।
अह पञ्चनमोक्कारं संपइ किं सेसचिन्ताए ॥१००॥
तो सो सुहपरिणामो पञ्चनमोक्कारभावणाजुत्तो ।
मरिऊणं उववन्नो तियसवरो बम्भलोगम्मि ॥१०१॥
नवसागरोवमाऊ रइलच्छिसमागमे विमाणम्मि ।
सामाणिओ महप्पा बम्भसुरेसस्स दिव्वजुई ॥१०२॥
इयरो वि कालसेसं गमिउं मरिऊण सक्करप्पहाए ।
उववन्नो नेरइओ तिसागराऊ महाघोरो ॥१०३॥

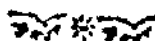
'समराइच्चकहाए' बीओ भवो सम्मत्तो ।



अथवा न शोचनीया सांप्रतमेषाऽपि जीवलोके ।
शिवसुखफलकल्पतरुं जिनधर्मं प्रापिता येन ॥९९॥
ततः स्मरामः परमं परमपदसाधकं जिनाख्यातम् ।
अथ पञ्चनमस्कारं संप्रति किं शेषचिन्तया ॥१००॥
ततः स शुभपरिणामः पञ्चनमस्कारभावनायुक्तः ।
मृत्वा उत्पन्नः त्रिदशवरो ब्रह्मलोके ॥१०१॥
नवसागरोपमायू रतिलक्ष्मीसमागमे विमाने ।
सामानिको महात्मा ब्रह्मसुरेशस्य दिव्यद्युतिः ॥१०२॥
इतरोऽपि कालशेषं गमयित्वा मृत्वा शर्कराप्रभायाम् ।
उत्पन्नो नैरयिकः त्रिसागरायुर्महाघोरः ॥१०३॥

याकिनीमहत्तरासूनु-परमगुणानुरागि-परमसत्यप्रिय-परमकारुणिक-भगवत्-श्रीहरिभद्रसूरिवरविरचितायां 'समरादित्यकथायाम्'

द्वितीयो भवः समाप्तः ।



समराइच्चकहा (समरादित्यकथा)

हिन्दी अनुवाद

जिन्होंने देवताओं तथा मनुष्यों के द्वारा किये जाने वाले विषम उपसर्गरूपी शर-प्रहार को, जो कि अत्यन्त कष्ट से विजित किया जा सकता है, आसानी से जीत लिया है, जो त्रिभुवन के मंगल के स्थान हैं तथा जो श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुए हैं, ऐसे श्री ऋषभदेव नामक प्रथम जिनेश्वर को नमस्कार करो। १

मोक्षरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी से सदा प्रवर्धमान, जिन्होंने अहंकार का नाश कर दिया है तथा परमविशुद्ध ज्ञान-दर्शन के धारक हैं और मन, वचन तथा काया के तीनों योगों को भी जो नष्ट कर चुके हैं, जो योगियों में सर्वश्रेष्ठ हैं तथा जो स्वयंसबुद्ध हैं ऐसे वर्धमान प्रभु को भी नमस्कार करो। २

शेष बाईस तीर्थंकरों को भी, जो कि जन्म, जरा तथा मृत्यु के बन्धन से मुक्त हैं तथा त्रैलोक्य के मस्तक ऊपर स्थित हैं, अर्थात् लोक के अग्र भाग पर स्थित हैं, उनको भावपूर्वक नमस्कार करो। ३

जिन भगवान् जिस समय चारों तीर्थों का प्रवर्तन करते हैं, उस समय (अपनी आन्तरिक प्रसन्नता को प्रकट करने के लिये) सुरेन्द्र आदि देवता जो पुष्पवृष्टि करते हैं, और जिन पुष्पों पर निरन्तर गुन्जार करनेवाले भ्रमरों का समुदाय सदा मंडराता है, ऐसी वह पुष्पवृष्टि तुमको मंगल की तरफ ले जाय, अर्थात् वह पुष्पवृष्टि तुम्हारे लिये मंगलमय हो। ४

देवतागण, सिद्धपुरुष अर्थात् महान् योगी तपस्वी पुरुष एवं मनुष्यमात्र जिसे आदरपूर्वक नमस्कार करता है तथा जो तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द से प्रकट हुई है, ऐसी मनोहर (तथा कल्याणकारिणी) वाणी तुम्हें सदा सुख प्रदान करे। ५

बहुत विस्तार करने से क्या लाभ ? जो सुनने लायक तत्त्व है, उन्हें सुनो, प्रशंसा करने लायक कार्य हैं, उनकी प्रशंसा करो तथा जो

कृषि आदि एवं शिल्प-मकान बनाने आदि कलाओं से संयुक्त हो अनेक प्रकार के धातुवादों (सोना चांदी बनाने की कला) के मुख्य उपायों व प्रयोगों से युक्त सामदामदण्ड तथा भेद आदि राजनीति की विधियों से युक्त हो वह 'अर्थकथा' कहलाती है।

कामकथा वह कथा कहलाती है जो काम-सामग्री के विषय की प्रधानता से युक्त हो। धन, शरीर, उम्र, कला तथा अनेक प्रकार की कुशलता से सहित हो, अनुराग भाव से पुलकित प्रतिपत्तियुक्त योग की जिसमें प्रधानता हो तथा जो स्त्री-व्यापार अर्थात् रति भाव से अनुवृत्त पदार्थों से सम्पन्न हो, वह 'कामकथा' कहलाती है।

धर्मकथा–उस कथा को कहते हैं जो प्रधान रूप से धर्म-सामग्री का ग्रहण करती हो। क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, तप, संयम, शौच, अकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य जैसी धर्म भावनाओं से युक्त हो, पाच अणुव्रत, दिग्व्रत, देशावकाशिक व्रत, तथा अनर्थ दण्ड विरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग-परिभोगव्रत, तथा अतिथि सविभागादि व्रतों से सुशोभित हो, अनुकम्पा भाव, अकाम निर्जरादि धर्म-सामग्री से समन्वित हो वह धर्म कथा है।

संकीर्ण कथा, वह कथा होती है जो त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ तथा काम की उपादान सामग्री से सम्बद्ध हो, काव्य, कथा, ग्रन्थ एवं ग्रन्थों के अर्थ–विस्तार से विरचित हो, लौकिक अर्थात् वेद शास्त्रों से प्रसिद्ध हो, उदाहरण, हेतु तथा कारणों आदि से सहित हो, वह संकीर्ण कथा कहलाती है।

इन कथाओं के श्रोता तीन प्रकार के होते हैं। यथा–अधम, मध्यम तथा उत्तम।

अधम श्रोता–जो क्रोध, मान, माया तथा लोभ से आच्छादित बुद्धिवाले, परलोकसम्बन्धी श्रद्धा से सर्वथा पराङ्मुख, इस लोक में ही परमार्थ (मोक्ष) का दर्शन करनेवाले, जीवों पर बिल्कुल दया न करनेवाले, सम प्रकृतिवाले पुरुष, दुर्गति में जाने के लिये उद्यत, सुगति तथा सत्कार्यों के सदा प्रतिपक्षी, जिसमें अनर्थों की प्रधानता कथाओं या कार्यों में ही जो सदा तल्लीन रहते हैं, वे 'अधम श्रोता' होते हैं।

मध्यम श्रोता–जो पाँचों इन्द्रियों के शब्द रूपादि विषयरूपी विष में सदा तन्मय रहते हैं, इन्द्रियों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं, परमपद (मोक्ष) मार्ग का जो कभी चिन्तन भी नहीं करते हैं, 'यह सुन्दर है, यह अधिक सुन्दर है' इस प्रकार से सुन्दरता तथा असुन्दरता के सम्बन्ध में जो अभिरुचि रखते हैं, बहुजन समाज के द्वारा उपहास करने योग्य तथा विडम्बना मात्र से सम्बद्ध, इस भव तथा पर भव में दुःख की वृद्धि करनेवाली गाथाकथाओं में जो सदा तल्लीन रहते हैं, वे राजस-पुरुष 'मध्यम श्रोता' कहलाते हैं।

जो मध्यम पुरुषों में श्रेष्ठ हों, इस लोक तथा परलोक के सम्बन्ध में सापेक्ष रहते हों, व्यवहार नय के मत में कुशल हों, वास्तविक सारभूत विज्ञान (पारमार्थिक ज्ञान) से रहित हों, तुच्छ कामभोगों में विशेष आसक्ति न रखते हों, उच्चकोटि के भोगों में भी निस्पृह हों, ऐसी सात्त्विक वृत्तिवाले पुरुष-मध्यम पुरुष ही कारण विशेष से सुगति तथा दुर्गति में ले जानेवाली लोक तथा जीव के स्वभावों में भ्रम उत्पन्न करनेवाली, सम्पूर्ण रसों से परिपूर्ण, अनेक प्रकार के भावों को उत्पन्न कराने में कारण भूत 'संकीर्ण कथाओं' में आनन्द का अनुभव करते हैं।

उत्तम पुरुष–जो जन्म, जरा तथा मरण के सम्बन्ध में वैराग्य भाव धारण करते हों, जन्मान्तर में भी प्रशस्त भाव रखते हों, कामभोगों से उदासीन हों, पाप के लेपों से मुक्तप्राय हों, परम पद (मोक्ष) के स्वरूप को जिन्होंने खूब अच्छी तरह से जान लिया हो, जो मुक्ति-प्राप्ति के लिये काफी निकट पहुँच गये हों, स्वर्ग या निर्वाण की ओर ले जाने वाली गतियों में ही जो रुचि रखते हों, जो गतियाँ उत्तमजनों से सदा प्रशंसित हैं, सभी प्रकार की कथाओं में सर्वोत्तम कथाओं को सुनने में जिनकी रुचि हो, और जिनकथाओं में महापुरुषों के जीवन का ही वर्णन हो, उन्हीं में प्रवृत्ति करनेवाले सात्त्विक पुरुष 'उत्तम श्रोता' कहलाते हैं।

इसलिये मैं भी अब दिव्य-देवताओं सम्बन्धी तथा मानुष–अर्थात् मनुष्यों सम्बन्धी धर्मयुक्त कथावस्तु को ही कहूँगा। जैसा कि उपकार करनेवालों पर भी सदा उपकारक, परमपद को प्राप्त हुए, तृण,

रखनेवाले तथा शाश्वत एवं कल्याणकारी मोक्षसम्बन्धी सुख में ही जिनका राग है, ऐसे शास्त्रकारों ने कहा है–

धर्म से अच्छे कुल में जन्म प्राप्त होता है, धर्म से दिव्य रूप की प्राप्ति होती है, धर्म से ही सुविस्तृत कीर्ति प्राप्त होती है। धर्म अनुपम मंगल है और धर्म ही सभी सांसारिक दुःखरूपी बीमारियों की अतुल औषधि है। धर्म ही मनुष्य की विपुल शक्ति है और धर्म ही मनुष्य का दुःख से त्राण कर सकता है और धर्म की शरण ही सच्ची शरण है। इस सम्बन्ध में विशेष कहने से क्या लाभ? इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ भी दिखाई होता है, शरीर की तथा इन्द्रियों की सुन्दरता आदि सभी एकमात्र धर्म का ही फल है। जिस समय मृत्यु जैसा भयंकर प्रसंग आता है, उस समय अत्यन्त कष्टपूर्वक कमाये हुए धन को, सुन्दर शरीर को तथा स्वजनों को छोड़कर प्राणी जब जाता है, उस समय धर्म ही उसका सच्चा सहायक होता है। धर्म ही मनुष्य को देवलोक को पहुँचाता है, और देवलोक से ही मनुष्य गति की प्राप्ति भी होती है, इसलिये निःसंदेह कहा जा सकता है कि दुःखों से छुटकारा दिलानेवाला, शाश्वत सौख्य प्रदान करनेवाला तथा शीघ्र ही मुक्ति प्रदान करानेवाला केवल धर्म ही है। १२-१६

जो धर्मक्रियाओं में कुशल मध्यस्थ होता है, वह सर्वज्ञ भाषित धार्मिककथाओं को सावधानी से सुनता है, उन्हें हृदय से जानता है तथा जानता हुआ, तदनुसार आचरण भी करता है। इसलिये सर्वप्रथम, धर्म के प्रभाव को जानकर मैं, आराधक तथा विराधक के गुण तथा दोषों को प्रकट करने वाले श्रेष्ठ चरित्र का ही कथन करूँगा। १७-१८

पूर्व के नव भवों से जुड़ा हुआ, यह चरित्र भव्य प्राणियों को संसार से वैराग्य उत्पन्न करनेवाला है। यह चरित्र अवन्ति के राजा, समरादित्य का है, मैं इसका कथन करता हूँ, कृपया आप सुनें। १९

यद्यपि इस चरित्र में वर्णित आराधक तथा विराधक के भव तो बहुत से हैं, लेकिन वे सभी भव बहुत उपयोगी नहीं हैं, केवल इस ग्रन्थ में वर्णित नव भवों में इन दोनों का (समरादित्य तथा गिरिसेन का) परस्पर विशेष निश्चित रूप से सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ नौ भवों का वर्णन

किया गया है। जैसा कि उन भाग्यशाली (समरादित्य) महात्मा, जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था और जिन्होंने गिरिसेन के दिये गये उपसर्गों को सहन करने के पश्चात् वेलन्धर नामक देवता को कहा है–२०-२१

मुनिचन्द्र नामक राजा की नर्मदा आदि प्रधान रानियों का वर्णन प्रकट रूप से, मैं संक्षेप में कहूँगा। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है–२२

(यहाँ आराधक (समरादित्य) तथा विराधक (गिरिसेन) के नवों भवों का जिस जिस रूप में सम्बन्ध आया है, वह कथा क्रम बतलाये हैं–)

प्रथम भव में गुणसेन आराधक था तथा वह राजपुत्र था और अग्निशर्मा विराधक था तथा राजपुरोहित था। दूसरे भव में उक्त दोनों ही क्रमशः सिंह तथा आनन्द नाम से पिता-पुत्र के रूप में हुए। तीसरे भव में उपरोक्त दोनों का जीव माता तथा पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ, जहाँ उनके नाम क्रमशः शिखी तथा जालिनी थे। चौथे भव में दोनों धननामक पति तथा धनश्रीनामक पत्नी के रूप में सम्बद्ध हुए। पांचवे भव में दोनों जय तथा विजय नामक सगे भाई के रूप में उत्पन्न हुए, पश्चात् छठे भव में धरण नामक पति तथा लक्ष्मी नामक पत्नी के रूप में दोनों का सयोग हुआ। सातवे भव में उपरोक्त दोनों का सम्बन्ध चचेरे भाइयों के रूप में हुआ, जहाँ उनके नाम क्रमशः सेन तथा विसेन थे। आठवे भव में गुणचन्द्र (आराधक) तथा वाणव्यन्तर (विराधक) के रूप में उत्पन्न हुआ इसके पश्चात् नववे तथा अन्तिम भव में समरादित्य (अवन्ती का राजा) तथा गिरिसेन (अधम कुलोत्पन्न) के रूप में अवन्ती (उज्जैन) नगरी में इनका परस्पर सम्बन्ध आया। समरादित्य को तो मोक्ष की प्राप्ति हुई और गिरिसेन का संसार अनन्त काल के लिये बढ गया। २३-२५

उपरोक्त नौ ही भवों में जिन नगरों में इनका सम्बन्ध आया, उनके नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं–

१ क्षितिप्रतिष्ठित, २ जयपुर, ३ कौशाम्बी, ४ सुशर्मानगर, ५ काकन्दी, ६ माकन्दी, ७ चम्पा, ८ अयोध्या और ९ अवन्तिका (उज्जैन)। २६

गुणसेन (आराधक) उपरोक्त भवों में जिन देवलोकों में उत्पन्न

हुआ, उसका वर्णन निम्न प्रकार है–

प्रथम भव के पश्चात् वह सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ, दूसरे भव के पश्चात् सनत्कुमार देवलोक में तीसरे भव के पश्चात् ब्रह्मलोक नामक देवलोक में, चौथे भव के पश्चात् शुक्र देवलोक में पांचवें भव के पश्चात् उसका उत्पात (जन्म) आनत देवलोक में, छठे भव के पश्चात् आरण देवलोक में, सातवें भव के पश्चात् नवग्रैवेयकों में आठवें भव के पश्चात् अनुत्तर विमान में। २७

इसी प्रकार अग्निशर्मा (विराधक) निम्न स्थानों पर उत्पन्न हुए।

प्रथम भव के पश्चात् विद्युत्कुमार नामक असुरकुमारों में, दूसरे भव से लेकर आठवें भव तक क्रमशः रत्नप्रभा नरक से लेकर सातवीं महातमः प्रभा नामक नरक में अग्निशर्मा का जन्म हुआ। २८

गुणसेन अपने आठों भवों में जिनजिन देवलोकों के अन्दर उत्पन्न हुए वहां इनकी आयुष्य (स्थिति) निम्न प्रकार से रही–

सौधर्म में एक सागरोपम की बाद में क्रमशः पांच, नौ, पन्द्रह, अठारह, बीस, तीस तथा तेंतीस सागरोपम की ऐसी आठों भवों की स्थिति समझनी चाहिये। २९

अग्निशर्मा उपरोक्त आठों भवों में उत्पन्न हुआ, उसका आयुष्य निम्न प्रकार से जानना चाहिए–

विद्युत्कुमार देवलोक में डेढ पल्योपम का, पश्चात् सातों नरकों में क्रमशः एक सागरोपम, तीन, सात, दस, सत्रह, बावीस तथा तेंतीस सागरोपम की स्थिति। ३०

इस प्रकार से ये चरित्र का संग्रह करने जैसी गाथाएँ हैं। अब इन्हीं कथाओं का गुरु के उपदेशानुसार विस्तारपूर्वक भावार्थ कहा जायेगा।

*

प्रथम भव

इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में तथा जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह नामक वर्ष (क्षेत्र) में क्षितिप्रतिष्ठित नामक एक नगर था, जो ऊँचे तथा श्वेत प्राकारों से सुशोभित था, जिसके चारों ओर एक बहुत बड़ी खाई थी जिसके स्वच्छ जल में कमलिनी सुशोभित हो रही थी, जो नगर अनेक स्थानों पर [illegible] और, तीन मार्गों के संगम तथा चार मार्गों के संगम से अलग अलग भागों में सुविभक्त था और जिस नगर के भवनों ने अपनी सुन्दरता से इन्द्र के भवनों की शोभा को भी जीत लिया था।

जहाँ की स्त्रियाँ अपने मुख की शोभा से कमलों को, सुन्दर वाणी से कोयल को, अपने नेत्रों से चन्द्रविकासी कमलों को (कुवलय), तथा अपनी गति के द्वारा कलहंसों को भी जीत लेती थीं। जहाँ के पुरुषों का व्यसन एकमात्र विद्याओं की प्राप्ति में, लोभ केवल निर्मल यश की प्राप्ति में, उनका डर केवल पापों से डरने में तथा जिनका बुद्धिरूपी धन सदा धर्म में ही संलग्न रहता था। १-२

वहाँ पूर्णचन्द्र नाम का राजा था, सम्पूर्ण चन्द्र मंडल के समान वास्तव में पूर्णचन्द्र ही था। चन्द्रमा के मृग का कलंक दिखाई देता है लेकिन वह राजा मदरूपी कलंक से निष्कलंक था तथा नगर निवासियों के मन तथा नयनों को आनंदित करता था। उसके अन्तःपुर में सब रानियों में प्रधान कुमुदिनी नामक देवी (पत्नी) थी। वह विषय सुखों में विशेष रुचि रखती थी, अपने पति को इतनी प्रिय थी जितनी रति कामदेव को। उन दोनों पति-पत्नी के 'गुणसेन' नामक एक राजकुमार था, जो वास्तव में गुणों का भंडार था और बचपन से ही कौतुकप्रिय व्यन्तर देवताओं की भांति वह क्रीड़ाप्रिय था। ३-५

विशेषता इतनी ही है कि–

उस नगर में यज्ञदत्त नाम का एक पुरोहित था, वह सभी नगर निवासियों द्वारा बड़ा मान्य था, धर्मग्रन्थों का पाठक था, लोकव्यवहार

तथा नीति में कुशल था, अल्प आरंभ तथा अल्प परिग्रह का धारक था, और धर्मज्ञ था। उस पुरोहित के सोमदेवा नामक पत्नी के गर्भ से उत्पन्न 'अग्निशर्मा' नाम का एक पुत्र था। उसका सिर मोटा तथा तिकोना था, उसकी आँखें पीली तथा गोल थीं, उसकी नाक चपटी थी, इतनी चपटी कि केवल नासिका के स्थान मात्र से ही जानी जा सकती थी, कान बिल्ले के समान थे, ओंठ के बाहर आये हुए बड़े बड़े दांत थे, टेढ़ी मेढ़ी तथा लम्बी गरदन थी, असम–अर्थात् कहीं से ऊँची कहीं से नीची तथा छोटी उसकी दोनों भुजाएं थी, बहुत छोटा वक्षस्थल (छाती) था, टेढ़ामेढ़ा तथा असम लम्बा पेट था, एक बाजू से ऊँची तथा दीखने में सराव (विकट) कमर थी, दोनों सांथल भी असम-बेडौल थीं, जंघाएं बहुत जाडी कठोर तथा छोटी थी, पैर छोटे बड़े मानो बेडौल और विस्तीर्ण थे, अग्नि की ज्वालाओं के समूह के समान पीले केश थे, ऐसा कुरूप वह अग्निशर्मा था।

उस अग्निशर्मा को राजकुमार गुणसेन कुतूहल से बहुत बार नगर के राजमार्गों पर जल्दी जल्दी घुमाता था। घुमाते समय सुन्दर ढोल, मृदंग, बांसुरी, झुनझुनी, आदि प्रधान शब्द करनेवाले बाजों व नगाड़ों के द्वारा नगर निवासियों के बीच हाथ से तालियाँ पीटते हुए तथा हँसते हुए उसे नचाता था। गधे पर बिठला कर, हसते हुए अनेक बाल समुदाय ने उसे घेर कर, पुराना सुपड़ा (सूप) उसके मस्तक पर रखकर, डन्डों की मनोहर तथा ऊँची आवाज करते हुए तथा उस अग्निशर्मा को 'महाराज' शब्द से सम्बोधित करके घुमाता था। इस प्रकार यमराज के समान उस गुणसेन के द्वारा अपमानित (पीड़ित) हुए उसे वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। और उसने सोचा–

जो लोक पूर्व भव में अच्छे पुण्य का उपार्जन नहीं करते है, वे सभी जनों के उपहास के पात्र होते हैं, बहुजनों द्वारा धिक्कारे-अपमानित किये जाते हैं, तथा अन्य व्यक्तियों के द्वारा किये गये तिरस्कार को सहन करते हैं, यदि अब भी मूर्ख हृदयवाले मुझ द्वारा, उत्तम पुरुषों के द्वारा सेवित तथा जन्मान्तर में प्रगाढ सुख देनेवाला धर्माचरण न किया गया तो इस जन्म में भी पुण्यकर्म न करनेवालों का तीव्र फल मैं देख रहा हूँ अतः मुनियों द्वारा सेवित तथा परलोक में एक मात्र बन्धुरूप

धर्म का मर्म [illegible] में, भेजी हुई शान्तिनी सूर्यों से सभी लोगों द्वारा [illegible] करते [illegible] दुर्गति को प्राप्त न हुए । ९

ऐसा विचार करके [illegible] (मार्ग) को प्राप्त करने [illegible] से निकला । [illegible] उस देश के सीमान्त प्रदेश पर स्थित [illegible] नामक तपोवन (आश्रम) में पहुँचा । उस तपोवन में मौलसिरी (बकुल) चम्पा, अशोक, नागकेसर तथा अनेक प्रकार के [illegible] जिनका [illegible] से विरुद्ध है [illegible] उस तपोवन में [illegible] थे, यज्ञ की हवन सामग्री से इतनी प्रचण्ड सुगन्ध आती थी कि हवन सामग्री का धुआँ घनेरूप से आसमान में छाया हुआ था । वहाँ पहाड़ी नदी का निर्मल जल तपोवन के समीप तक आया हुआ सुन्दर लगता था तथा वह आश्रम तपस्वियों के हृदय आनन्द का भाव उत्पन्न करनेवाला था ।

उस तपोवन तक पहुँच कर पश्चात् बहुत लम्बा मार्ग चलने से, जिसको थकावट आ गई है ऐसा वह, थोड़ा समय विश्राम करके वह उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ । १०

वहाँ उसने वल्कल धारण किये हुए, बड़ी बड़ी जटाओं को धारण करनेवाले, धर्म तथा त्रिदण्ड को धारण करनेवाले, भूति-भस्म की रज से त्रिपुण्ड्र का तिलक धारण करनेवाले, अपने पास में तापसोचित कमण्डल को धारण करनेवाले, सौम्यमूर्ति, कुशासन पर सुखपूर्वक विराजमान, कदलीगृह में ध्यानस्थ अपने दाहिने हाथ में रुद्राक्ष की माला को फिराते हुए, मन्त्राक्षरों के जाप से जिनका कण्ठ तथा ओष्ठ-पुट थोड़े से स्फुरित हो रहे हैं, जिन्होंने अपनी दृष्टि नाक पर स्थिर कर रखी है, और अन्य सभी क्रियाओं को, जिन्होंने रोक रखा है, अलसी के समान चिकने योगपट्ट (योग करने के पाटे) पर परिमित स्थान युक्त विशेष प्रकार का आसन, जिन्होंने धारण कर रखा है, ऐसे तापस कुल प्रधान आर्जवकौण्डिन्य नामक उस तपोवन के प्रधान तपस्वी को देखा । ११-१४

उन तपस्वी को देखकर हर्ष के कारण से जिसके शरीर में रोमाञ्च हो आया है, ऐसा वह, पृथ्वी पर घुटने तथा हथेलियों को

स्थापित करके, मस्तकद्वारा बारम्बार जमीन का स्पर्श करके, "मैं धन्य हूँ" ऐसा बोलते हुए उसने उन्हें प्रणाम किया। अतिथियों की सेवा-सत्कार की जिनकी सदा लालसा बनी रहती है, ऐसे तपस्वीराज ने भी, उसे देखकर अपनी ध्यान मुद्रा को त्याग करके स्वागत के वचनों सहित "यह आसन है, यह आसन है" ऐसा कह करके उसका सम्मान किया। तत्पश्चात् उस झोंपड़ी के आंगन में रहनेवाले ऋषिकुमार के द्वारा ले जाये जाने पर, तथा ऋषिवर्य के द्वारा यह कहे जाने पर कि 'यहाँ बैठो', वह विनयपूर्वक आसन पर बैठ गया। ऋषि ने पूछा-आप यहाँ से आये है? तब उसने विस्तारपूर्वक अपना आत्मवृत्तान्त कहा। ऋषि ने कहा-वत्स! पूर्वकृत कर्मों के परिणामों के वशीभूत होकर के ही जीव अत्यन्त दुःख के पात्र होते हैं। इसलिये राजा के अपमान से पीड़ित, दारिद्र्य के दुःखों से अभिभूत, दुर्भाग्य के कलंक से दुःखी तथा इष्ट जनों-स्वजनों के वियोगरूपी अग्नि से तपे हुए लोगों के लिये ही, इस लोक तथा परलोक में परमशान्ति को प्रदान करने वाला यह आश्रम निर्वृत्ति का स्थान है।

यहाँ वनवासी लोग संसार के सम्पर्क जन्य दुःख को कभी देखते नहीं हैं, लोगों के द्वारा होनेवाले अपमान का कभी अनुभव नहीं करते हैं, तथा दुर्गति में होनेवाले पतन को कभी प्राप्त नहीं होते हैं, ऐसे ये वनवासी सदा धन्य हैं। १५

ऋषि के द्वारा इस प्रकार अनुशासित किये जाने पर अग्निशर्मा बोला-आप कहते हैं, वह सत्य है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिये यदि आपकी मुझ पर अनुकम्पा है, अथवा मैं किसी व्रत-विशेष को धारण करने के योग्य हूँ तो कृपया व्रत प्रदान करके मुझे अनुगृहीत कीजिये। ऋषि ने कहा-वत्स! तुम वैराग्य मात्र का अनुगमन कर रहे हो, अतः मैं तुम पर अनुग्रह करता हूँ। व्रत पालन करने के लिये तुम्हारे सिवाय अन्य योग्य कौन हो सकता है? इस प्रकार से कतिपय दिन व्यतीत होने पर ऋषि ने तपोवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आचार-विचार का विस्तारपूर्वक कथन करके शुभ तिथि, शुभ करण, मुहूर्त, योग तथा शुभ लग्न वेला में उसे तापस दीक्षा प्रदान कर दी। अत्यन्त अपमान के कारण से उत्पन्न हुए अतिशय वैराग्यमय भावनावाले अग्नि-

शर्मा ने भी तापस दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन, समस्त तापसियों के सामने मास-मास के उपवास करने की प्रतिज्ञा की। जो इस प्रकार है–

मैं जीवन पर्यन्त एक-एक मास के पश्चात् भोजन करूँगा, पारणे के दिन मैं प्रथम जिस घर में प्रविष्ट होऊँगा, उसी घर से यदि आहार मिला या न मिला तो लौट आऊँगा तथा फिर उस दिन अन्य घर को नहीं जाऊँगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर अपनी प्रतिज्ञा को यथा नियम पालते हुए कई लाख पूर्व का समय व्यतीत हो गया। उस तपोवन के निकट वसन्तपुर नामका एक नगर था, वहाँ के निवासी बड़े गुणानुरागी थे, तथा उन लोगों को अग्निशर्मा के प्रति बहुत भक्ति-बहुमान हो गया था। वे लोग कहा करते थे–अहो! यह महान् तपस्वी है, अपने शरीर के प्रति भी इसे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है, इसका जीवन धारण करना सफल है, इत्यादि। कहा भी है–

लोगों का प्रीतिपात्र तथा लोगों के द्वारा बहुत बहुमान प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को भी गुण-प्राप्ति में सदा प्रयत्न करना चाहिये। चाहे, आदमी विद्वान् न हो, लेकिन मात्सर्य भाव से रहित व्यक्ति को निश्चय ही गुण प्राप्त हो जाते हैं। १६

उधर क्षितिप्रतिष्ठित नगर का राजा 'पूर्णचन्द्र' राजकुमार गुणसेन का विवाह करके तथा उसका राज्याभिषेक करके अपनी पत्नी कुमुदिनी के साथ तपोवनवासी हो गया था और वह कुमार गुणसेन जिसे अनेक सामन्त लोग चरणों में झुककर नमस्कार करते थे, जिसने अपने देश की अपेक्षा अनेक अन्य देशों को जीत लिया था, दसों दिशाओं में जिसका निर्मल यश प्रसरित हो चुका था, जो धर्म, अर्थ तथा काम-इन तीनों पुरुषार्थों का सम्पादन करने में संलग्न था, महाराजा बन चुका था। काल-क्रम से अन्य किसी समय वह वसन्तसेना नामक अपनी पत्नी के साथ, सर्वजनप्रशंसनीय राज्योचित सुखों का यथाविधि अनुभव करता हुआ वसन्तपुर आया, अनेक मांगलिक विधियों के साथ वह नगर में प्रविष्ट हुआ, पुरवासियों ने उसका पूजा-सत्कार किया तथा नगरनिवासियों के साथ वह वर्षाकालीन शोभा से युक्त विमानच्छन्दक नामक महल में गया। जिस प्रकार बरसात के मौसम में आसमान में काले बादलों की छाया रहती है, उस प्रकार उस महल में कालागुरु-

काली अगरबत्ती का धुँआ छाया हुआ था। बरसात में आकाश में विजली चमकती है, उस महल में बिजली के समान रत्नपंक्ति चमक रही थी, बरसात में आकाश में जलधारा दिखाई पडती है, उस महल में जलधारा के समान मोतियों की पंक्तियाँ दिखाई दे रही थी। जिस प्रकार बरसात में बगुलों की पंक्तियाँ दिखाई पडती है, उस प्रकार उस महल में श्वेत चँवर की पंक्तियाँ थी, आकाश में दिखाई पड़नेवाले इन्द्रधनुष की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले पट्टांशुक की मालाएँ अर्थात् श्वेत वस्त्र के बडे बडे ध्वज उस महल पर फरक रहे थे, सुगन्धित जल का छिड़काव करने से वहाँ के सब भूमिभाग अत्यन्त सुगन्धित हो, गुंजार करते हुए भँवरों के समूह से फैले हुए या बिखरे हुए वहाँ के मार्ग दिखाई दे रहे थे। बहुत ज्यादा वर्णन करने से क्या लाभ ?

जो महल मोह-निद्रा में सोये हुए भाग्यशाली पुरुषों के पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के फल को विकट-प्रकट रूप से स्वप्न की भाँति कह रहा था। १७

उस वसन्तपुर में नगर निवासियों का यथोचित सन्मान करके, उस अहोरात्र को अर्थात् रातदिन को अनेक प्रकार के नाटक, गायन, नृत्यादि मनोहर आमोद प्रमोदों के साथ व्यतीत करके, दूसरे दिन बहुत जल्दी उष:कालीन तथा प्रातःकालीन कृत्यों को समाप्त करके उचित समय पर वह सावारी के लिये निकल पड़ा और वाल्हीक, तुरुष्क तथा बज्जर आदि विविध देशों के विविध प्रकार के घोड़े सवारी के लिए तैयार कराये। पश्चात् घुड़सवारी करने से जो थकावट आ गई थी, उसे दूर करने के निमित्त से सवारी के स्थान के निकटवर्ती सहस्राम्र नामक उद्यान में बैठा। इसी बीच हाथ में नारंगी तथा बठिनक लिये हुए दो तापसकुमार आ गये। उन्होंने राजा को देखा तथा अपनी धार्मिक परम्परा के अनुसार आशीर्वाद देकर राजा का अभिनन्दन किया। राजा ने भी यथोचित आसन तथा सन्मानादि औपचारिक विधि से उनका सन्मान किया। वे बोले–राजन् ! उत्तम नाम के धारण करनेवाले हमारे कुलपति ने हमें आपकी–जो कि चारों आश्रमों के गुरु हैं धर्म तथा अधर्म की व्यवस्था को उत्तम प्रकार से करनेवाले हैं,–शरीर सम्बन्धी कुशल-क्षेम पूछने के लिये भेजा है। हमारा यह निवेदन सुनें

के पश्चात्–अब आप ही प्रमाण-सत्य है । राजा बोला–आपके कुलपति कहाँ विराजते हैं ? वे बोले–यहाँ से बहुत पास सुपरितोष नामक तपोवन में विराजमान है । पश्चात् वह राजा भक्ति तथा कौतुक-विस्मय से प्रेरित होकर उस तपोवन में गया । वहाँ उसने बहुत से तपस्वियों तथा कुलपति को देखा और वैराग्य भाव के साथ उनकी यथायोग्य पूजा-वन्दना की । वह कुलपति के समीप बैठा और कुछ समय तक धर्म-कथा सम्बन्धी प्रवृत्ति में तल्लीन होकर वहाँ रुका । पश्चात् विनयपूर्वक कुलपति को नमस्कार करके राजा ने निवेदन किया कि आपके सम्पूर्ण शिष्य-परिवार सहित मेरे घर पर आहार ग्रहण करने की कृपा करके मुझे कृतार्थ कीजिये । कुलपति बोले–वत्स, तुम्हारा निमंत्रण स्वीकार है, लेकिन अग्निशर्मा नामक एक महातापस है, वह प्रतिदिन नहीं खाता है, एक एक मास में भोजन ग्रहण करता है, उसमें भी पारणे के दिन जिस घर पर प्रथम जाता है, वहाँ से भोजन मिले या न मिले, वापिस लौट आता है । पश्चात् अन्य घर पर नहीं जाता है । इसलिये उस महातपस्वी को छोड़कर आपकी प्रार्थना स्वीकार है । राजा ने जवाब दिया–आपने बड़ा अनुग्रह किया है, मैं कृतार्थ हो गया । कृपया बतलाएं कि वह महातपस्वी कहाँ हैं, मैं उनको देखना चाहता हूँ । उनके दर्शन से मैं अपने आपको निष्पाप करना चाहता हूँ । कुलपति बोले–वत्स ! इस आम्रवीथिका (पंक्ति) के नीचे ध्यान मुद्रा में वह स्थित है । पश्चात् वह राजा अत्यन्त आदरपूर्वक आम्रपंक्ति की तरफ गया । वहाँ उसने पद्मासन के आसन में स्थित, दोनों नेत्रों को स्थिर किये हुए, चित्त की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को धारण करनेवाले, किसी विशेष प्रकार का ध्यान करते हुए अग्निशर्मा नामक तापस को देखा । उसे देखकर राजा हर्ष-पुलकित हो उठा तथा नमस्कार किया । तापस ने भी आशीर्वाद देकर बहुत सम्मान के साथ राजा का अभिनन्दन किया तथा कहा कि–"आपका स्वागत है", यहाँ बैठिये । राजा सुखासन से बैठा तथा बोला–भगवन् ! आपके इस महा दुष्कर तपस्या करने का क्या कारण है ? अग्निशर्मा ने उत्तर दिया–हे महाभाग ! दारिद्र्य दुःख, दूसरों के द्वारा किया गया अपमान, कुरूपता, तथा महाराज के पुत्र गुणसेन [illegible] किये ही इस तपस्या के कारण हैं । तापस के उत्तर में [illegible] राजा बोला–भगवन् !

दारिद्र्य-दुखादि प्रथम तीन कारण आपकी तपस्या के भले हो, लेकिन महाराजा का पुत्र गुणसेन-कल्याणमित्र इसमें कारण कैसे है ? कृपया कहिये ! अग्निशर्मा बोला—महासत्व वह कल्याणमित्र इस प्रकार कारण है– सुनिये–

जो उत्तम पुरुष होते हैं, वे स्वयमेव धर्म को प्राप्त करते हैं, जो मध्यमप्रकृति के पुरुष होते हैं वे दूसरों के द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके धर्म करते है। लेकिन जघन्य पुरुष कभी भी धर्म को प्राप्त नहीं करते है। जो किसी विशेष प्रकार की विधि से संसार रूपी चक्र (फँद) में रहने वाले जीव को धर्म के लिये प्रेरणा करता है वही वास्तव में कल्याण मित्र होता है। १८-१९

पश्चात् राजा के द्वारा बाल्यावस्था के वृत्तान्त का स्मरण हुआ तथा लज्जा से नतमस्तक होकर वह बोला—भगवन् ! आप उस कल्याण मित्र के द्वारा त्रैलोक्य बन्धुरूप धर्म से कैसे प्रेरित किये गये ? अग्निशर्मा तापस बोला—हे महासत्व ! अनेक प्रकार की प्रेरणाओं में से कथञ्चित् निमित्तमात्र से ही मैं प्रेरित किया गया हूँ। तब राजा ने विचार किया, कि अहो ! इस तपस्वी का कितना बड़प्पन है ? अपमान को भी इसने उपकाररूप प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। दूसरों की निन्दा त्याग करके शुद्ध स्वभाववाला होने से अपने अपमान का कभी विचार ही नहीं करता है। अरे ! महान् दुख है कि मैंने बहुत भयानक पापकर्म किया है। अतः मुझे चाहिये कि दुष्ट कार्य के आचरण से कलंकित हुए अपने आपको इसके समक्ष प्रकट कर दूँ कि वह कल्याण मित्र राजकुमार गुणसेन मैं ही हूँ। ऐसा विचार करके वह बोला—भगवन् ! मैं ही महान् पाप का करनेवाला तथा आपके हृदय को संतप्त करनेवाला 'अगुणसेन' हूँ। अग्निशर्मा तापस बोला—हे महाराज ! आपका स्वागत है, आप अगुणसेन कैसे हैं ? कारण कि दूसरों के द्वारा दिये गये भोजन से ही जिसका जीवनरूपी वैभव था, ऐसा मैं आज आपके द्वारा ऐसी तपोविभूति अर्थात् उच्च कोटि को पहुँचा दिया गया। राजा ने कहा— यह आपके हृदय की महानता है। अथवा यों कहें कि तपस्वी लोग प्रिय वाणी को छोड़कर अप्रिय वाणी को कभी बोलना जानते हैं ? चन्द्रमा के बिम्ब में कभी अग्नि की वृष्टि नहीं

होती है। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है, भगवन्! आपका पारणा कब होगा? अग्निशर्मा ने कहा—महाराज! मेरा पारणा पाँच दिन के बाद होगा। राजा बोला—यदि आपको कोई कष्ट न हो तो, आपका पारणा मेरे घर पर करने की कृपा करें। पारणे के सम्बन्ध में आपकी विशेष प्रकार की प्रतिज्ञा मैंने आपके कुलपति से ज्ञात कर ली है, अतः मैं पहिले से ही आपसे निवेदन कर देता हूँ। अग्निशर्मा ने कहा—महाराज! पारणे का दिन आने दीजिये, कौन जाने बीच में क्या हो जाय? क्यों कि कहा भी है—

अभी मैं यह कार्य करता हूँ तथा यह करके फिर इसे करूँगा, इस प्रकार से मनुष्य सोचता है, लेकिन इस स्वप्न तुल्य जीव-लोक-संसार में कल का क्या भरोसा? । २०

महाराज और भी कहा है—

"इस संसार के स्वभाव को धिक्कार है, जहाँ स्नेह भरे अनुराग से गुणांकित जो लोग मध्याह्न के पूर्व दिखाई देते थे, वे अपराह्न अर्थात् मध्याह्न के पश्चात् दिखाई तक नहीं देते।" २१

इसलिये हे महाराज! पारणे का दिन आने दीजिये। राजा ने कहा—भगवन्! यदि कोई बाधाजनक कारण न हो तो अवश्य पधारिये। अग्निशर्मा तापस ने कहा—यदि आपका इतना आग्रह है तो आपकी प्रार्थना स्वीकार है। पश्चात् राजा ने तापस को प्रणाम किया तथा हर्ष के कारण से पुलकित होता हुआ थोड़ा समय तपोवन में व्यतीत करके नगर में प्रविष्ट हुआ। कुलपति की उसके सम्पूर्ण परिवारसहित भक्ति तथा पूजा भी राजा ने की। पाँच दिन व्यतीत होने पर अग्नि-शर्मा तापस पारणे के निमित्त से सर्व प्रथम राजा के महल में ही प्रविष्ट हुआ। उस दिन राजा गुणसेन के मस्तक में अत्यन्त दारुण वेदना उत्पन्न हुई। राजा की शिरोवेदना से सारा राज परिवार आकुल हो रहा था। वैद्यकशास्त्र में कुशल अनेकों वैद्य राजा के पास आये और अनेक प्रकार की चिकित्सासम्बन्धी संहिताएँ—ढूंढकर निकालीं, बहुत प्रकार की दवाइयाँ पीसी जाने लगीं। मस्तक की पीड़ा नष्ट करने के अनेक प्रकार के रत्नलेप—अर्थात् श्रेष्ठ लेप भी दिये गुणाधार्य तथा

बृहस्पति के समान बुद्धिवैभवसम्पन्न मन्त्रीगण भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। पुरोहितों ने मंत्रगर्भित तथा आहुति प्रदान करने की प्रधानता से परिपूर्ण 'शान्ति कर्म' का प्रारम्भ कर दिया। अन्तःपुर भी महाराज की शिरोवेदना से अत्यन्त उद्विग्न हो गया, रानियों के गले में सुशोभित सुगन्धित फूलों की मालाएँ मलीन हो गईं, सुन्दर वर्णों से चित्रित मेहन्दी तथा अन्य सौन्दर्य-प्रसाधक अंगराग विचलित हो गये उनके नेत्रों से वाष्पजल गिरने से कपोल-मण्डल पर सौन्दर्यपूर्ण जो पत्रलेखा बनाई थी, वह धुल गई, और वे अपने मुखकमलों को कर-तल-हाथ की हथेली पर रख कर उदासीन मुद्रा में दिखाई देने लगीं। राजमहल में कन्याओं का जो अन्तःपुर था, वह भी एकदम विमनस्क-उदास हो गया, उन्हें अपनी कन्दुक-क्रीड़ा से विरक्ति हो गई, चित्रकलासम्बन्धी मनोरंजन के कार्य-क्रम भी उन्होंने छोड़ दिये, नृत्य तथा गानसम्बन्धी क्रियाएँ भी उन्होंने बन्द कर दीं, तथा शरीर पर जो आभूषण धारण कर रखे थे, उनका भी परित्याग कर दिया। राजमहल के द्वार पर पहरा देनेवाले जो द्वार-पाल थे, उनके मुख की कान्ति भी मन्द पड़ गई थी और वे वेत्रयष्टि के समान अधोमुख किये हुए थे, अन्तःपुर के द्वार पर स्थित जो छोटे कञ्चुकी थे वे भी खिन्न दिखलाई पड़ रहे थे, जिससे राजा के अतिशय वेदना की प्रतीति हो जाती थी और राजा के भोजनगृह में जो अनेक प्रमुख रसोइये थे, जो अनेक प्रकार के कार्यों में नियोजित थे, उदासीनता का सारा दृश्य देखकर अपना अपना कार्य छोड़ दिया था। इस प्रकार उदासीन स्थिति को प्राप्त उस राजकुल में पारणे के लिये गये हुए, उस अग्निशर्मानामक तपस्वी ने थोड़ा समय व्यतीत करके, किसी भी व्यक्ति के द्वारा मान-सम्मान, आदर आदि न प्राप्त करके, वह राजकुल से निकल पड़ा। वहाँ से निकल करके तपोवन को गया और अन्य तापसों ने उन्हें देखा तथा कहा,—भगवन्! ऐसा प्रतीत होता है कि आपने पारणा नहीं किया है और आपका मुखमण्डल कुछ म्लान (उदास) सा दिखाई दे रहा है? क्या आपने पारणा नहीं किया है? क्या आप राजा गुणसेन के महल में नहीं पधारे हैं? अग्निशर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—मैं राजा के महल में गया था, लेकिन राजा वास्तव में अस्वस्थ है तथा उनकी अस्वस्थता के कारण सारे राज-परिवार को उद्विग्न देखकर और वैसी दुखभरी परिस्थिति को मैं सहन न कर सका, अतः जल्दी ही

होती है। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है, भगवन् ! आपका पारणा कब होगा ? अग्निशर्मा ने कहा–महाराज ! मेरा पारणा पाँच दिन के बाद होगा। राजा बोला–यदि आपको कोई कष्ट न हो तो, आपका पारणा मेरे घर पर करने की कृपा करें। पारणे के सम्बन्ध में आपकी विशेष प्रकार की प्रतिज्ञा मैंने आपके कुलपति से ज्ञात कर ली है, अतः मैं पहिले से ही आपसे निवेदन कर देता हूँ। अग्निशर्मा ने कहा–महाराज ! पारणे का दिन आने दीजिये, कौन जाने बीच में क्या हो जाय ? क्यों कि कहा भी है–

अभी मैं यह कार्य करता हूँ तथा यह करके फिर इसे कल करूँगा, इस प्रकार से मनुष्य सोचता है, लेकिन इस स्वप्न तुल्य जीव लोक-संसार में कल का क्या भरोसा ? । २०

महाराज और भी कहा है–

"इस संसार के स्वभाव को धिक्कार है, जहाँ स्नेह भरे अनुराग से सुशोभित जो लोग मध्याह्न के पूर्व दिखाई देते थे, वे अपराह्ण अर्थात् मध्याह्न के पश्चात् दिखाई तक नहीं देते।" २१

इसलिये हे महाराज ! पारणे का दिन आने दीजिये। राजा ने कहा–भगवन् ! यदि कोई बाधाजनक कारण न हो तो अवश्य पधारिये। अग्निशर्मा तापस ने कहा–यदि आपका इतना आग्रह है तो आपकी प्रार्थना स्वीकार है। पश्चात् राजा ने तापस को प्रणाम किया तथा हर्ष के कारण से पुलकित होता हुआ थोड़ा समय तपोवन में व्यतीत करके नगर में प्रविष्ट हुआ। कुलपति की उसके सम्पूर्ण परिवारसहित भक्ति तथा पूजा भी राजा ने की। पाँच दिन व्यतीत होने पर अग्निशर्मा तापस पारणे के निमित्त से सर्व प्रथम राजा के महल में ही प्रविष्ट हुआ। उस दिन राजा गुणसेन के मस्तक में अत्यन्त दारुण वेदना उत्पन्न हुई। राजा की शिरोवेदना से सारा राज परिवार आकुल हो रहा था। वैद्यकशास्त्र में कुशल अनेकों वैद्य राजा के पास आये और अनेक प्रकार की चिकित्सासम्बन्धी संहिताएँ–ढूँढ़कर निकाली, बहुत प्रकार की दवाइयाँ पीसी जाने लगीं। मस्तक की पीड़ा नष्ट करने के अनेक प्रकार के रत्नलेप–अर्थात् श्रेष्ठ लेप भी दिये गुणाचार्य तथा

बृहस्पति के समान बुद्धिवैभवसम्पन्न मंत्रीगण भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। पुरोहितों ने मंत्रगर्भित तथा आहुति प्रदान करने की प्रधानता से परिपूर्ण 'शान्ति कार्य' का प्रारम्भ कर दिया। अन्तःपुर भी महाराज की शिरोवेदना से अत्यन्त उद्विग्न हो गया, रानियों के गले में सुशोभित सुगन्धित फूलों की मालाएँ मलीन हो गई, सुन्दर वर्णों से चित्रित मेहन्दी तथा अन्य सौन्दर्य-प्रसाधक अंगराग विचलित हो गये उनके नेत्रों से बाष्पजल गिरने से कपोल-मण्डल पर सौन्दर्यपूर्ण जो पत्रलेखा बनाई थी, वह धुल गई, और वे अपने मुखकमलों को कर-तल-हाथ की हथेली पर रख कर उदासीन मुद्रा में दिखाई देने लगी। राजमहल में कन्याओं का जो अन्तःपुर था, वह भी एकदम विमनस्क-उदास हो गया, उन्हें अपनी कन्दुक-क्रीड़ा में विरक्ति हो गई, चित्रकलासम्बन्धी मनोरंजन के कार्यक्रम भी उन्होंने छोड़ दिये, नृत्य तथा गानसम्बन्धी क्रियाएँ भी उन्होंने बन्द कर दीं, तथा शरीर पर जो आभूषण धारण कर रखे थे, उनका भी परित्याग कर दिया। राजमहल के द्वार पर पहरा देनेवाले जो द्वारपाल थे, उनके मुख की कान्ति भी मन्द पड़ गई थी और वे वेत्रयष्टि के समान अधोमुख किये हुए थे, अन्तःपुर के द्वार पर स्थित जो छोटे कञ्चुकी थे वे भी खिन्न दिखलाई पड़ रहे थे, जिससे राजा के अतिशय वेदना की प्रतीति हो जाती थी और राजा के भोजनगृह में जो अनेक प्रमुख रसोइये थे, जो अनेक प्रकार के कार्यों में नियोजित थे, उदासीनता का सारा दृश्य देखकर अपना अपना कार्य छोड़ दिया था। इस प्रकार उदासीन स्थिति को प्राप्त उस राजकुल में पारणे के लिये गये हुए, उस अग्निशर्मानामक तपस्वी ने थोड़ा समय व्यतीत करके, किसी भी व्यक्ति के द्वारा मान-सम्मान, आदर आदि न प्राप्त करके, वह राजकुल से निकल पड़ा। वहाँ से निकल करके तपोवन को गया और अन्य तापसों ने उन्हें देखा तथा कहा,—भगवन्! ऐसा प्रतीत होता है कि आपने पारणा नहीं किया है और आपका मुखमण्डल कुछ म्लान (उदास) सा दिखाई दे रहा है? क्या आपने पारणा नहीं किया है? क्या आप राजा गुणसेन के महल में नहीं पधारे हैं? अग्निशर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—मैं राजा के महल में गया था, लेकिन राजा वास्तव में अस्वस्थ हैं तथा उनकी अस्वस्थता के कारण सारे राज-परिवार को उद्विग्न देखकर और

परिपूर्ण स्वर्ण कलश लाये गये, विजयलक्ष्मी के सूचक मंगल वाद्य बजाये जाने लगे तथा चारण भाटों के द्वारा मंगल पाठ पढ़े जाने लगे, ठीक इसी समय अग्निशर्मा तपस्वी पारणे के लिये राज-प्रासाद में प्रविष्ट हुआ। इधर सारा राज्य-परिवार तथा कर्मचारी राजा के युद्ध-प्रयाण की तैयारी में बुरी तरह से व्यस्त थे, अतः अग्निशर्मा तपस्वी की तरफ किसी का भी ध्यान नहीं गया। थोड़ा समय अग्निशर्मा ने राज-गृह में व्यतीत किया, लेकिन मदोन्मत्त हाथियों तथा उच्छृंखल घोड़ों के समुदाय के द्वारा कुचल दिये जाने के भय से वह राजगृह से रवाना हो गया। इस बीच अपने हाथ में शङ्कुछाया-एक विशेष प्रकार की लकड़ी के अग्रभाग को ग्रहण करके समक्ष उपस्थित तथा ज्योतिषशास्त्र के गूढ़ रहस्य को जाननेवाले ज्योतिषियों ने राजा से निवेदन किया-महाराज प्रस्थान करने का यह उत्तम समय है, आप शीघ्र प्रस्थान करें। राजा ने कहा-आज उन अग्निशर्मा तापस के पारणे का दिन है तथा कुलपति की आज्ञा से उन्होंने मेरे घर पर आहार ग्रहण करना स्वीकार भी किया है, इसलिये मैं सोचता हूँ कि वे तपस्विराज आ जायें, पश्चात् उन्हें पारणा कराके और प्रणाम करके प्रस्थान करूँ। इतने में राज्य-परिवार से सम्बन्धित निकटवर्ती एक कुलपुत्रक बोला-महाराज! वह महाप्रभावशाली तपस्वी अभी अभी राजमहल में आया था लेकिन इन मदोन्मत्त हाथियों और घोड़ों के समूह से कुचल जाने के भय से राजगृह से निकल कर चला गया है। मैं समझता हूँ कि अभी वह नगर से बाहर भी नहीं पहुँचा होगा। कुलपुत्रक से ऐसा सुनकर राजा अत्यन्त आदरपूर्वक उसके जाने के मार्ग से ही चल पड़ा तथा नगर से बाहर निकलते हुए अग्निशर्मा तापस को देखा। तपस्वी को देखते ही उस श्रेष्ठ रथ से उतर कर अत्यन्त विनय तथा भक्ति से उनके चरणों में गिरकर इस प्रकार से निवेदन किया-भगवन्! कृपा करिये तथा महल की ओर वापिस पधारिये। मुझे संग्राम में जाना अत्यन्त आवश्यक था, फिर भी एकमात्र आपके आगमन की प्रतीक्षा में इतनी देर तक रुका रहा, आप राज-गृह में प्रविष्ट हुए और मेरे प्रधान-परिजनों मुख्य व्यवस्थापकों द्वारा आपकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, इसलिये कृपया वापिस पधारिये। अग्निशर्मा तपस्वी बोला कि यह सम्बन्धी आप मेरी विशेष प्रकार की

मुझे वापिस लौटनेसम्बन्धी आग्रह करना वृथा है। तपस्वी लोग सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले होते हैं, तथा आहार-पानीसम्बन्धी लाभालाभ के सम्बन्ध में सदा उदासीन रहते हैं। राजा ने प्रत्युत्तर दिया—भगवन्! इस प्रकार भूलभरे स्वभाव तथा आचरण के लिये मैं लज्जित हूँ, तीव्र तपस्या द्वारा अत्यन्त पीड़ित आपके शरीर की अपेक्षा से भी मैं कहीं अधिक पीड़ित हूँ, सन्ताप रूपी अग्नि मेरी आत्मा को बुरी तरह से जला रही है, मेरा हृदय मानो नष्ट हो रहा है और मेरी वाणी लड़खड़ा रही है, मैं अपने आपको महान् पाप का सेवन करनेवाला मानता हूँ, इसलिये हे सम्पूर्ण प्राणियों के लिये बन्धु स्वरूप! बिना किसी कारण या स्वार्थ के वात्सल्यभाव धारण करनेवाले भगवन्! आपही मेरे इस दुःख की शान्ति का उपाय सोचें। अग्निशर्मा तपस्वी ने विचार किया—अहो! इस महाराज का बड़प्पन (नम्रता) कितना प्रशंसनीय है? मैंने पारणा नहीं किया है, इसका इसको कितना रंज है? गुरुजनों की सेवा के प्रति इसका कितना अनुराग है, इसलिये जब तक मैं इसके घर पर पारणा नहीं करूँगा तब तक इसे चैन नहीं पड़ेगा अर्थात् इसका चित्त स्वस्थ नहीं होगा, ऐसा हृदय में विचार करके तपस्वी ने कहा—महाराज! आप वृथा इतना दुःख करते हैं। फिर भी इस दुःख की शान्ति का उपाय यही है कि यदि यह तपस्या निर्विघ्न समाप्त हो जायेगी तो पारणे के दिन तुम्हारे घर पर ही पारणा करूँगा तुम्हारी यह प्रार्थना मुझे स्वीकार है। इसलिये अब आप किसी प्रकार का सन्ताप न करें। तपस्वी के ये शान्तिभरे वचन सुनकर राजा ने दोनों घुटने जमीन पर रखकर तथा करतल जोड़ कर तपस्वी को प्रणाम किया तथा निवेदन किया—भगवन्! आपने मेरे इस दुःख की शान्ति का सुन्दर उपाय बतलाया है। सत्य है, तपस्वी लोग निर्मल ज्ञानरूपी नयनोंवाले ही होते हैं, वे क्या नहीं जानते है? सब कुछ जानते है। वस्तुतः आपने मुझे कृतार्थ कर दिया है, आपकी यह कृपा वास्तव में बिना प्रयोजन-स्वार्थ के कृपा करने जैसी ही है। अब आप भले ही तपोवन में पधारिये, इस नर्य (राजा) अपराधरूपी कलंक से दूषित हुआ मैं, आपके कुलपति के दर्शन करने काबिल नहीं रहा हूँ—ऐसा कह करके राजा ने अग्निशर्मा तापस को प्रणाम किया तथा नगर में लौट आया।

'अब मैं मासभर राजा के ऊपर आक्रमण करने नहीं जाऊँगा," ऐसा विचार करके उसने पत्र का विचार छोड़ दिया। इधर अग्निशर्मा तापस भी तपोवन में गये, जाकर अपने कुलपति को सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया कुलपति ने तपस्वी की बड़ी प्रशंसा की तथा कहा कि-वत्स! तुमने बहुत अच्छा किया। पश्चात् अग्निशर्मा ने अगले मास की तपस्या धारण कर ली। राजा गुणसेन प्रतिदिन तपस्वी की बहुत सेवा किया करता था, ऐसा करते हुए राजा को संसार से उदासीनता हो आई, और इस प्रकार से एक मास का समय व्यतीत हो गया। राजा के अनेक मनोरथों से परिपूर्ण ऐसा पारणे का दिन भी आ पहुँचा। उसी दिन राजा गुणसेन की रानी वसन्त सेना ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया था। अत्यन्त प्रसन्न के वश जिसका मुखकमल खिल उठा है, ऐसी द्वारपालिन ने आकर राजा से निवेदन किया-महाराज! महारानी वसन्तसेना ने आपके उत्कर्ष के एक मात्र निमित्त तथा प्रजाजनों के भाग्य से सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया है। प्रतिहारिन के द्वारा इस प्रकार के सुखद समाचार को सुनकर राजा ने सुवर्ण का कटक (कड़ा) केयूर, कर्णाभूषण आदि अनेकों प्रकार के आभूषण दिये तथा उसे प्रसन्न किया और इस प्रकार से आज्ञा दी-वसुन्धरे! (प्रतिहारिन) मेरी आज्ञा से राज्य भवन में जितने प्रतिहारी हैं, सबको इस प्रकार का आदेश दो कि-"कालघननामक घण्टा बजाकर मेरे राज्य के सब बन्धनों-निषेधाज्ञाओं को समाप्त करें, पुत्र जन्म की घोषणा के साथ पुत्र जन्मोत्सव के अनुरूप ही दान भी दिलावें, जितशत्रु आदि जो प्रमुख राजा लोग हैं, उन्हें पुत्र जन्मोत्सव के समाचार पहुँचावें, नगरनिवासियों को भी पुत्र जन्म की सूचना निवेदन करें, और इस प्रकार से असामयिक उत्सव की सब प्रकार की तैयारी नगर में करावें।" राजाज्ञा सुनकर प्रतिहारी ने सभी प्रतिहारियों को राजा का आदेश पहुँचा दिया और प्रतिहारियों ने भी राजा की आज्ञा का उसी प्रकार से पालन किया। यथा-

दसों दिशाओं में उग्रध्वनि करनेवाले वाद्यों को बजाया कर दिशाओं को गुञ्जित करवा दिया तथा एक हाथ ऊँचा करके सुन्दर नृत्य करनेवाली वेश्याओं के नृत्यों का प्रबन्ध करवाया। अन्तःपुर में

रहनेवाली सभी स्त्रियों ने प्रसन्नता वश राजा के उत्तरीय वस्त्र का अपहरण कर लिया तथा सौन्दर्य साधनों, अलंकारों आदि से सज्जित स्त्रियों से सम्पूर्ण राजमहल सुशोभित हो गया। (परस्पर विनोद करने की दृष्टि से) किसी स्त्री ने किसी एक स्त्री की पीठ पर मुष्टि-प्रहार किया, जिससे डर कर चिल्ला रही है, स्त्रियाँ जहाँ, उन्मादवश जहाँ वेश्याएँ कञ्चुकियों को नचा रही हैं, करताल देकर सुन्दर मृदंग तथा झल्लरी आदि वाद्यों का मधुर निर्घोष जहाँ सुनाई दे रहा है, दान प्राप्त करने से सन्तुष्ट वन्दी वृन्द (भाटादि) जहाँ राजा का जयजयकार का शब्द कर रहे हैं, छोटी तथा बौनी चेटिकाएँ-दासियाँ इकट्ठी होकर जहाँ राजा को हँसा रही हैं, तथा अनेक प्रकार के पेय पदार्थ जहाँ पीये जा रहे हैं, इस प्रकार का सुन्दर एवं मनोहारी वर्धापनक (उत्सव) उनके द्वारा राजा की आज्ञा से) किया गया। २२-२६

इस प्रकार वसन्तपुर नामक नगर में महोत्सव प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार से रानी वसन्तसेना के गर्भ से जो सुपुत्र जन्मा है, उसके आनन्द में सारा राज्य परिवार मग्न हो गया, स्वयं राजा भी इसी आनन्द में इतना डूब गया कि पारणे के निमित्त से आये हुए अग्निशर्मा नामक तपस्वी की ओर किसी ने देखा तक नहीं। आदरसूचक वचनों से भी किसी ने उसका मान-सम्मान नहीं किया और अशुभ कर्मोदय से, आर्त्तध्यान से दु:खित मनवाला होकर महल से शीघ्र ही निकल कर चला गया। तपोवन जाते समय उसने सोचा—अहो! इस राजा के साथ बाल्यकाल से ही इस प्रकार का वैरानुबन्ध चला आ रहा है, ऋषि के साथ जैसा दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये, वैसे इसके इस व्यवहार को तो देखो! जिससे मेरे समक्ष मनोनुकूल तथा प्रिय बातें कह कर, यह सर्वथा विपरीत आचरण करता है। ऐसा विचार करते करते वह जा रहा था, इसी बीच अज्ञान के कारण से तथा परमार्थ मार्ग का यथार्थ बोध न होने से कषाय-भावना ने उसे घर लिया, उसकी परलोकसम्बन्धी इच्छा (श्रद्धा) नष्ट हो गई, धर्म श्रद्धा विलीन हो गई, और सम्पूर्ण दुःखरूपी वृक्ष की मूल-जड़ के समान द्वेष भावना जागृत हो गई, और शरीर को पीड़ा उत्पन्न करनेवाली तीव्र क्षुधा का अनुभव होने लगा। वह भूख से अतीव पीड़ित व कृश हो गया। पश्चात्—

क्षुधारूपी परीषह से पतित, घोर अज्ञानी तथा मूढ़ हृदय उस अग्निशर्मा तपस्वी ने यह घोर निदान-संकल्प-मन में धारण किया कि– "यदि उत्तम प्रकार से किये गये मेरे इस दीर्घ कालिक तप का कोई फल हो तो इस राजा का वध करने के लिये मेरा बारम्बार जन्म हो। जो व्यक्ति अपने प्रेमियों के साथ प्रेम का व्यवहार नहीं करता तथा शत्रुओं के साथ अप्रिय व्यवहार नहीं करता, ऐसा व्यक्ति अपनी माता के गर्भ से जन्म धारण करके क्या अपनी माता को कष्ट नहीं पहुँचाता?" यह राजा महापापी है तथा बाल्यकाल से ही मेरा शत्रु है, अतः बिना किसी अपराध के भी मैं इसका वध करूँ–इस प्रकार का संकल्प हृदय में धारण करके, तथा इसका पुनः प्रतिक्रमण न करके वह बहुत दुष्ट विचारों के साथ क्रोधरूपी अग्नि में जलता हुआ तपोवन में आ पहुँचा। ७३-३१

जिस समय वह तपोवन में आया था, उस समय उसके हृदय में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों का तथा खराब चिन्ताओं का जाल सा छा गया था और उसी कारण से उसका क्रोधानल बढ़ता जा रहा था, अतः कुलपति तथा अन्य तपस्वियों की उपेक्षा करके वह तपोवन में जहाँ आम्रश्रेणी थी, वहीं चला गया उसे किसी ने भी देखा नहीं– आम्रश्रेणी के नीचे चारों तरफ से एक सरीखे आकारवाली जो शिला थी, उसी विशाल शिला के ऊपर वह बैठ गया। पश्चात्ताप के कारण से फिर उसने विचार करना आरम्भ किया कि अहो! इस राजा का मेरे साथ कैसा शत्रुता का भाव है? सब तपस्वियों के बीच उसने मेरा कैसा उपहास किया है, यह बड़ा कपटी है, पारणे के सम्बन्ध में मेरी विशेष प्रकार की जो प्रतिज्ञा है, उसे जानता हुआ भी बारम्बार मुझे निमंत्रण देता है तथा पारणा नहीं कराके मेरा इस प्रकार से अपमान करता है और मुझे दुःखी करता है। यह राजा कितना मूर्ख है, मैं इतना कष्टप्रद तथा कृश अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ, फिर भी मुझे दुःखी करता है। अनाथों, दुःखियों, तथा दूसरों से अपमानित होनेवाले प्राणियों को यमराज की भाँति नष्ट करने या ठगने की जो भावना है वह इतने बड़े राजा के मान-भाव की पूर्ति के लिये शोभास्पद नहीं है और [illegible] शत्रु तथा मित्र के साथ समभाव धारण करनेवाले ए

परलोक की साधना करनेवाले तपस्वियों को ठगना तो कभी उचित नहीं है। अथवा मैं ऐसा सोचता हूँ कि मैंने सब कुछ छोड़ दिया है, केवल आहार का त्याग नहीं किया है, इसलिये मेरी यह दुर्गति हो रही है, इसलिये मेरे लिये श्रेष्ठ है कि अपमान के मूल कारण भूत आहार का ही त्याग कर दूँ" ऐसा विचार करके यावज्जीवन के लिये महान् उपवास व्रत स्वीकार कर लिया। इतने में सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को जिसने छोड़ दिया है, अशुभ भावनाओं से जिसका मन दूषित हो रहा है, और तपस्या से जिसका शरीर सर्वथा क्षीण हो गया है, ऐसे उस अग्निशर्मा को तपोवन के अन्य तापसों ने देख लिया और कहा–भगवन्! आपका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है तथा आप पारणे के लिये गये थे, वहाँ पुष्पमालाओं तथा चन्दन आदि से आपका सत्कार नहीं हुआ, ऐसा लगता है! क्या अभी भी आपका पारणा नही हुआ? अग्निशर्मा ने ने प्रत्युत्तर दिया–पारणा नही हुआ। तपस्वियों ने पूछा–आपका पारणा क्यों नही हुआ? क्या आप राजा गुणसेन के घर पर नहीं गये? अग्निशर्मा ने कहा–'गया तो था'। तपस्वियों ने पूछा–फिर आपका पारणा क्यों नहीं हुआ? अग्निशर्मा बोला–मैंने राजा का किसी प्रकार कोई अपराध नहीं किया है, फिर भी वह मेरे साथ वैरभाव रखता है, उसने मेरा तिरस्कार किया है, पहिले मुझे पता नही था, लेकिन अब मुझे उसके वैरानुबन्ध का पता चला। वह ऊपर से दीखता तो विनीत है, किन्तु मिथ्यारूप से विनय करनेवाले उसका मेरे प्रति जो वैरानुबन्ध है वह दूर नहीं होता है, जिससे वारम्वार मुझे उपहास करने की दृष्टि से आमंत्रित करता है, लेकिन दुर्व्यवहार करके कपटपूर्ण तरीकों से वह मेरा अपमान करता है। आज भी ऐसा ही हुआ, आज मेरे पारणे का दिन है, यह जानते हुए भी उसने अकस्मात् आमोद प्रमोद शुरु करवा दिया। पश्चात् राजा के आवास में प्रवेश करके भी जब किसी ने मेरा मान-सन्मान नहीं किया तब मै राजा के सारे परिवार के अभिप्राय को शीघ्र समझ गया और तत्काल चला आया। [यह सुनकर तापसों ने कहा–भगवन्! तपस्वियों के साथ वात्सल्य रखनेवाला राजा गुणसेन ऐसा नहीं हो सकता है अथवा प्रत्येक पुरुष का अभिप्राय भिन्न होता है, अत क्या नहीं हो सकता है? आप किसी प्रकार के (क्रोध) कषाय भाव का सेवन न करें, ऐसा कहकर तपस्वी के दुःख से उद्विग्न तापसों

ऐसे हैं कि वे आप जैसे मुक्ति-मार्ग को धारण करनेवाले, शत्रु तथा मित्र में समान भाव रखनेवाले, तथा संसाररूपी समुद्र से तारने के लिये जहाज के समान, तपस्वियों को आहार भी न दें। अग्निशर्मा तापस ने जवाब दिया—तुम्हारा कथन सत्य है, राजा गुणसेन को छोड़कर यहाँ ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। सोमदेव बोला—भगवन् ! राजा गुणसेन ने ऐसा क्या किया ? सुनते हैं कि वह तो बड़ा धर्म-परायण राजा है। अग्निशर्मा ने कहा—"जो अपने समस्त प्रदेश को जीत करके भी बिना कारण हठात्—तपस्विजनों को मारता है, इससे बढ़कर धर्म-और कौन हो सकता है"। सोमदेव ने विचार किया कि—वास्तव में इस समय यह तपस्वी अति कुपित है, बड़े बड़े कुश के पास के बने हुए आसन ऊपर बैठा हुआ है और राजा के ऊपर निर्वेद भाव आ जाने से ही इसने अनशन-रूप तपस्या स्वीकार कर ली है, ऐसा मालूम पड़ता है तथा स्पष्टीकरण पूछने पर हमारे स्वामी की, कानों से न सुनने लायक ऐसी निन्दा भी करता है, इसलिये मैं अन्य किसी तपस्वी से यथार्थ वृत्तान्त जानकर अपने स्वामी को कहूँ—ऐसा मन में निश्चय करके सोमदेव अग्निशर्मा तापस को प्रणाम करके वहाँ से चला गया तथा एक तपस्वी—जो कि अपने हाथ में दर्भ, पुष्प आदि पूजन सामग्री लेकर स्नान करने की इच्छा से पहाड़ी नदी की तरफ उतर रहा था,—को पूछा कि भगवन् ! अग्निशर्मा तापस ने राजा के सम्बन्ध में क्या समझा है ? उस तापस ने भी वाष्प-जलपूरित तथा उदासीन नेत्रों से विस्तार-पूर्वक सम्पूर्ण वृत्तान्त तथा उस अग्निशर्मा तापस के किया कलापों का कथन किया। यह सब जानकर सोमदेव गया तथा जो कुछ ज्ञात किया था, राजा के पास आकर निवेदन कर दिया। सोमदेव से सम्पूर्ण वृत्तान्त जानने के पश्चात् राजा का मानसिक दुःख अधिकतर बढ़ गया तथा दुःख के भार को सहन न करने में असमर्थ वह अपने सम्पूर्ण अन्तःपुर प्रधान परिजन आदि सहित पैदल ही अग्निशर्मा को विश्वास दिलाने के लिये उस आश्रम की तरफ रवाना हुआ। जिस प्रकार से राजहंस अपनी सुन्दर कलहंसिनियों से घिरा हुआ सरोवर पर जाता है, उसी प्रकार वह राजा भी [illegible] के समान महिषी के साथ उस पहाड़ी नदी के किनारे किनारे पर आ पहुँचा। इसी बीच राजा के आगमन का समाचार [illegible] विदित हुआ है ऐसे किसी मुनिकुमार ने अत्यन्त प्रसन्न

मुद्रा में अग्निशर्मा तापस को 'राजा का आगमन हुआ है', ऐसा निवेदन किया। यह सुनकर, क्रोधरूपी अग्नि से जिसका शरीर जल रहा है, ऐसे अग्निशर्मा ने कुलपति को बुलाया तथा कुलपति के यथोचित आदर सत्कार की मर्यादा का भंग करके एकदम कहना शुरु किया कि हे गुरुदेव! बिनाकारण शत्रु भाव रखनेवाले, इस दुष्ट राजा का मैं मुख भी देखना नहीं चाहता हूँ, इसलिये राजा को जो कुछ भी कहना हो, आप ही कह दीजिये तथा तपोवन के बाहिर से ही विसर्जित कर दीजिये। कुलपति ने विचार किया–कि इस समय कषायों का इस पर जोरदार प्रभाव है, इसलिये यही उचित है कि ताजा कषाय-भाव से दूषित चित्तवाले, इस अग्निशर्मा को राजा के दर्शन से दूर रखा जाय, यह सोचकर कुलपति राजा की तरफ थोडी दूर गया और म्लानमुखवाले राजा को सपरिवार देखा। राजा ने सपरिवार कुलपति को प्रणाम किया और कुलपति ने सबको आशीर्वचन कहकर अभिनन्दन किया और कहा कि–महाराज! आइये, सामने इस चम्पक वृक्ष-राशि के नीचे बैठें। राजा बोला–'जैसी आप श्रीमान् की आज्ञा।' दोनों चम्पकवीथिका में गये, फिर कुलपति निर्मल शिला के ऊपर कुश का आसन लगाकर बैठ गये और राजा अपने परिवारसहित जमीन पर ही बैठ गया। पश्चात् कुलपति ने कहा–महाराज! इस समय, इतनी दूर रानियों तथा अन्य परिवारसहित पैदल ही आने का अनुचित कष्ट आपने क्यों किया? राजा ने निवेदन किया–भगवन्! हम लोग सदा अनुचित ही करते हैं अथवा मेरे समान पुरुषों में अधम पुरुष के लिये यही उचित भी है, क्योंकि हम अपने प्रमाद के कारण से महान् तपस्वियों को कष्ट पहुँचाते हैं तथा उनके धार्मिक कार्यों में अन्तराय पहुँचाते हैं, इसलिये जिसके हृदय में शान्ति तथा सद्भाव नहीं है, ऐसा मैं आपके समक्ष कपट-मुक्त कहूँ, इससे क्या लाभ? भगवन्! कृपा कर बतलाइये कि वह अग्निशर्मा तापस कहाँ हैं? मैं उन्हें प्रणाम करूँ तथा उनके दर्शन के द्वारा पापकर्म का सेवन करनेवाले अपने आत्मा को शुद्ध बनाऊँ। कुलपति ने प्रत्युत्तर दिया–महाराज! इतना अधिक सत्कार करने की आवश्यकता नहीं है, अग्निशर्मा ने आपके ऊपर निर्वेद भाव रख करके अनशन स्वीकार नहीं किया है लेकिन यह तो हम तपस्विजनों का नियम ही है कि "अन्तिम समय में अनशन के द्वारा देह का परित्याग करना।

राजा ने कहा-भगवन् ! विशेष वार्तालाप करने से क्या लाभ ! चलिये, उन तपस्वी अग्निशर्मा के दर्शन करें। कुलपति ने कहा-महाराज ! इस समय उनका दर्शन करना ठीक नहीं, इस समय वह ध्यान में लगा हुआ है, इसलिये उसके अभिप्रेत-इष्ट कार्य में विघ्न उपस्थित करने से क्या लाभ ? आप इस समय अपनी नगरी में जाइये, फिर वहीं पर उनके दर्शन कर लेना। कुलपति की यह आज्ञा सुनकर अत्यन्त दुःखी चित्त से राजा उठ खड़ा हुआ तथा बोला-"जैसी आपकी आज्ञा, मैं दर्शनार्थ फिर आऊँगा"। राजा कुलपति को प्रणाम करके नगरी की ओर चल दिया, इतने में एक बालतापस-कुमार अत्यन्त अनुकम्पापूर्वक राजा के पीछे पीछे थोडी दूर तक दौडा आया और अग्निशर्मा का अभिप्राय-समाचार राजा को निवेदन किया, पश्चात् राजा ने सोचा-वापिस आने से क्या लाभ ? वापिस जाने से केवल कुलपति को परेशान करना है इसलिये अब मुझे इस नगर में रहना भी अच्छा नहीं है, अन्यथा इस महाप्रभावशाली तापस के न सुनने लायक अमंगल समाचारों को सुनना पडेगा, इस प्रकार विचार करता हुआ राजा वसन्तपुर को पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसने ज्योतिषियों को बुलाया और पूछा कि 'क्षितिप्रतिष्ठित नगर' को जाने के लिये हमारे लिये कौनसा दिन श्रेष्ठ है ? नित्य ज्योतिष विद्या में सलग्न रहनेवाले उन ज्योतिषियों ने निवेदन किया-'महाराज ! कल ही प्रस्थान करना मंगलकारी है"। राजा ने परिजनों को आज्ञा दी कि "तुम सब कल ही वसन्तपुर जाने के लिये तैयार हो जाओ"। दूसरे दिन बडी सजधज के साथ राजा क्षितिप्रतिष्ठित नगर जाने के लिये निकला और सतत चलते चलते केवल एक महीने के अल्प समय में ही वह वसन्तपुर पहुँच गया। वहाँ राजा का 'सर्वतोभद्र' नाम का महल था-जिसके ऊपर चित्र विचित्र रंगोवाली ध्वजाएँ फहरा रही थीं, जिसकी अट्टालिकाएँ अनेक प्रकार से सजाई गई थीं, जहाँ महल तक का सारा राज-मार्ग अनेक प्रकार के पुष्पों से सजाया गया था, जहाँ सारे श्वेत-प्रासाद के ऊपर अनेक प्रकार की मालाएँ सुशोभित हो रही थीं, और भी अनेक प्रकार से जिस महल को सजाया गया था-ऐसे उस सर्वतोभद्र नामक महल में राजा गुणसेन पहुँच गया।

उस दिन उस नगर में 'विजयसेन' नामक आचार्य पधारे। वे आचार्य सामकल्प के नियमद्वारा उत्तम प्रकार से संयम का पालन करते थे, और अपने शिष्य-समुदाय से परिवृत थे, बारहों अंगों के ज्ञाता थे, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान के अतिशय से युक्त थे, सम्पूर्ण अंगों सुन्दर तथा प्रिय लगते थे, प्रथम युवावस्था में जिन्होंने अपनी शरीर सम्पत्ति को समृद्ध बना लिया था, जो मानो इस पृथ्वी के शृंगार थे, सम्पूर्ण मानव जाति के लिये जो मानो साक्षात् आनन्द ही थे, धर्म-तत्पर लोगों के लिये जो प्रत्यक्ष आशास्प थे, जो संयम की परमोच्चता के निवासस्थान के समान थे, जो हार्दिक श्रद्धा तथा आदर के एकमात्र स्थान थे, जो क्षमा के साक्षात् कुलघर-उत्पत्ति-स्थान थे और जो गुण-रूपी रत्नों की खान के समान थे, जो शुभ क्रियाओं के मानो साक्षात् घर के समान थे और जिनका स्वयं का जन्म बड़े से बड़े राजकुल में हुआ था, ऐसे वे विजयसेन अनेक गुणों से अलंकृत तथा उपमाओं से सुशोभित थे। वे विजयसेन आचार्य अशोकदत्तनामक सेठ के द्वारा बनाये गये जिनमन्दिर से सुशोभित अशोकवननामक उद्यान में उतरे ठहरने योग्य स्थान की आज्ञा प्राप्त करके ठहरे। उस अशोकवन में आम्रवृक्ष इतने घने व सटे थे कि उनके अन्दर कोई भी विवर (खाली स्थान या छेद) नहीं था, जिस प्रकार नीति में निपुण राजाओं में कोई विवर [illegible] नहीं होता है। [illegible] उस उद्यान में अशोकवृक्ष [illegible] जिस प्रकार से [illegible] दर्शन से [illegible] करते हैं। [illegible] (स्पन्दन) की [illegible] दिखाई देती थी [illegible] और तथा अन्त भी वहाँ दिखाई नहीं पड़ता था, [illegible] आनन्द से भरे हुए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

आसक्ति और तो धारण रक्खा जायेगा ? संसार में जन्म धारण करने वाला कोई भी प्राणी इतना मान [illegible] में जिस स्थान में यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ वहाँ से कहाँ जाऊँगा ? क्या यह पुनः भी संसार से निश्चित नहीं है ? अर्थात् क्या उस [illegible] मार्ग प्राप्त हुआ नहीं कहा जायेगा ? ३३-३७

महाराज ! और भी सुनिये–

महान् समुद्र के मध्य अत्यन्त दुर्लभ चिन्तामणि रत्न के समान मनुष्यत्व भी संसार में दुर्लभ है, तीव्र पवन से ओस से कुश के अग्रभाग पर रहनेवाले जलबिन्दु के समान जीवन भी क्षणिक है, क्रुद्ध सर्प के भीषण फण-प्रहार के समान कामभोग भी भयानक फल देनेवाले हैं, लक्ष्मी भी शरदृऋतु के बादलों के समान, मदयुवती स्त्री के कटाक्ष के समान, हाथी के कान के समान, बिजली के समान चंचल है। जब शुभ कर्मों का तथा तपस्या एवं संयम का आचरण नहीं करता है तो उसका फल ही नरक या तिर्यंचयोनि में जाना है। विशेष क्या ?

भय, रोग, शोक तथा इष्टवस्तु के वियोगरूपी अग्नि जहाँ जल रही है, ऐसे नाट्य लीला के समान क्षणिक व दुःखरूप संसार में कौन बुद्धिमान् व्यक्ति विश्वास कर सकता ? प्रत्येक भव्य-प्राणी को सदा शाश्वत, नित्य, ध्रुव तथा श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा उपदिष्ट ऐसे एकान्त सुखरूप मोक्षमार्ग में ही सदा पुरुषार्थ व प्रयत्न करना चाहिये। ३८-३९

इस प्रकार से हे महाराज ! यह संसार ही मेरे निर्वेद (वैराग्य) का मुख्य कारण है। फिर भी संसार से विरक्त होने का जो निमित्त कारण हुआ है, वह भी मैं आपको बता देता हूँ– सुनिये।

इसी विजयनामक क्षेत्र में गान्धार नाम का एक देश था, वहाँ गंधारपुरनामक एक नगर था, मैं उसी नगर का निवासी था और वहीं रहता था। वहीं मेरा सोमवसु पुरोहित का पुत्र विभावसु नाम का एक मित्र था, जो मानो मेरे दूसरे हृदय के समान था। प्रसंगवश वह विभावसु रोग से पीड़ित शरीरवाला होता हुआ देवताओं तथा दानवों को विजित कर लेता है, ऐसी मृत्यु के द्वारा मार दिया गया। मित्र की मृत्यु से मैं वियोगरूपी अग्नि में जलता रहा, उसी समय संभ्रमपूर्वक

जीवन यात्रा करनेवाले व चातुर्मास करने के निमित्त से वहाँ चार साधु हमारे नगर के बहुत समीप एक पर्वत की बहुत घनी गुफा मे स्थित हुए। मेरे अपने विश्वस्त पुरुषों ने यह समझकर कि "साधु लोग मुझे अतिप्रिय हैं" मुझे साधुओ के आने की सूचना दी। सूचना प्राप्त करके मै शीघ्र उन्हे वन्दना-नमस्कार करने गया। वहाँ जाकर मैने स्वाध्याय मे तल्लीन उन सबको देखा, मेरा मुख कमल प्रसन्न हो गया तथा मैने उन्हे वन्दना की, उन्होंने 'धर्मलाभ' के द्वारा मेरा स्वागत किया, पश्चात् मैने उनकी संयम-यात्रा की सुख शान्ति पूछी और उन्होंने मुझे यथोचित सदुपदेश दिया। पश्चात् उन मुनिवरो की थोडे समय सेवा सुश्रूषा करके मै अपने नगर में चला गया। वे साधु मुनिराज सारे वर्षावास अर्थात् चातुर्मास पर्यंत एक एक मास का उपवास किया करते थे, ऐसी बात जानकर मेरी उन पर दृढ़ श्रद्धा हो गई। इस प्रकार जैसे जैसे मेरी उनके ऊपर श्रद्धा बढ़ती गई, वैसे वैसे मै उनकी सविशेष सेवा करता रहा और ऐसा करते हुए चार मास का समय व्यतीत हो गया। चातुर्मास की अन्तिम रात्रि मे मुझे ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि कल वे चारों महातपस्वी यहाँ से विहार कर जायेंगे, इसलिये मुझे उनके दर्शन व सेवा करनी चाहिये ऐसा विचार करके मै रात्रि का अर्द्धप्रहर का समय बाकी था, तभी उन महातपस्वियों के दर्शनार्थ नगर से निकल पड़ा। मैने थोड़ा सा मार्ग पार किया था कि पृथ्वी कम्पित हुई, गान्धार पर्वत गर्जा, सुन्दर मन्द-पवन प्रवाहित हुआ, नभो-मण्डल प्रकाशमान हो गया और सब तरफ जय जयकार का शब्द प्रसारित हो गया। यह सब देखकर मेरा हर्ष और भी बढ़ गया, मै जल्दी जल्दी चलने लगा तो देखता हूँ कि गान्धार पर्वत की गुफा के समीप तृण, घास आदि सब प्रकार की अस्वच्छता साफ कर दी गई है, पृथ्वी तल एक सरीखा बना दिया गया है, सुगन्ध युक्त जल-वृष्टि की जा रही है, देवताओ का समुदाय आकाश मार्ग से उतर रहा है तथा उन साधु महात्माओ की इस प्रकार मे स्तुति कर रहा है कि—"हे प्रभो! आपने ही यथार्थ मनुष्यत्व प्राप्त किया है, रागादि दोष नष्ट कर दिये हैं, कर्म-रूपी सेना को पराजित कर दी है, संसाररूपी समुद्र को आप तिर गये हैं, और आपने शाश्वत मोक्षरूपी लक्ष्मी प्राप्त कर ली है"।

इस प्रकार से देवताओं से स्तुति किया जाता कुमार मैंने सोचा कि अवश्य इनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है और जन्म, जरा व मरण के दुःख से सदा के लिये मुक्त हो गये हैं। इसी बीच, जब मैं यहाँ पहुँचा तो देखा कि ये साधुलोग स्वर्णमय शिलातलों के ऊपर बैठे हैं, मरण के तथा मरण के त्रास से निवृत्त हो गये हैं, उनकी [illegible] शान्त नजर आ रही है ये केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त विशेष प्रकार से अतिशय युक्त शरीरवाले हैं और मानो साक्षात् गुणों की मूर्ति हों? इस प्रकार से वे दिखाई पड़ते थे। उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षणों को देख कर मैंने निश्चय कर लिया कि निःसन्देह, यह सब केवलज्ञान का ही प्रभाव है। तदनन्तर आनन्दाश्रुपूरित नेत्रों से, रोमांच के कारण पुलकित शरीर से, विस्मय के कारण से विकसित नेत्रों से, पृथ्वी पर अपने दोनों घुटने टेककर तथा कर युगल (दोनों हाथ) जोड़कर उपर्युक्त अनिर्वचनीय जिनकी शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता, एक विशेष प्रकार की विभूति का अनुभव करते हुए मैंने उन महान् भाग्यशाली आचार्य का वन्दन किया तथा वन्दन करके उनके समक्ष बैठ गया। इसी बीच उन केवलियों [illegible] देवता तथा मनुष्यों के [illegible] प्रश्न को पूछने लग गये। मैंने विचार किया कि ये इन महाज्ञानशाली मुनियों को क्या पूछेंगे? इस विचार [illegible] "मैं [illegible]" [illegible]

[illegible]

कुण्डी के समीप, उस धोबी के गधे के खुर के प्रहार से डर कर इस समय बड़ी करुणा जनक अवस्था का अनुभव कर रहा है। यही कुत्ता पूर्व जन्म में, पुष्करार्ध के भरत क्षेत्र में, कुसुमपुरनामक नगर में, जब तुम कुसुमसारनामक सेठ के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे, तुम्हारी अत्यन्त प्रिय पत्नी के रूप मे था। उसी पूर्व जन्म-जन्य सम्बन्ध व स्नेह के कारण से उसके वियोगरूपी अग्नि में जलनेवाला तुम्हारा चित्त शान्ति का अनुभव नही करता। केवलियों के पास से अपने मित्र की यह स्थिति सुनकर मुझे अत्यन्त दुःखानुभव हुआ और उसके स्नेह से मोहोत्पन्नचित्त होकर मैंने उस रस्सी के पाश से उसे छुड़ाने के लिये उस पुष्पदत्त धोबी के घर पर अपने आदमी भेजे और उनको कह दिया कि उसे शीघ्र ही धोबी के कठोर बन्धन-पाश से छुड़वा कर, भोजन तथा पानी ग्रहण कराके यहाँ लेकर आ जाओ। मेरे वे पुरुष वहाँ गये, तथा मेरी आज्ञानुसार सब काम करके उस कुत्ते को लेकर आ गये। मैंने उस कुत्ते को अत्यन्त निकट से देखा कि उसके शरीर के बालों ऊपर सैकड़ो पिस्सु (छोटे कीड़े) लगे हुए हैं, सैकड़ो कीड़ों के समुदाय ने उसे स्थान स्थान पर काटकर अनेक घाव कर दिये हैं, वह बहुत दुबला हो गया है, साँस लेते हुए अपनी लम्बी व भयकर जीभ को मेरी तरफ हिला रहा है, उसकी सुन्दर व श्वेत दंत पंक्ति चमक रही है, और वह बहुत मन्द गति से चल पा रहा है, उसकी यह स्थिति देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ और मैंने सोचा कि अरे ! इस संसार का आवास अति दारुण है। संसार में जीव के प्रेममय कार्यों के इस प्रकार के परिणाम होते हैं। इसी बीच वे मेरे अपने आदमी भी आ गये और बोले कि "स्वामिन् ! यही वह कुत्ता है"। वह कुत्ता मुझे देखकर अपनी लम्बी पूंछ को हिला रहा था, उसकी आंखें अश्रुपूरित थीं, ऊँची गरदन करके और ऊँचा मुंह करके वह इस प्रकार खड़ा था कि उसकी उस परिस्थिति का वर्णन भी नहीं किया जा सकता। उसने इस प्रकार की स्थिति में चिल्लाना शुरू किया, तब मैंने केवली भगवान् को पूछा— भगवन् ! यह क्या है? हे [illegible] मुनिराज ने समझाया [illegible] पूर्व भव के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए प्रेम का परिणाम है। मैंने पूछा— भगवन्! क्या यह मुझे पहिचानता है? भगवान् बोले—विशेषरूप से नहीं, लेकिन सामान्यरूप से यह जानता है। संसार का स्वरूप ही ऐसा

प्रकार का है कि पूर्व जन्म के अभ्यास से युक्त भावना बिना किसी प्रकार के उपयोग के भी थोड़े समय तक बनी रहती है। मैंने पूछा-भगवन् ! यह किस कर्म का फल है। भगवान् ने उत्तर दिया कि जाति मद के अभिमान से उत्पन्न कर्म का ही यह फल है। मैंने पूछा-भगवन्! क्या इसने किसी प्रकार का मान किया था ? भगवान् बोले-सुनो, इसी नगर में जब किसी समय 'काम महोत्सव' मनाया जा रहा था, विचित्र प्रकार की वेश्याएँ नृत्य करती निकल रही थीं, नगर की गाना बजाना करने व नाचनेवाली टोलियों में, तरुण व्यक्तियों के समूह में घिरी तथा अनेक जनों से प्रशंसित, पास में से जाती हुई एक धोबियों की टोली को वसन्तक्रीड़ा का अनुभव करते हुए इसने पूर्व भव में देखा। उस धोबियों की मंडली को देखकर अज्ञान के दोष से तथा जाति व कुलादि के गर्व से इसने ऐसा कह कर धोबी मण्डली का तिरस्कार किया कि "नीच (हलकी) जातिवालों की यह मंडली हमारी मंडली के पास से कैसे जाती है"। यह समझकर कि पुष्पदत्त धोबी इस चत्वरी (मंडली) का मुखिया है, उसे इस तरह से कसकर बांध दिया कि जिससे उसके सारे शरीर को पीड़ा हो और फिर बांधकर जेल में पहुँचा दिया। इसी बीच कुलसम्बन्धी अभिमान के परिणामों की बहुलता से इसने पर भव का आयुष्य बांध लिया। इसके पश्चात् जब काम-महोत्सव समाप्त हो गया तब नगर के लोगों ने पुष्पदत्त को बन्धन से छुड़वाया। यह उसी जाति मद के परिणामस्वरूप यहाँ उत्पन्न हुआ है। यह सब पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर मैंने सोचा-अहो ! अल्प सुख बहुत बड़े दुःख का फल देनेवाला होता है, इसलिये इस प्रकार के संसार आवास को धिक्कार है, इसलिये मैं इन केवली भगवान् से यह भी पूछ लूँ कि इस निदान से मुक्ति पाने का क्या उपाय है ? यह भी कि यह भव्य है अथवा अभव्य है ? सिद्धिगामी है, असिद्धिगामी है अथवा इसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई भी है या नहीं ? ये सब बातें सोचकर के मैंने पूछा-भगवन् ! मुझे उपरोक्त सभी प्रश्नों के कृपया उत्तर दें। केवली भगवान् बोले-मुनिवर, इस निदान का अन्त इस प्रकार से होगा-

इस कुत्ते के भवसम्बन्धी आयु को पूरा करके यहाँ से दूसरा जन्म धारण करके इसी पुष्पदत्त धोबी के घर की प्रसूता 'धोटपटिका'

नाम की गधी के गर्भ में गधे के रूप में उत्पन्न होगा, वहाँ से मृत्यु को प्राप्त करके पुष्पदत्त को अप्रिय, अत्यन्त क्लिष्ट शरीरवाला, विशेष भार उठाने में खिन्न हो गया है शरीर जिसका, अपने जीवन-काल को पूर्ण करने के पश्चात् मरकर पुष्पदत्त के साथ रहनेवाले मातृदत्तनामक चाण्डाल के घर पर 'अनधिका' नाम की उसकी पत्नी की कुक्षि से नपुंसक के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर तथा कुरूपता एवं भाग्यहीनता के कलंक से दूषित हुआ वह (नपुंसकता के कारण से) विषय संग में सर्वथा अज्ञात, थोड़ा समय नपुंसक रूप से जीवित रह कर किसी सिंह के द्वारा मारा जाकर शरीर को त्यागकर उसी चाण्डाल स्त्री की कुक्षि में स्त्री के रूप में उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके प्रथम बाल्यावस्था में ही सर्प के द्वारा काटा जाकर पुष्पदत्त की गर्भ दासी (प्रसूति कर्म करनेवाली) या गर्भ दासी, जिसका नाम दत्तिका होगा—के गर्भ में फिर नपुंसक के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से फिर निकल करके जन्मान्ध, बौना व कुबड़ा हो करके और सर्वत्र तिरस्कृत करके थोड़े समय तक अपने उपरोक्त प्रकार के नपुंसक पर्याय को समाप्त करके, जब नगर में आग लगेगी, उस अग्नि के द्वारा भस्मीभूत हो करके मृत्यु को प्राप्त होगा और उसी उपरोक्त दत्तिकानामक गृहदासी की कुक्षि में स्त्री के रूप में उत्पन्न होगा। स्त्री के रूप में उत्पन्न हुआ यह—पीठ सर्पी—पीठ के सहारे चलनेवाली स्त्री—होगा। वह पीठ-सर्पी स्त्री, इसी नगर में एक मदोन्मत्त हथिनी के द्वारा राजमार्ग में जाती हुई, मार दी जायेगी और इसी पुष्पदत्त की 'कालाञ्जिनिका' नामक आर्या की कुक्षि में फिर स्त्री के रूप में उत्पन्न होगी—फिर वह स्त्री अपनी यौवनावस्था को प्राप्त करेगी और फिर पुष्पदत्त अपनी उस लड़की को किसी अत्यन्त दरिद्री तथा परिस्थिति से अभिभूत ऐसे पुष्परक्षित नामक व्यक्ति के साथ पारणा देगा। शादी कर लेने के बाद वह स्त्री गर्भवती होगी और प्रसूति के समय के निकट होने पर अत्यन्त वेदना से पीड़ित होकर मर जायेगी और फिर अपनी इसी माता के गर्भ में पुत्र के रूप से उत्पन्न होगी। पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ वह बालक, बचपन में ही गान्धार नामक नदी के किनारे खेलता हुआ पुष्पदत्त के 'किरात' नामक शत्रु के द्वारा, "यह मेरे शत्रु का पुत्र है" ऐसा समझ कर उसकी गर्दन बहुत बड़ी शिला-तल से बाँध दी जायेगी और फिर

सम्यक्त्व या सम्यक्दृष्टि के प्राप्त हो जाने के बाद पहिले जो कर्मों की स्थिति शेष रह गई है, उसमें से भी दो पल्योपम से लेकर नौपल्योपम तक की स्थिति के क्षीण हो जाने पर यथार्थतः शुभतर परिणामों से गर्भित अर्थात् पहिले से भी ज्यादा शुभ परिणाम युक्त देश विरति अर्थात् श्रावक अवस्था को जीव प्राप्त कर लेता है। वह इस प्रकार है–

स्थूल प्राणातिपात (जीवहिंसा) से निवृत्ति, स्थूल मृषावाद से निवृत्ति, स्थूल अदत्तादान से निवृत्ति, स्थूल मैथुन (अब्रह्मचर्य) से निवृत्ति अर्थात् परस्त्रीगमन से निवृत्ति या स्वस्त्री संतोष और अपरिमित परिग्रह से निवृत्ति–ये पाँच श्रावक के मूल व्रत होते है। इस प्रकार से वह जीव देशविरति परिणाम से युक्त होकर तथा अणुव्रत रूप धर्म को प्राप्तकर भावपूर्वक अपरिपतित परिणामवाला अर्थात् अपने शुभ परिणामों से न गिरनेवाला होकर निम्न अतिचारों का सेवन नहीं करता है, यथा–प्रथम अहिंसा व्रत के ५ अतिचार–बंध, वध, छविच्छेद, अति भारारोपण, तथा भक्त पान का व्यवच्छेद।

द्वितीय सत्य व्रत के ५ अतिचार–सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वस्त्री मंत्र भेद, मृषोपदेश व कूटलेख करण।

तृतीय अस्तेय व्रत के ५ अतिचार–स्तेनाहृत, तस्कर प्रयोग विरुद्ध-राज्यातिक्रम, कूटतोल कूटमान, और तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत के ५ अतिचार–इत्वरिक परिगृहीतागमन अपरिगृहीतागमन, अनगक्रीडा परविवाहकरण तथा कामभोग की तीव्राभिलाषा।

पाँचवें अपरिग्रह व्रत के ५ अतिचार–क्षेत्रवस्तु प्रमाणातिक्रमण, हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रमण, धन-धान्य प्रमाणातिक्रमण, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रमण, कुप्यप्रमाणातिक्रमण। ये पाँच अणुव्रतों के कुल २५ अतिचारों के इसी प्रकार के कार्य जो संसाररूपी सागर में परिभ्रमण कराने के लिये निमित्त रूप होते हैं, उन दोष (अतिचार) रूप कर्मों को [illegible] कारण से सम्यक्त्वी तथा व्रतसम्पन्न पुरुष कभी आचरण करता है। इसके अतिरिक्त वह व्रती पुरुष निम्न प्रकार के उत्तर

(अन्य) गुणों को भी पालता है, स्वीकार करता है। वे श्रावक के उत्तर गुण ये हैं–

ऊर्ध्व, अधो तथा तिरछी दिशाओं की मर्यादा करना यह पहिला गुणव्रत तथा भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा (परिमाण) करना यह दूसरा गुणव्रत, उपभोग परिभोग के लिये कठोर कर्मों का अर्थात् १५ कर्मदानों का त्याग और आर्तध्यान व रौद्रध्यान का सेवन न करना और प्रमाद का आचरण, हिंसा के साधन अन्य व्यक्ति को न देना, पाप-कर्मोपदेश आदि अनर्थदण्डों से अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों से श्रावक विरत होता है। ये तीनों गुणव्रत हैं, इसी प्रकार श्रावक सावद्य योगों का विवर्जन तथा निरवद्य या निर्दोष योगों के आचरणरूप 'सामायिक' व्रत का सेवन करने के साथ वह अन्य शिक्षाव्रतों को भी धारण करता है। देशावगासिक–दूसरा शिक्षाव्रत है, इसमें प्रतिदिन जो दिशाओं की मर्यादा की जाती है, उसमें पहिले से भी प्रतिदिन कम कम मर्यादा करके अभिग्रह धारण करता है। इसके पश्चात् आहार का त्याग, शरीर-सत्कार का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन और सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं की त्यागरूप पौषधोपवास व्रत को श्रावक स्वीकार करता है, यह तीसरा शिक्षाव्रत है। न्यायोपार्जित और कल्पनीय–अर्थात् व्रती साधु के खाने लायक अन्न-पानी तथा अन्य संयमोपकारी पदार्थ देश, काल, श्रद्धा, सम्मान तथा अनन्य भक्ति के साथ अपनी आत्मा के ऊपर ही अनुग्रह करने की भावना से संयमी साधुओं को निर्दोष दान देता है, इस प्रकार के स्वरूपवाले चौथे शिक्षाव्रत को श्रावक धारण करता है। इस व्रत का नाम अतिथि संविभाग व्रत है।

इस प्रकार उपरोक्त शुभ परिणामों से युक्त, गुणव्रत तथा शिक्षा-व्रतों को भावपूर्वक धारण करनेवाला, और निरंतर शुभ आत्म-परिणामों व धर्म-भाव में वृद्धि करनेवाला तथा शुभ आत्म-परिणामों से कभी च्युत न होनेवाला श्रावक निम्नलिखित अतिचारों (दोषों) का सेवन न करे–

ऊर्ध्व, अधो व तिरछी दिशा के परिमाण का उल्लंघन न करना, एक दिशा की मर्यादा घटा कर दूसरी दिशा की मर्यादा बढ़ावे, दिशाओं के परिमाण को विस्मृति कर जाय। सचित्त, सचित्त-मिश्रित आहार

औषधि का भक्षण, तुच्छौषधि का भक्षण, अंगार कर्म, वन कर्म, अर्थात् जंगल के वृक्ष काटना तथा बेचना, बैल गाड़ी व रथ आदि बनाकर बेचना, बैल घोड़ा आदि किराये पर देना, खान खोदने या पत्थर फोड़ने का धन्धा करना, हाथी आदि पशुओं के दान्तों का व्यापार करना, लाख का व्यापार करना, मदिरा आदि रसों का व्यापार करना, विषैली वस्तुओं का व्यापार करना, दास-दासी तथा जीवित पशुओं के बालों का व्यापार करना, घाणी, कोल्हू आदि यंत्रों के तिल-गन्नादि पीलने का व्यापार करना, बैल आदि को नपुंसक बनाने का व्यापार करना, जंगल में आग लगाना, तालाब, झील तथा सरोवरादि सुखाने का व्यापार करना, वेश्याओं के पोषण का कार्य करना अथवा कुत्ते, बिल्ली आदि हिंसक प्राणियों को पालना, इस प्रकार के पूर्वोक्त १५ कर्मादानों का कठोर कामों का, त्याग करता है।

उपरोक्त व्रतस्थ श्रावक कामोत्तेजक चेष्टाओं का, भांड की तरह विकृत चेष्टाओं का, निरर्थक बातें करने का, हिंसक साधनों को एकत्रित करने का तथा उपभोग परिभोग सामग्री अधिक बढ़ाने का भी त्याग करता है। मन, वचन व काया के दुष्प्रयोगों का, सामायिक की विस्मृति का, और अव्यवस्थित रूप से सामायिक करने का भी त्याग करता है।

दसवें देशावकाशिक व्रत में नियमित सीमा से बाहर की वस्तु मँगाना या भिजवाना, शब्द-संकेत से काम कराना, आँख आदि के इशारे से काम कराना, कंकड़-पत्थर फेंककर दूसरे को संकेत करना—इन अतिचारों के सेवन का भी वह त्याग करता है। ग्यारहवें व्रत के पाँच अतिचार निम्न प्रकार से हैं—बिना देखे-भाले अथवा अच्छी तरह से देखे बिना शय्या का उपभोग करना, बिना पूंजे अथवा अच्छी तरह पूंजे बिना शय्यादि का उपयोग करना, बिना देखे अथवा अच्छी तरह न देखकर लघुशंका या शौच के स्थान का उपयोग करना, बिना पूंजे अथवा अच्छी तरह पूंजे बिना मल-मूत्र का विसर्जन करना और उपवास युक्त पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन करना—इस प्रकार से पौषधोपवास व्रत के अतिचारों का भी त्याग करता है।

अतिथि संविभागनामक बारहवें व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—साधु महात्मा को देने लायक आहारादि को सचित्त वस्तु से

देना, या उसमें सचित्त वस्तु मिला देना। समय व्यतीत हो जाने पर साधु को आहारादि के लिये निमन्त्रित करना, 'यह दूसरे का है' ऐसा कह कर आहारादि न देना, दान देकर मात्सर्य-अभिमान करना, इसी प्रकार के गुणव्रतों के अन्य अतिचारों का व्रती श्रावक सेवन न करे।

इस प्रकार से उपरोक्त नियमोंवाले व्रतों का पालन करके वह व्रती श्रावक स्वयं स्थिति के परिणाम-विशेष से उसी भव में अथवा अन्य अनेक भवों में संख्यात सागरोपम की स्थिति को क्रमशः घटा कर विशिष्ट के (क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता [illegible] शौच, सत्य, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य आदि) गुणों को प्राप्त करता है और इसी प्रकार से क्रमशः उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी को भी प्राप्त कर लेता है। कहा भी है–

सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् आठों कर्मों की स्थिति जो पूर्व [illegible] कोटाकोटी सागरोपम जितनी रहती है उसमें से दो से नौ पल्योपम जितनी स्थिति घटे, तब देश विरति–अर्थात् पाँचवां गुणस्थान प्राप्त होता है। उसमें से भी यदि संख्यात सागरोपम जितनी स्थिति कम हो जाय तब प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त होता है। उसमें से भी फिर संख्यात सागरोपम जितनी स्थिति कम हो जाय तब उपशम श्रेणी प्राप्त होती है और उसमें से भी संख्यात सागरोपम जितनी स्थिति कम हो जाय तब क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

मनोहर जंघोंवाली, जिनका मध्यभाग त्रिवली-नाभि के नीचे की तीन रेखाओं से सुशोभित है, जो चमकते हुए हार से अति सुन्दर दिखाई पड़ रही हैं, घुंघरूवाली करधनी के मुखर शब्द से अभिनन्दित नितम्बवाले कटिप्रदेश को धारण करनेवाली, तपाये हुए सोने के समान गौर व सुन्दर जिनकी जंघाएँ हैं, नखचन्द्र के द्वारा तेजस्वी, कछुए के समान उन्नत व सुशोभित जिनके चरण हैं ऐसी, प्रगाढ़ हर्ष के फैल जाने से विभ्रम और शृंगार भाव से मनोहर, कामदेव के बाण से [illegible] [illegible] करते समस्त वहाँ देवांगनाओं को देखता है।

अतिशय अनुरागवाले और दिव्य वैभववाले किंकर देवता सुन्दर वचन बोलते हुए उस देवता को कहते हैं—हे स्वामी! आप इन देवभवनों को देखिए! पश्चात् वह नवोत्पन्न देवता 'जय जय' शब्द के द्वारा प्रमोदित करनेवाली, मोह उत्पन्न करने में विचक्षण, ऐसी देवांगनाओं के साथ देव भवनों को देखता है। वे दिव्य देव भवन कैसे हैं? जिन्होंने मरकतमणि के शिला समूह से बनाये हुए सुन्दर पीठ (आसन) वाले, मणिरत्न जड़ित तथा स्फटिक रत्नवाली दीवार से युक्त जिनमें वैडूर्य (रत्न) मणि के खंभों पर विविध प्रकार पुतलियाँ बनाई गई (चित्रित की गई) हैं, तथा दिव्य लटकते-चामर जहाँ गृहों के बीच बीच में सुशोभित हो रहे हैं, विविध प्रकार के [illegible] देवदूष्यों से [illegible] युक्त तथा लटकाई हुई [illegible] ([illegible]) और मुक्तावलियों से सुशोभित [illegible] [illegible] भूमि के, जिसके [illegible] हो रहे हैं [illegible] [illegible] से युक्त और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

[illegible]

[illegible]

की तरफ लटकाए हुए (मोड़े हुए) लम्बे पूंछवाला था, व्यवस्थित रूप से जघाओं को स्थापित करके बैठी हुई आकृतिवाला था और सर्वांग सुन्दर मनोहर था। इस प्रकार के उस बालक को उदर में प्रविष्ठ होते देखकर सुखपूर्वक जागृत हुई रानी ने विधिपूर्वक पति से निवेदन किया- पति ने जवाब दिया-"जिसके चरण कमल युगल में अनेको सामन्त नमस्कार करेंगे, ऐसा 'महाराज' शब्द का निवासस्थान पुत्र तेरे उत्पन्न होगा"। पति के श्रीमुख से ये शब्द सुनकर वह आनन्दपूर्वक रहने लगी। यथोचित काल प्राप्त होने पर महान् पुरुषवाले, गर्भ के प्रभाव से उसे दोहला उत्पन्न हुआ। वह दोहला इस प्रकार था-"मैं सभी प्राणियों को अभयदान दूँ, दीन, अनाथ तथा कृपण व्यक्तियों की सपत्ति का दान दूँ, साधु-मुनिराजों को संयमोपकारी दान दूँ तथा सभी जिनालयों की पूजा करूँ" इस दोहले को उसने अपने पति से निवेदन किया। राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ तथा दोहला पूर्ण किया। दोहले को यथाविधि संपादित करने से जनपदों (देशों) में तथा लोक में महान् हर्ष हुआ। कहा भी है-

"जिस प्रकार बाल चन्द्रमा का उदय संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार से भाग्यशाली पुरुषों की सभी अवस्थाएँ परोपकार के लिये होती हैं"। २

तत्पश्चात् यथा सुख धर्म-कार्यों में तत्पर और परोपकार के कार्यों का सम्पादन करनेवाली थी अतः सफल जन्मा उस श्रीकान्ता रानी ने गर्भ का नवमास तथा साढ़े सात रात्रि का समय सुखपूर्वक व्यतीत किया। श्रीकान्ता देवी ने प्रशस्त तिथि, प्रशस्त करण तथा प्रशस्त मुहूर्त का संयोग होने पर सुकोमल हाथ-पैरवाले पुत्र को सब प्रजाजनों के मनोरथों के साथ जन्म दिया। शुभकरिकानामक दासी ने राजा को पुत्र जन्म का समाचार निवेदन किया, राजा ये समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और दासी को अनेक प्रकार के पारितोषिक दिये। कैदियों को मुक्तिदान दिया तथा अन्य इस प्रसंग के अनुरूप कार्य किये। पुत्र जन्म से नगर में महान् आनन्द हो गया। नगर के सभी मार्ग सजाये गये और सुगन्धयुक्त केशर के जल का छिड़काव करके मार्ग की उड़ती हुई धूलि शान्त करवाई। नगर के मार्गों के बीच शृंगार करके हा...

है, इसलिये सज्जन जनों के संबंध-वृक्ष के बीज के समान उसका स्वागत किया जाय। आप सिंहकुमार को आदरपूर्वक यहाँ बुलाइये तथा आसनादि देकर उन्हें आसन पर बैठाकर अलंकृत कीजिये तथा स्वहस्त से कालोचित वसन्त पुष्पाभरणों के साथ ताम्बूल पत्र दीजिये। कुसुमावली ने कहा–सखि! "अत्यन्त लज्जा तथा भय के कारण से मैं इस कार्य को करने में समर्थ नहीं हूँ, अतः तुम्ही इस समयोचित कार्य को सम्पादित करो"।

इसी बीच राजकुमार सिंह उस प्रदेश में आ पहुँचे, तब आसन को सुसज्जित करके, प्रियकरा कुमार से बोली–"रति-रहित कामदेव का स्वागत करती हूँ, आप श्रीमान् यहाँ विराजिये"। दासी के इन वचनों को सुनकर प्रसन्नता के साथ थोड़ा हँसता हुआ कुमार बोला–"इतने समय तक तो मैं रति-विरहित था, लेकिन अब नहीं" ऐसा बोलकर, कुमार आसन पर बैठ गया। प्रियकरीनामक दासी ने माधवी लता के पुष्पों की माला के पुष्पों की माला के साथ सुवर्णमय पात्र में ताम्बूल लाकर रखा, जिसने कुमार ने ग्रहण किया। इसी बीच कुसुमावली की माता के द्वारा बुलाने के निमित्त से भेजा गया सभरायणनामक कंचुकी-कन्याओं के अन्तःपुर का वरिष्ठ सेवक, आ गया। उसने आधी नजर से कुमार को देखती हुई कुसुमावली को देखा तथा विचार किया कि "यदि भाग्य अनुकूल हो तो रति के लिये कामदेव आ गया है" तत्पश्चात् कुछ समीप आकर सिंहकुमार का अभिनन्दन करके समरायण बोला–वत्से, कुसुमावलि! देवी मुक्तावली ने आज्ञा दी है कि–'तुम्हें क्रीड़ा करते हुए काफी समय हो गया है, तुम ज्यादा क्रीड़ा करती हुई थक जाओगी, अब जल्दी ही आ जाओ"। कंचुकी की यह बात सुनकर "जैसी माता की आज्ञा" ऐसा कहकर प्रेमदृष्टि से कुमार की ओर देखती हुई वह क्रीड़ोद्यान से बाहर निकल गई तथा कुमार का ही एक मात्र चिन्तन करती हुई अपने घर चली आई।

तत्पश्चात् वह मुक्तावली देवी को प्रणाम करके 'दन्तवलभिका' नामक महल में ऊपर चढ़ी गई और सिंहकुमार का ही स्मरण करती हुई काम-जन्य दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई, शय्या ऊपर बैठ गई और अपने मन के सभी वर्ग को भी सम्मानपूर्वक विसर्जित किया।

इसके पश्चात् कामदेव के बाणों से विद्ध वह कुसुमावली, अपने शरीरसम्बन्धी सब व्यापारों की तरफ से जो निवृत्त हो गई है, ऐसी तथा निरन्तर निःश्वास छोड़ती हुई शय्या का सेवन करने लगी। चित्र-कलासम्बन्धी किसी कार्य को नहीं करती थी और न किसी प्रकार का अगराग (मेहन्दी) शरीर पर लगा कर किसी प्रकार का शृंगार ही करती थी। किसी प्रकार के आहार की इच्छा नही करती थी, न अपने खुद के भवन में आनन्द का ही अनुभव करती थी। अपने चिर परिचित तोते तथा मेनका के समुदाय को भी पाठ कराती नहीं थी और अपने भवन-स्थित सरोवरों में रहनेवाले सुन्दर व चतुर हंसों को भी क्रीडा नही कराती थी। मकानों की चान्दनी पर चढ़कर इधर उधर घूमती नही थी, और न घर-बावड़ियो में स्नान ही करती थी। वह अपनी वीणा की सालसभाल नही लेती थी तथा वृक्षो के पत्तों को छेद छेद करके, उनमें विविध प्रकार की आकृतियाँ भी बनाती नही थी। उसने गेंद से खेलना भी बन्द कर दिया है तथा आभूषणो की सजावट की तरफ भी वह बहुत ख्याल नहीं रखती थी और यूथ भ्रष्ट-हरिणी की भाँति अपनी सखी सहेलियों से अलग, एकान्त में, एकमात्र उसी सिंह-कुमार का ही स्मरण करती थी। कुमार का स्मरण करती हुई कभी वह अपनी आँखे बन्द करती थी तो कभी, लम्बा-दीर्घ निःश्वास छोड़ती थी और कभी देह जन्य चेष्टाओं को रोककर बोलना भी बन्द कर देती थी, इस प्रकार करते हुए उसका मुख-कमल म्लान हो गया था।

इसी समय उसकी धात्री-माता ने अपनी पुत्री मदनलेखा को जो कुसुमावली के लिये दूसरे हृदय के समान प्रिय थी, आज्ञा दी-४-१०

कि–'क्रीड़ासुन्दर उद्यान में जाकर क्रीड़ा करने से कुसुमावली अत्यधिक थक गई है, अत. उसने अपनी सखी-सहेलियों को भी जल्दी विदा कर दिया है, इसलिये तुम जाओ और अत्यन्त अल्प जल से सिंचित पखा (तालवृत) तथा कपूरयुक्त ताम्बूलपत्र ले जाकर उसे दो।" माता की आज्ञा सुनते ही, माता के आदेशानुसार तालवृत (पखा) तथा कपूर-युक्त पान लेकर मणिमय नूपुर की मधुर ध्वनि करती हुई, मदनलेखा कुसुमावली के पास आई। उसने सुन्दर-शय्या में सोई हुई और [illegible] हुर स्थिति में अगों का भार अति कठिनाई से सहन करती हुई [illegible]

के सुपुत्र सिंहकुमार हैं।" उनको देखकर मैं आश्चर्य चकित हो गई हूँ।

कुसुमावली के विकार भावना युक्त कारण को जानकर मदनलेखा ने सोचा–'स्वामिनी का अनुराग योग्य स्थान पर ही हुआ है। कमलाकर (सरोवर) को छोड़कर लक्ष्मी अन्यत्र वास नहीं करती है, रति कामदेव को छोड़कर और कहीं भी गति नहीं कर सकती है, इसी प्रकार सिंहकुमार को भी इसके सिवाय कोई अन्य कन्या उचित नहीं है। फिर वह प्रकट रूप से बोली–स्वामिनी, सिंहकुमार वस्तुतः अपने गुणों से सुन्दर हैं और माता ने जब तुम्हें बुलाने के लिये भेजा था, उस समय आर्य सुबुद्धि मंत्री को राजा के साथ मंत्रणा करते हुए मैंने सुना है, यदि वह बात उसी प्रकार हो,' तो रति के साथ कामदेव के संयोग के समान ही यह सुन्दर सुयोग होगा।

कुसुमावली बोली–तुमने क्या सुना है? मदनलेखा ने कहा–मैंने इस प्रकार से सुना है, आर्य सुबुद्धि कह रहे थे–महाराज! पुरदत्त के पुत्र सिंहकुमार के लिये कुसुमावली की माँग का बड़ा आग्रह है। मुझे इस विषय में भारपूर्वक कहा गया है कि तुम किसी भी तरह से ऐसा करो, जिससे समान गुणवाले सिंहकुमार का लग्न कुसुमावली के साथ में हो जाय, और राजन्! कुमार को छोड़कर अन्य कोई भी कुसुमावली के लिये योग्य वर नहीं है।"

इसी बीच लज्जा तथा हर्ष मिश्रित स्थिति में कुसुमावली एक अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त हुई फिर भी कृत्रिम क्रोध करती हुई चन्द्रमा के समान मुखवाली चन्दन के समान शीतल व मधुर वचन बोली–मदनलेखा! तू इस प्रकार का असम्बद्ध प्रलाप करती है? और इस प्रकार से निरर्थक प्रलाप करती है? मदनलेखा बोली–सखि, इसमें असम्बद्ध जैसी क्या बात है? क्या मानसरोवर निवासिनी राजहंसी श्रेष्ठ हंस के लिये अयोग्य होती है?

मंत्री की उपरोक्त बात सुनकर राजा बोले–सुबुद्धि! महाराज का तो मेरे प्राणों पर भी अधिकार है। सुबुद्धि बोला, यह सत्य है। कुसुमावली तथा मदनलेखा जब इस प्रकार से मंत्रणा कर रही थीं, इतने में 'पल्लविका' नामक मालन-नौकरानी ने आकर कुसुमावली से

निवेदन किया–स्वामिनि ! माताजी ने आज्ञा दी है कि 'आप दन्तवलभी नामक प्रासाद में जायें' क्योंकि महाराज ने कहला भेजा है कि आज महल के बगीचे को विशेष शोभा संपन्न हो, ऐसा सज्जित करना है, कारण कि महाराजकुमार सिंहकुमार वहाँ पधारनेवाले हैं। मालन दासी के ये वचन सुनकर 'जैसी माताजी की आज्ञा' कहती हुई वह दन्तवलभी नामक उद्यान में चली गई। इधर भवनोद्यान भी सुसज्जित कर दिया गया। तत्पश्चात् सादर निमंत्रित करके, जिनको कुसुमावली के प्रति उत्कट अभिलाषा थी, ऐसे सिंहकुमार को लाया गया और भोजनोपरान्त अन्य अनेक आदर सत्कार की औपचारिकताएँ हो जाने के पश्चात् सिंहकुमार भवनोद्यान में प्रविष्ट हुआ।

उद्यान में उसने गृहसारिका-मैना-के शब्द से मुखरित द्राक्ष लता-मण्डप को, नये वरराजा के समान लाल कोपलरूपी वस्त्रों से सुशोभित अशोक वृक्षों के समूह को चतुर व मधुर कंठध्वनिवाले हंसों से चलायमान कमलोंवाली बावड़ियों के नलिनीवन खण्ड को, भ्रमरों व कोयलों से गुंजित आम्रश्रेणी को, पुष्परस के पान से हर्षोन्मत्त भ्रमण करते हुए भ्रमर समूह को, माधवी लता-मण्डप को, नागलता के समूह से परिवृत्त सुपारी के वृक्षों को, सुगंध से महकते हुए दिशामण्डल जहाँ है, केसर के गुच्छे जहाँ यत्र तत्र दिखाई दे रहे हैं, मन्द मन्द पवन जहाँ चल रहा है, जिसे देखते ही आँखें शीतल हो जाती हैं, ऐसा कदलीगृह देखा और पश्चात् माधवीलता मण्डप में बैठ गया।

इस बीच मदनलेखा ने कुसुमावली से कहा–स्वामिनि ! महानु-भावों का परिचय सुजन-भाव से-सहज-पूर्व के सम्बन्धों के कारण होता है। उस सम्बन्ध को स्थायी बनाने के लिये पहिले बुलाना, यथोचित वार्तालाप, पुष्प-पान का आदान-प्रदान आदि होने चाहिये, जिससे सम्बंध मजबूत बने। इसलिये तुम सर्वप्रथम कुमार की कुशल पृच्छा करो, बाद में अपूर्व प्रेम के साथ अपने खुद के हाथ से तैयार प्रियगु मंजरी का कर्णभूषण बनाकर, कोमल नागरवेल (पान) का पान तैयार करके नये कंकोल (फल विशेष) फलादि, ऐसी वस्तुएँ जिनमे तुम्हारे ... हो, कुमार को भेजो। यह

स्तनों का स्पर्श करता हुआ, काम भावना के कारण से नीवी भाग का स्पर्श कर रहा था, ऐसा सुन्दर वह हार था।

उसके कंठ में स्वच्छ मोतियों का हार (कंठा) धारण कराया तथा केसर से रंगे हुए कानों में रत्नमय चक्रकलाएँ पहिनाईं। सुन्दर संध्यारूपी लक्ष्मी, जैसे धवल कुटिल चन्द्रलेखा से सुशोभित होती है, वैसे ही उसका तेजस्वी मुख कान्तिमान बन गया। अत्यन्त काले व घने, वक्र तथा मुलायम व चमकते हुए केशों से सुशोभित उसके सिर पर पवित्र चूडामणि धारण करवाया और 'मुझे पहिले देखेंगे', इस प्रकार की ईर्ष्या करनेवाले रत्न समान कान्तिवाले चूनडी-वस्त्र को उसके सम्पूर्ण शरीर में धारण करवा दिया। १५-३८

इस प्रकार से इधर कुसुमावली का सर्वांग शृंगार किया गया, उतने समय में शृंगार करने में अत्यन्त निपुण वारांगनाओं ने सिंहकुमार का पूर्ण शृंगार करके उसे तैयार कर दिया और यह बात पुरुषदत्त को भी निवेदित कर दी। इस बीच शकुछाया (समय सूचक-एक पुराना माप) ग्रहण कर ज्योतिष-शास्त्र के रहस्य व ज्ञान को जाननेवाले ज्योतिषियों ने कहा कि 'पाणिग्रहण के नजदीक का मुहुर्त्त प्रशस्त (श्रेष्ठ) है।"

तत्पश्चात् राजा की आज्ञा से कुटुम्बीजनों से परिवृत्त वह सिंहकुमार आनन्दपूर्वक विवाह मण्डप में आया। जिस समय वह विवाह मण्डप के लिये रवाना हुआ उस समय मंगलमय वाद्यंत्रों से दिशामण्डल गुंजित हो रहा था, सुन्दर नृत्य करने में कुशल अन्तःपुर की सुन्दरियों से नगर का राज-मार्ग सारा भरा हुआ था, पवन से हिलती हुई ध्वजाएँ, मानों नाच रही हो, जिनरथों में लगी हुई हैं, ऐसे सुन्दर रथों में राजपरिवार के लोग पीछे पीछे चल रहे हैं, इस प्रकार से सुन्दर व सुमज्जित हाथी पर आरूढ हुआ वह सिंहकुमार, मृगांक सेन तथा अमरसेनादि कुमार जिसकी सेवा कर रहे हैं, वसन्त तथा शरद् ऋतु में युक्त कामदेव के समान, भवनों के गवाक्षों से नगर की सुन्दरियाँ अत्यन्त उत्सुकता तथा अभिलाषा से जिसे अवलोकन कर रही हैं, विवाह मण्डप आ पहुँचा।

जब वह द्वार में प्रवेश करने लगा तब द्वार खड़ी, उज्ज्वल वस्त्रों ो धारण करनेवाली तथा उसका सत्कार करने योग्य सामग्री से सुस-ज्जत वृद्ध स्त्रियों ने उसे रोका तथा अपना 'आचारिमक'–एक प्रकार ा दस्तूर माँगा। हर्ष के कारण से विकसित व प्रसन्न नेत्रवाले उस ुमार ने, माँगा था, उससे भी ज्यादा दस्तूर दिया और पश्चात् उस श्रेष्ठ हाथी से वह नीचे उतरा। हाथी से उतर जाने पर सुन्दरियों ने रिवाज के अनुसार रत्नकाचीयुक्त सुवर्ण मूसल से उसकी 'भृकुटि भग' की। बाद में साथवाले जन समूह को बाहर ही रोक कर स्त्रियाँ सिंह-कुमार को अन्दर ले गईं।

जहाँ, शरद् ऋतु के बादलों से आच्छादित चन्द्रमण्डलवाली पूर्णिमा की रात्रि के समान श्वेत व निर्मल वस्त्रों को धारण करनेवाली व गौर-मुखवाली थी, वहाँ जाने पर पोरखना, नजर उतरना आदि अपशकुन निवारण के लिये किये जानेवाले 'कौतुक' करके सखियों ने 'मुख की शोभा को देखने के पूर्व के नेग दस्तूर की माँग की तो वह थोड़ा सा हँसा और बोला कि–३९-४०

'यह तो मेरी ही काम है', ऐसा कह कर उनका दस्तूर उन्हें दिया। कुसुमावली ने अपनी मुखच्छवि-प्रकट की, अर्थात् लज्जा-सकोच सकोच छोड़कर घूंघट हटाया, तब उसने कुसुमावली को देखा, मानों अशोक वृक्ष के पल्लव से अलंकृत, ईषद् विकसित कमल के समान, वह भय तथा हर्ष के मिश्रभावों से युक्त हो, और मनोहर से भी मनोहर किसि अत्यन्त दिव्य, विलास-सुख का अनुभव कर रही है, और अत्यन्त प्रसन्न है

इसके पश्चात् मगल गीतों के उद्घोष के साथ पाणि-ग्रहण विधि प्रारम्भ हुई। वर-पक्ष तथा कन्या-पक्ष, जो परस्पर अनुरागबद्ध थे, दोनों पक्षों के हृदय में आनन्द का सवार हो रहा था। बाद में, चि काल से एक दूसरे के वियोग को सहन करने में असमर्थ, क्रूर तथा के नख-चन्द्र की कान्तिवाले दोनों हाथ इकट्ठे किये। पहिले अनु मय व कोमल हृदयवाले सिंहकुमार ने पसीने से गीले हुए हाथ कुसुमावली के हाथ का ग्रहण किया। पश्चात् वह उस सुन्दर स्थ (वश से) श्रेष्ठ तथा महान् चातुरन्त (चँवरी) में लाई गई, जैसे देवांगना देव विमान में लाई जाती हो।

उस चवरी का स्वरूप निम्न प्रकार का था—

पद्मराग मणियों से जटित सुवर्णमय स्तम्भों से वह बनाई गई थी, उसके ऊपर रेशमी वस्त्र का चन्दरवा—एक सुशोभित वस्त्र विशेष आच्छादित किया हुआ था। उस चन्दरवे में मोतियों के गुच्छों की अवचूलाएँ झालरें, लटक रही थीं। मोतियों की झालरों में जो मरकत मणियाँ थीं, उनसे श्वेत चँवर भी हरे रंग के दिखाई दे रहे थे। श्वेत चँवरों में जो सुवर्ण दण्डियाँ थीं, उसकी प्रभा से बीच बीच में लगाये गये, काच के टुकड़े भी पीले रंग के दिखाई पड़ रहे थे। उन सुवर्ण वर्णवाले काच में वर-पक्ष की स्त्रियों के मुखों के प्रतिबिम्ब सुशोभित हो रहे थे। प्रसन्न मुखी वर पक्ष की स्त्रियों को देखकर वधू-पक्ष की सुन्दरियों को भी आनन्दानुभव हो रहा था, और चहुँमुखी इस आनन्द के कारण से प्रकट रूप से रोमाच का अनुभव करनेवाला वंदी-चारण समुदाय भी चँवरी भाग तक आ पहुँचा था, उस चँवरी के पर्यन्त अन्तिम भाग में रंग-बिरंगे तारामंडल की रचना की गई थी और तारक मण्डल से सुशोभित तोरण के अगले भाग में सुन्दर-स्वच्छ चन्द्र-रेखा के आकार की स्थापना की गई थी, और चन्द्र-रेखा से विस्तीर्ण मण्डप-रूप आकाश मण्डल प्रकाशित हो रहा था—ऐसी उस चँवरी में सिंहकुमार-कुसुमावली के साथ प्रविष्ट हुआ, जैसे दिवसरूपी लक्ष्मी से युक्त देदीप्यमान सूर्य उदयाचल पर्वत में प्रवेश करता है, विकसित कमल के समान मुखवाली कुसुमावली के साथ मणि-रत्न के आभूषणों की किरणों से देदीप्यमान शरीर की कान्तिवाले सूर्य के समान सिंहकुमार ने उस चँवरी (चाँदनी) में प्रवेश किया। उस समय नीचे की तरफ मुँह की हुई, उस कुसुमावली के नेत्रों से चँवरी स्थित-वेदी के धुँएँ के कारण से थोड़े से आँसू निकल कर पैरों पर पड़े, मानो वे ऐसा कह रहे थे कि "तुम अपने पति के मुख का दर्शन करो" सिर ऊँचा करो। ४१-५२

इसी बीच बरातियों का स्वागत-सत्कार प्रारम्भ हो गया। अत्यन्त सुगन्धित वास चूर्ण, गुंजार करते हुए भ्रमरों से युक्त पुष्प मालाएँ, सुगन्धित रेशमी वस्त्र, कर्पूरयुक्त ताम्बूल पत्र, सूती वस्त्र, चीनी श्रेष्ठ वस्त्र, कड़े, हार, कुंडल, करधनी, आदि आभूषणों का तथा तुर्की, वाल्हीक, ...न, वज्जर आदि अनेक जाति के घोड़ों का तथा भद्र तथा मन्दवंश

भद्र जाति के हाथियों का दान किया गया।

इसी समय में दूसरी तरफ वर वधू घी, मधु तथा मीलों लाज से मिश्रित अग्नि की प्रदक्षिणा शुरु करते हैं। प्रथम प्रदक्षिणा में कन्या के हर्षित पिता ने शुद्ध सोना-बिना घड़ा हुआ-एक लाख भार प्रमाण दान में दिया, दूसरी प्रदक्षिणा में हार, कुण्डल, कटिसूत्र-कन्दोरा आदि विविध प्रकार के आभरण दिये और तीसरी प्रदक्षिणा म चान्दी के थाल, कच्चोलादि बर्तन दिये और चौथी प्रदक्षिणा में अत्यन्त पुलकित पिता ने अनेक प्रकार के मूल्यवान वस्त्र-साड़ियाँ आदि दी। ५३-५६

पुरुषदत्त राजा ने भी अपने वैभव के अनुसार अत्यन्त प्रसन्नता तथा आदर से लोगों का सत्कार किया और निर्मल कान्तिवाले कीमती रत्न और मोतियों के आभूषण पुत्रवधू को प्रदान किये।

इस प्रकार से विवाहोत्सव हो जाने के बाद कुसुमावली तथा सिंह-कुमार का पारस्परिक प्रेम बढ़ता चला गया और काल-क्रम से प्रशसनीय सुख का अनुभव करते हुए अनेक लाख वर्ष व्यतीत हो गये। एक बार सिंहकुमार अश्व क्रीड़ा करने के लिये गया था, वहाँ नागदेवनामक बगीचे में निरवद्य स्थान में (अत्यन्त प्रासुक) अनेक श्रमणों से परिवृत, क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (निर्लोभता) तप, संयम, सत्य, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य, ऐसे साधु के योग्य दस गुणो के भंडार, प्रथम यौवन वय में स्थित, रूपादि गुणों से युक्त, सम्पूर्ण द्वादशांगी का अर्थ तथा सूत्र पाठ अपने शिष्यों को पढ़ाते हुए धर्मघोषनामक आचार्य को उसने देखा। धर्मघोष आचार्य को देखकर उसके हृदय में मुनि के प्रति अतीव बहुमान, भक्ति जागृत हुई।

सिंहकुमार ने विचार किया कि ये मुनिराज धन्य हैं, कि "ये संसार से विरक्त तथा संसार के सम्पूर्ण सम्बन्धो के त्यागी हैं, सदा परोपकार-रत होकर अपनी सयम-यात्रा को पवित्रतापूर्वक चला रहे है। मै इनके समीप जाकर पूछूं कि सुन्दर कामभोगों का सेवन करने योग्य इस युवावस्था में इन्हे वैराग्य क्यो कर हो गया? और इस संसार को दु:ख से परिपूर्ण इन्होंने क्यो माना? पश्चात् (यह विचार करके) दूर से ही उस जातिवान् घोडे से उतरकर वह उनके समीप गया और उन्हें

सामान्य नगर में एक पुरोहित की आत्मा ने नारी के घर में उत्पन्न हुआ।

इधर गौतमस्वामी का आयुष्य समाप्त होने पर मैं वहाँ से च्युत होकर इसी विजय (भरत क्षेत्र में) सुसुमारनामक जंगल में सुसुमार नामक पर्वत पर हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ तथा युवावस्था को प्राप्त हो गया। उस बीच ब्रह्मदेव का जीव आयु समाप्त करके उसी सुसुमार पर्वत पर एक तोते के रूप में उत्पन्न हुआ। यौवनावस्था को प्राप्त मैं रमणीय, सुन्दर उस पर्वत पर सुशोभित नामक वन के जंगल में कई हथिनियों के समुदाय से परिवृत होकर घूमा करता था और अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करता था। मुझे वहाँ देखकर, मेरे साथ के पूर्वजन्मसम्बन्धी वैर के अभ्यास से तथा उत्कट कर्मोदय के प्रभाव से उस तोते को मेरे ऊपर वैर-भाव उत्पन्न हुआ तथा वैरभाव के कारण उसने सोचा—इस हाथी को इस मस्ती में भोग भोगने से कैसे वंचित किया जाय ? उसने इस सम्बन्ध में अनेक उपाय सोचने प्रारम्भ कर दिये।

एक बार कोई लीलारतिनामक विद्याधर किसी मृगांकसेननामक अन्य विद्याधर की बहन चन्द्रलेखा का अपहरण करके उसके भय से उस स्थान में (सुसुमार पर्वत पर) आया और उसने उस तोते से कहा कि "मैं इसी पर्वत के कुंज में रहता हूँ, यहाँ एक विद्याधर आयेगा, तुम मेरे सम्बन्ध में उसे कुछ भी नहीं कहना"। जब वह चला जाये तब मुझे सूचना दे देना। यदि तुम इस कार्य में मेरी सहायता करोगे तो मैं भी इसके बदले में तुम्हारा कुछ उपकार-सहायता करूँगा। यदि तू इसी प्रकार से मेरी मदद करेगा तो मैं समझूँगा कि बहुत अच्छा किया–ऐसा कहकर वह पर्वत की गहन गुफाओं में जाकर छिप गया।

वह तोता भी उसी प्रदेश में नारंग वृक्ष की शाखाओं पर बनाये गए घोंसले में रहता था, इतने में मृगांकसेननामक विद्याधर आया तथा वापिस चला गया। इस बीच हथिनी-परिवार से परिवृत मैं वहाँ आया, मुझे वहाँ देखकर तोते ने विचार किया कि चिरकालीन इच्छा को पूर्ण करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। पश्चात् मायावी तोते अपनी पत्नी के साथ विचार विमर्श करके (मुझे सुनाई दे, इस प्रकार

(मैंने उसे) कहा–सुन्दरि ! भगवान् वसिष्ठऋषि के पास मैंने ऐसा सुना था कि इस सुमुमार पर्वत के ऊपर 'सर्वकामित' नामक कोई स्थान (पतन) है, जो व्यक्ति, जिस वस्तु की इच्छा करके गिरता है, वह उसी क्षण उस इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् मैंने पूछा–भगवन् वह स्थान कहाँ है ? उन्हो ने कहा–इस श्रेष्ठ साल वृक्ष के बायें हिस्से मे ही वह स्थान है।

तब इस तिर्यंच भाव से (पक्षीरूप जन्म से) क्या लाभ ? चलो, विद्याधर बनने का चिन्तन करके वहीं हम दोनो गिर पड़ें। इस बात को तोते की पत्नी ने स्वीकार किया तथा तदनुसार दोनो उस स्थान पर गये, उपरोक्त चिन्तन (अभिलाषा) किया और पश्चात् पर्वत निकुंज में गिर पड़े। ये सब क्रियाएँ करते करते वे लीलारतिनामक विद्याधर के पास में भी गए तथा मृगाक्सेन के आने तथा वापिस चले जाने के समाचार भी उसे कह दिए। उनके इस कथन से लीलारति चन्द्रलेखा के साथ गगन मार्ग को अलंकृत करता हुआ आकाश में उड़ पड़ा। उन दोनों को उड़ते हुए हमने (हाथी तथा हथिनी) भी देखा और इस प्रकार चिन्ता (विचार) उत्पन्न हुई कि अहो ! सर्वकामित पतन का कितना माहात्म्य है कि एक शुकदम्पति ने विद्याधर बनने का केवल विचार किया और विचार करते ही इस गिरि निकुंज में वे दोनों गिरे और तत्क्षण विद्याधर मिथुन (विद्याधर तथा विद्याधरनी) बन गए। इसलिए हमें भी इस तिर्यंच भाव से (हाथी तथा हथिनी रूप जन्म से) क्या लाभ ? तो हम भी क्यों न देवता बनने का चिन्तन करके इस गिर निकुंज मे गिर पड़ें ?

इस प्रकार से विचार करके, देवता बनने की अभिलाषा हृदय में धारण करके हम दोनों 'सर्वकामित पतन' से नीचे गिर पड़े। इस बीच वे शुक-दम्पति वहाँ से उड़कर चले गये, जिसका हमें कोई ख्याल नही रहा। उस गिरि निकुंज में हम इस प्रकार से पड़े कि मेरा एक अंग चूर हो गया और अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता हुआ मैं अशाम निर्जरा के द्वारा कर्मों को खपाकर कुसुमशेखरनामक व्यन्तर देवताओं के भोगनगर में पुष्प वन (देवोद्यान) पद्मोत्तम की आयुष्यता देखता हुआ। मैं यहाँ अनेक प्रकार के उदार भोगों को अब भोग रहा

नी उत्पन्न हुआ तथा यह सोचकर कि यह सम्पत्ति रखने लायक नहीं है, फिर भी अनिच्छा से भी अपने मित्र की विशेष दक्षता इस सम्बन्ध में जानकर लाई हुई सम्पत्ति सुरक्षित रख दी। इधर नगर में यह समाचार फैल गया कि चन्दन सार्थवाह का घर लुट गया है, इस जनश्रुति को सुनकर मेरी आशंका प्रबल हो गई कि यह सम्पत्ति चन्दन सार्थवाह की ही होनी चाहिए। यह सोचकर मैं यज्ञदत्त के पास में गया और उससे पूछा कि तुमने जो धन मेरे पास रक्खा है, वह कहाँ से आया है ?

उसने प्रत्युत्तर दिया कि अन्यथा मत समझो, पिताजी के डर से मैंने तुम्हारे पास में रखा है, और शंका जैसा कोई कारण नहीं है। यह सुनकर मेरी शंका निर्मूल हो गई। इस बीच चन्दन सार्थवाह ने राजा से निवेदन किया कि राजन्! मेरे घर पर चोरी हो गई है। राजा ने पूछा कि क्या चुराया गया है? चन्दन सार्थवाह ने जो निवेदन किया, वह सब राजा ने लिख लिया। पश्चात् राजा ने अपने सेवकों को बुलाकर आज्ञा दी कि—जाओ, तथा दुन्दुभि बजाकर शहर में इस बात की घोषणा कर दो कि—"चन्दन सार्थवाह का घर चोर लिया गया है, और इस प्रकार की सम्पत्ति चुरा ली गई है, इसलिये जिस किसी के पास लेनदेन या व्यापारादि द्वारा चुराई गई सम्पत्ति या उसका कोई हिस्सा आया होवे तो वह कठोर आज्ञा करनेवाले राजा के समीप आकर राजा से निवेदन कर दे, यदि किसी के पास में यह सम्पत्ति मिल गई और उसके पूर्व उसने राजा से निवेदन नहीं किया तो राजा उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण कर लेंगे तथा उसे शारीरिक दण्ड-(जेल) भी देंगे और किसी प्रकार से क्षमा-प्रदान नहीं करेंगे।

राजा की आज्ञा के अनुसार घोषणा कर दी गई। घोषणा कर दिये जाने के बाद पाँचवें दिन यज्ञदेव ने राजा से निवेदन किया—महाराज! यद्यपि अपने मित्र के किसी दोष का प्रकाशन करना उचित तो नहीं है, किन्तु परलोक तथा इस लोक सम्बन्धी विरुद्ध आचरण करनेवाले तथा ऐसे पुरुषों से अपना भी अहित करनेवाले, ऐसे मित्र के साथ क्या प्रयोजन? जानते हुए राजा के साथ ... की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसलिए यज्ञदेव मेरा मित्र है फिर भी मैं आपसे निवेदन करता हूँ।

पति को स्वप्न की जानकारी भी नहीं दी। जिसका गर्भ दूषित हो रहा है, ऐसी उसने गर्भ के दोष के कारण से वह राजा का आदर-सत्कार भी नहीं करती थी फिर भी राजा उसके ऊपर विशेष स्नेह रखने लग गया।

कुटुम्बी जनों ने रानी से कहा कि महारानी ! यह उचित नहीं है कि राजा आपके प्रति अत्यधिक स्नेहाधीन हैं, और आप उनका आदर-सत्कार नहीं करती हैं। रानी ने कहा—मैं क्या करूँ ? निश्चित ही यह इस गर्भ का दुष्प्रभाव होना चाहिये, अन्यथा, मैं आर्यपुत्र (राजा) का बहुमान-सत्कार क्यों नहीं करूँ ?

अन्य किसी समय में उसे दोहला (गर्भ की आन्तरिक इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'मैं इस राजा की आँतें खाऊँ'। उसने विचार किया कि अवश्य ही मेरा यह गर्भ पापकारी है, ऐसे गर्भ से क्या लाभ ? स्त्री-स्वभाव से तथा पति-स्नेह के कारण से उसने गर्भ को गिराने का विचार किया और विचार करके, चूंकि यह बहुत बड़ा कार्य है, अतः परिवार के मुख्य व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श किया और उनकी सम्मति मिल जाने पर गर्भपात करने की गुप्त योजना प्रारंभ कर दी। प्रगाढ़ कर्म-दोष के प्रभाव से गर्भ नहीं गिरा। पश्चात् अनेक प्रकार की औषधियों के सेवन से तथा दोहले की पूर्ति न हो सकने के कारण से वह अत्यन्त दुर्बल हो गई।

उसे इतनी कृश होती देखकर राजा ने पूछा—सुन्दरि ! तुम्हारे कौन से मनोरथ पूर्ण नहीं होते ? अथवा तुम्हारी आज्ञा का किसी ने उल्लंघन किया है अथवा मैंने तुम्हारी इच्छा के विपरीत किसी प्रकार का आचरण किया है, जिससे अल्प जलवाली कुमुदिनी के समान तुम इस प्रकार से क्षीण होती जा रही हो ? पति के इस प्रकार के हार्दिक स्नेह को प्राप्त करके कुसुमावली ने कहा—आर्यपुत्र ! मुझे इस प्रकार से निर्वेद-उद्विग्नता हो गई है, जिससे मैं सोचती हूँ कि "मैं आत्महत्या कर डालूँ।"

राजा ने पूछा—हे सुन्दरि ! तुम आत्महत्या क्यों करना चाहती हो ? कुसुमावली ने उत्तर दिया—राजन् ! मेरे भाग्य को ही इसका कारण पूछिये, ऐसा कहते कहते उसका कंठ गद्गद् हो गया और वह

हट गई। राजा ने विचार किया कि इस समय यह अत्यन्त दुःखी है अतः इस प्रसंग की वार्ता को विशेष करने से क्या लाभ ? 'मैं इसका ध्यान अन्य बात की तरफ आकर्षित करूँ' ऐसा विचार करके राजा ने उस प्रसंग के वार्तालाप को बन्द करके अन्य प्रसंग प्रारम्भ कर दिया। पश्चात् मदनलेखादि उसके सखी जनों को बुलाकर राजा बहुमानपूर्वक उनसे कहने लगा कि तुम लोग इतने बुद्धिमान् हो तथा रानी के दुःख का कारण जानते हुए भी कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान क्षीण होती हुई रानी की इतनी उपेक्षा करती हो, क्या यह तुम्हारे लिये उचित है ? रानी की यह उदासीनता किसी असाध्य वस्तु में सम्बन्धित भी नहीं है, क्योंकि रानी मुझे इस संसार में सर्वाधिक प्रिय तथा मेरे लिये एकमात्र सारभूत है। संसार में ऐसी कौनसी वस्तु है, जो मेरे प्राण धारण करते हुए भी रानी के लिये सुलभ न हो ? मदनलेखा बोली– महाराज ! आपका कथन सर्वथा सत्य है। हमारी स्त्री-सुलभ अज्ञानता ही एकमात्र यहाँ के अपराध का कारण है इसलिये महाराज ! यद्यपि रानी के निर्वेद का कारण कहने लायक नहीं है, तथापि कहने के सिवाय अन्य कोई चारा भी नहीं है, इसलिये मैं आपसे निवेदन करती हूँ।

राजा ने प्रत्युत्तर दिया कि रानी का निर्वेद यदि उपाय साध्य हो तो तुम स्वयं ही उसका निवारण कर लो, अन्यथा मुझे कहो। इसलिये बोलो कि रानी के दुःख का वास्तविक कारण क्या है ? मदनलेखा ने [illegible] स्थिति में गर्भ के स्थिर होने, दोहद उत्पत्ति के [illegible] कारण सहित सभी गर्भपात के उपायों का जो अवलम्बन किया गया, वहाँ तक का सम्पूर्ण वर्णन राजा को कह सुनाया।

राजा ने विचार किया कि इस रानी का मेरे ऊपर असाधारण प्रेम है, जिससे स्व-अंग की भी [illegible] न देती हुई मेरे ऊपर ऐसा अनुराग रखती है। अब यदि इसके दोहद (गर्भ की इच्छा) की पूर्ति न [illegible]

[illegible]

वृत्तान्त राजा ने उसे कह सुनाया। महामंत्री ने विचार किया कि रानी का सोचा हुआ उपाय उचित ही है अथवा गर्भपात करने से तो रानी के शरीर को पीड़ा होगी अतः इस विषय में उचित उपाय कर लेना अधिक श्रेयस्कर होगा ऐसा सोचकर उसने निश्चय किया कि राजा को भूसा रखा जाकर कृत्रिम आंतें पेट के बाहिर बाँधकर तथा नेत्रपट लगाकर और आँखों पर मजबूत पट्टी बाँधकर रानी के देखते हुए ही आंतें निकाल कर दी जाय तो ठीक हो और जन्म होने के पश्चात् गर्भ का क्या होगा इसका विचार बाद में करेंगे।

सारा विचार करके महामंत्री ने अपना निश्चय राजा से निवेदन किया, राजा को मंत्री की यह युक्ति बहुत पसन्द पड़ी। तत्पश्चात् मतिसागर ने रानी से कहा—स्वामिनि! मैं राजा की आंतों को इस प्रकार से निकालूंगा, जिससे राजा की मृत्यु न हो (और इच्छा पूर्ति हो जाय।) गर्भ स्वभाव से ही दुष्ट था इसलिये रानी ने मंत्री की बात स्वीकार कर ली। मंत्री का सोचा हुआ उपाय किया गया और दोहद पूर्ण हो गया। इसके पश्चात् शोकग्रस्त रानी को राजा के दर्शन कराये जिससे वह समाश्वस्त हुई।

तत्पश्चात् मंत्री ने रानी से निवेदन किया कि हे स्वामिनि! प्रसूति समय में (प्रसूति हो जाने पर) बालक का जन्म होने के समाचार राजा को पहिले मत कहलाना लेकिन मुझे प्रथम सूचना देना। इसके पश्चात् समयोचित जो कुछ करना होगा वह मैं कर लूंगा। रानी ने मंत्री के इस कथन को स्वीकार कर लिया।

अन्य किसी समय में दिवस के चरम प्रहर में (अपराह्ण में) रानी प्रसूता हुई और उसी समय मतिसागर (महामंत्री) को बुलवाया। महामंत्री बोला—हे स्वामिनि! यह गर्भ राजा के लिये अनिष्ट कारक जान पड़ता है, ऐसे गर्भ से क्या लाभ? इसका पालन, पोषण तथा संवर्द्धन अन्यत्र किया जाना चाहिये, और राजा से ऐसा निवेदन कर दें कि 'शिशु मर गया है''। रानी ने कहा कि यही उचित है। मैंने जैसा मन में विचार किया था, वैसा ही मंत्री महोदय ने सोचा है।

तत्पश्चात् माधविकानामक दासी के साथ शिशु को बाहर भेज... कर थोड़ी ही दूर गई होगी कि राजा ने उसे देख लिया और

पूछा कि तुम्हारे हाथ में यह क्या है ? तब भय के मारे कम्पित होती हुई मार्धविका बोली–"देव ! कुछ भी नहीं है।" इतने में हाथ में रहा हुआ नवजात-शिशु को देखकर क्रोधित होकर राजा बोला–ऐ पापिनी ! यह क्या किया ? तत्पश्चात् स्त्री स्वभाव की भीरुता के कारण माधविका ने सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा को कह दिया।

सारा वृत्तान्त जान लेने के पश्चात् राजा ने बालक को ले लिया और विचार किया कि अब यदि यह बच्चा इसके पास में रहेगा तो जीवित नही रह पायेगा, इसलिये इसे पालन-पोषण तथा संवर्द्धन के लिये अन्य किसी धात्री को दे दूँ। पश्चात् वह अन्य धात्रियों को सौंप दिया गया और उन्हें चेतावनी दी कि इस बालक की रक्षा करने में यदि तुम लोगों ने किसी भी प्रकार का प्रमाद (गफलत) किया तो तुम मेरे हाथों द्वारा नष्ट हो जाओगी। राजा ने, (बालक को दे दिये जाने के कारण से) महारानी तथा मंत्री मतिसागर को भी उपालम्भ दिया और कुसुमावली तथा मंत्री के मन के अनुकूल (उनके चित्त को आघात न पहुँचाते हुए) बनकर गुप्त रूप से सामान्य सा पुत्र जन्मोत्सव मना लिया। इस प्रकार करते हुए थोड़ा समय व्यतीत हो गया। बालक का नाम 'आनन्द' रखा गया। वह शनैः शनैः बड़ा हुआ और उसने अनेक कलाओं का ज्ञान ग्रहण किया। वह बालक पूर्व कर्मों के दोष से राजा के प्रति विषम चित्त (द्वेषपूर्ण विचार रखनेवाला था) वाला था, फिर भी राजा ने उसे युवराज-पद प्रदान किया।

अन्य किसी समय, सीमान्तवर्ती, जङ्गली किले की भूमि तथा सेना-सम्बन्धी गर्व के कारण गर्विष्ठ दुर्मतिनामक सामन्तराज उत्तरोत्तर सिंह राजा को सताया करता था। यह बात जब सिंह को ज्ञात हुई तब उसने अपनी सेना भेजकर उस पर चढ़ाई कर दी लेकिन दुर्मति के पास भूमि तथा सेना विशेष होने के कारण से सिंह की सेना पराजित हो गई। अपनी सेना के पराजय के समाचार जानकर राजा क्रोधित हुआ तथा योद्धाओं के साथ युद्ध के लिये तत्पर हुआ और तीन स्थानों पर अपना पड़ाव डालते हुए (दुर्मतिनगरी पर) वहाँ पहुँच गया।

इसी समय सिन्धु नदी के किनारे को पार करते हुए [illegible] पर विराजित हुए राजा सिंह ने, नदी के जल के [illegible] 'अरे !

जिस प्रकार से शिकार करते हुए अजगर को गरुड़ मार कर खा डालता है, उसी प्रकार से यमराज भी जन्म को प्राप्त सभी प्राणियों का मर्यादित समय पर नाश कर देता है। जब जरा, रोग, व्याधियाँ तथा अन्य किसी प्रकार के बाधक कारण नहीं हैं ऐसे देवलोक में भी मृत्यु-काल स्वच्छन्द रीति से तथा गुप्तरूप से विचरण करता है तो फिर व्याधि, जरा, रोग तथा शोक से सदा घिरे हुए मनुष्य लोक में मनुष्य निमिषमात्र भर के लिए भी जीवित है, यह मृत्यु का प्रमाद है, इसलिये हे वत्स! अधीर पुरुषों द्वारा सेवित ऐसे-आचरण को तुम त्याग कर दो, मृत्यु की दाढ़ में पड़ा हुआ इन्द्र भी जीवित निकलने में समर्थ नहीं है। हे वत्स! मरे हुए को मार कर तू अपने कुल को कलङ्कित मत कर। मैंने अपनी वाणी से जिस आहार का त्याग कर दिया है, उसे मैं अब कैसे ग्रहण कर सकता हूँ?

राजा के मुँह से इस प्रकार से निर्भीक वचनों को सुनकर क्रोधाग्नि से प्रज्वलित तथा लाल नेत्रोंवाला आनन्दकुमार "अभी भी किस प्रकार से बोलता है" इस प्रकार से बोला तथा अपने हाथ में रही तलवार से राजा के सिर में प्रहार कर दिया। उस समय तत्त्व के ज्ञाता राजा ने "नमो जिनेभ्य." का चिन्तन किया और विशुद्ध भाव से सोचा कि "यह एकमात्र पूर्वकृत कर्मों का ही दोष है" तथा संसार के सभी जीव पूर्वकृत कर्मों के फल को प्राप्त करते हैं, अपराधों तथा गुणों के सम्बन्ध में अन्य लोग तो निमित्त मात्र होते हैं। राजा इस प्रकार से चिन्तन कर रहा था तब फिर उस पापकर्मी आनन्द ने निर्मल चित्तवाले महात्मा अपने पिता सिंह राजा को कालुष्य भाव से मार गिराया।

मृत्यु को प्राप्त होने के पश्चात् वह राजा सनत्कुमारनामक देवलोक में, लीलारामनामक विमान में पाँच सागरोपम के आयुष्यवाला उत्तम कान्तिवाला देव हुआ तथा आनन्दकुमार भी बहुत समय तक राज्य करके, मृत्यु को प्राप्त होकर रत्नप्रभानामक नरकभूमि में उत्कृष्ट आयुवाला महाघोर नारकीरूप से उत्पन्न हुआ। ९४-११८

धर्म से याकिनी महत्तरा के पुत्र परमगुणानुरागी, परमसत्यप्रिय परम कारुणिक भगवान् हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित समरादित्य कथा (समराइच्च कहा) के अन्तर्गत यह द्वितीय भव समाप्त हुआ।

तृतीय भव

सिंह राजा तथा आनन्दकुमार, पिता-पुत्र का सम्बन्ध द्वितीय भव में कहा जा चुका है, अब उन दोनों का शिखिकुमार जालनी, पुत्र तथा माता के रूप में जो सम्बन्ध हुआ है, उसका कथन इस प्रकरण में करूँगा—१

इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में अनेक लोगों का निवास-भूत, कौशाम्ब नाम का नगर है। इस कौशाम्ब नगर में व्याधियों की वेदना का कभी अनुभव नहीं होता था, यह नगर परचक्र के भय से अर्थात् अन्य राजाओं के युद्ध या आक्रमणादि भयों से रहित था और देवताओं की नगरी के समान अत्यन्त रमणीय था।

कौशाम्ब नगर की स्त्रियाँ सरल-स्वभाववाली, स्थिर स्नेह के अनुबन्ध से युक्त, कामदेव की राजधानी की स्त्रियों के समान सुन्दर तथा धर्म के साक्षात् फल के समान थी और यहाँ के पुरुष प्रियवादी, सत्यवादी, किसी भी अपरिचित से आदर के साथ प्रथम बोलनेवाले तथा सदा धर्म-तत्पर दिखाई देते थे।

उस नगर का राजा अजितसेन था। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी, और कई एक अभिमानी राजाओं का अभिमान चूर कर देने से उनके रत्नजटित मुकुटों से युक्त मस्तक उसके चरणों में झुक जाने से उसके पैर भी मानो रंगे हुए थे, ऐसा प्रतापी वह अजितसेन राजा था। उस राजा के मंत्री का नाम इन्द्रशर्मा था, वह ब्राह्मण था, सारे राज्य की समग्र दृष्टि से सदा चिन्ता करता था तथा वह राजा को इतना प्रिय था कि राजा उसे अपने से जरा भी भिन्न नहीं मानता था। मंत्री की पत्नी का नाम शुभंकरा था।

इधर वह आनन्दकुमार जो नरक में गया था, अपना नरक का आयुष्य पूर्ण करके और कुछ कम चार सागरोपमकाल संसार की विविध गतियों में परिभ्रमण करके इन्द्रशर्मा की शुभंकरानामक पत्नी की कुक्षि में पुत्रीरूप से उत्पन्न हुआ। जन्म हो जाने के पश्चात् उचित समय -

उसका नाम 'जालिनी' रखा गया। यह जालिनी क्रमश. यौवन को प्राप्त हुई, तब अजितसेन के अन्य मंत्री बुद्धिसागर के पुत्र ब्रह्मदत्त के साथ उसका सम्बन्ध हुआ तथा पश्चात् पाणिग्रहण भी हो गया। उन दोनों ने काफी लम्बे समय तक संसार के भोगों को सुखपूर्वक उपभोग किया। इस प्रकार से काफी समय व्यतीत हो गया।

इधर वह सिंहदेव का जीव भी सनत्कुमारनामक देवलोक से च्यु होकर (अपना आयुष्य पूर्ण करके,) कर्म की अनिन्त्य महानता कारण उसी जालिनी की कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। जालिनी उसी रात्रि में एक स्वप्न देखा। उसने स्वप्न में देखा कि 'एक सुवर्ण-मय पूर्ण कलश ने मेरे उदर में प्रवेश किया है,' इससे उसका सन्तोष प्रकट न हो, उससे पूर्व तो वह बाहर भी निकल गया तथा बाहर निकल कर फूट गया। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर वह घबराती हुई-सी जागृत हुई। उसे थोड़ासा दु:ख मिश्रित सुख-रस का अनुभव हुआ, लेकिन उसे अपने पति ब्रह्मदत्त को स्वप्न आने की बात नहीं कही। अब वह गर्भ शनैः शनैः वृद्धिगत होता चला गया। उसके शरीर तथा मन दोनों को गर्भ के कारण से पीड़ा होने लगी और उसने विचार किया कि "यह गर्भ पापमय है, अत मैं इसे गिरा दूँ या नष्ट कर दूँ।"

इस प्रकार का विचार करने के पश्चात् गर्भ को नष्ट करने के अनेक उपाय किये लेकिन कर्म के विपाक से गर्भ नष्ट नहीं हुआ। इस सारी घटना की जानकारी ब्रह्मदत्त को हो गई और उसने अपने विश्वस्त परिजनों को वहाँ नियुक्त किया तथा उन्हें सूचना दी कि प्रसूति के समय में गर्भ को यदि किसी प्रकार का कष्ट हो तो उसकी पूरी सभाल रखना और स्वामिनी को सन्तोष हो जाय ऐसा कोई अच्छा बहाना करके अथवा उसे न मालूम पड़ने देते हुए मुझे सारी स्थिति कह देना।

इसके पश्चात् जालिनी को दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं सभी प्राणियों को आनन्दित करूँ, देवमन्दिरों में महापूजाएँ सम्पादित कराऊँ, धर्म तत्पर महातपस्वियों की पूजा करूँ तथा किसी प्रकार से कल्याण-कारी परलोकमार्ग का श्रवण करूँ। उसके पति ब्रह्मदत्त ने इस दोहद को पूर्ण कराया और जालिनी भी इस गर्भ के प्रभाव से लोगों के लिये मनोरम-आदरणीय हो गई।

प्रयत्नपूर्वक—विवेक बुद्धि से त्याग कर देना चाहिये। इन कषायों के सेवन से ही कर्म-वृद्धि, उसके पश्चात् संसार-वृद्धि अर्थात् पुनः पुन. जन्म धारण और फिर दुःखों का अनुभव होता है। इसलिये संसार के प्रति उद्वेग का भाव रखकर महान् पाप स्वरूप इन कषायों का त्याग कर देना चाहिये। २-३ कहा भी है—

जो व्यक्ति राग-द्वेष रहित होता है, उसे किसी भी प्रकार के कटु-फलों का परिणाम नहीं भोगना पड़ता है, इसमें क्या आश्चर्य ? परन्तु कषाय-भावों के रहते हुए भी जो उनके आधीन नहीं होता, बल्कि उनको अपने वश में कर लेता है, वह भी उसी के समान है, ऐसा समझना चाहिये। ४

इधर जाल्निी के हृदय में तीव्र कषायों का उदय होने से वह अपने पति ब्रह्मदत्त पर अत्यन्त कुपित थी और सभी कर्तव्य कार्यों का उसने परित्याग कर दिया तथा अपने पति से कहा कि या तो इसके साथ प्रेम रखो या मेरे साथ। जहाँ तक इसका परित्याग नहीं करते, मैं प्राण निर्वाह करने के योग्य आहार तो दूर—पानी भी ग्रहण नहीं करूँगी।

माता के द्वारा कहा गया यह कथन शिखिकुमार ने सुन लिया इसलिये उसे बड़ा दुःख हो गया तथा वह घर से निकल पड़ा और उसने विचार किया कि "देखो, मेरे पापों का परिणाम कैसा तुच्छ है कि जन्म देनेवाली माता भी मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार करती है। और माता के इस विपरीत व्यवहार से मेरे कारण से पिताजी को भी दुःख होता है इसलिये अब घर में रहना मेरे लिये उचित नहीं है, ऐसा विचार करके पिता की आज्ञा लिये बिना ही वह नगर से बाहर निकल गया।

वह घूमता हुआ अशोकवननामक उद्यान में गया, वहाँ उसने अशोक वृक्ष के नीचे, अपने शिष्यों के परिवार से परिवृत विजयसिंह नामक एक तेजस्वी आचार्य के दर्शन किये। वे आचार्य एक प्रकार का संयम पालन करने में तत्पर, दो प्रकार के अशुभ ध्यान के त्यागी, तीन प्रकार की हिंसा से रहित, चारों कषायों का मथन करनेवाले पाँचों इन्द्रियों को निग्रह करने में अति कुशल, षड् जीवनिकाय के लिये वत्सल,

सात प्रकार के भय से सर्वथा मुक्त, आठ प्रकार के मदों के त्यागी, नव प्रकार से गुप्त ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले, दस प्रकार के साधु धर्मों को धारण करने में स्थिर चित्त, ग्यारह अंगों के ज्ञाता, बारह प्रकार की तपस्या का आचरण करने में सदा तल्लीन तथा अनेक प्रकार के साधु-उचित गुणों से युक्त तथा महान् प्रभावशाली थे। उन्हें देखकर सिंहकुमार की उनके प्रति प्रीति उत्पन्न हो गई और उसने इस प्रकार से विचार किया–

वस्तुतः यह पुरुष धन्य है कि संकट स्नेहवाले इस संसार में भी यह इतना धर्म-तत्पर है, ऐसा विचार करके वह उनके समीप गया। आचार्यदेव को विनयपूर्वक प्रणाम किया तथा उन्होंने भी "धर्मलाभ" कह कर उसका अभिवादन स्वीकार किया। तत्पश्चात् वह उनके चरणों के समीप जाकर बैठ गया और उनसे पूछा कि हे भगवन्! आपके इस वैराग्य का कारण क्या है? आप ऐसे सर्वांगसुन्दर तथा दिव्य हैं, आप वैभवशाली भी दिखाई देते हैं और ऐसा लगता है कि स्वजनवर्ग अर्थात् परिवार में भी काफी सुप्रतिष्ठित होंगे। इसलिए कहिये कि स्वजन वर्ग से निरपेक्ष होकर इस प्रकार की निःसंगता आपने क्यों धारण की? अर्थात् आपके शारीरिक सौन्दर्य से ही आपके वैभव, परिवार की सम्पन्नता तथा सुख का आभास हो जाता है तो ऐसी स्थिति में आपने दीक्षा क्यों धारण की?

आचार्य ने [illegible] इस शरीर में भी क्या सौन्दर्य है? और [illegible] परिणाम है, ऐसे वैभव से [illegible] [illegible] है? [illegible]

[illegible]

है। जीव अकेला ही जन्म धारण करता है तथा अकेला ही मरता है और परलोक में भी अकेला ही जाता है। संसार में प्रत्येक प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल खुद ही भोगता है तो फिर यहाँ कौन किसका स्वजन है और कौन किसका परजन (पराया) है। कभी कभी तो शत्रु भी मरकर पिता बन जाता है और इस जन्म का अपना पुत्र भी शत्रु हो जाता है। इस प्रकार के चञ्चल स्वभाववाले तथा परिवर्तनशील संसार में किसी को स्वजन मानकर उस पर आसक्ति या मोह रखना अज्ञानता का फल है। ५-९

सुनो—मेरे साथ में जो कुछ घटित हुआ है, वह इस प्रकार है—

इसी विजय में लक्ष्मीतिलकनामक नगर है। वहाँ सागरदत्त नाम का सार्थवाह रहता है और उसकी पत्नी का नाम श्रीमती है। मैं उन दोनों पति-पत्नी का पुत्र हूँ। जब मैं बच्चा था, तब उस नगर के पास में स्थित लक्ष्मी पर्वत नाम के पर्वत पर गया। उस पर्वत के एक कोने में चिकने पत्तों के समूह से युक्त नारियल का पेड़ था जो पृथ्वी के अन्दर काफी गहरा था, उसे मैंने देखा। उस वृक्ष को देखकर मुझे बड़ा कौतुक हुआ और मैंने सोचा कि अहो! आश्चर्य! इतने वृक्षों में से केवल यही एक वृक्ष है जो इस पर्वत के इस कोने से (विभाग से) नीचे उतर कर इसका मूल पृथ्वी में इतना गहरा प्रविष्ट हो गया है? अवश्य इसमें कोई न कोई रहस्य होना चाहिये।

इतने ही में मुझे अचानक असामयिक आनन्दानुभव हुआ। एकाएक मधुर पवन बहने लग गया। पशुगणों ने भी अपना पारस्परिक स्वाभाविक वैरभाव छोड़ दिया और उस लक्ष्मी पर्वत पर संसार की सम्पूर्ण शोभा प्रसारित हो गई। उद्यानों में सभी ऋतुओं में समय-समय पर विकसित होनेवाले सुमन एकसाथ विकसित हो गये। दूसरी तरफ पक्षीगण भी अत्यन्त प्रसन्न होते दिखाई दिये। भ्रमर-पंक्ति अत्यन्त मनोहर, रम्य तथा उत्तुंग शब्द से गुञ्जार करने लगी। जिसकी उष्णता असह्य न हो, ऐसा सूर्य उस पर्वत के सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हो गया अर्थात् उदित हो गया। यह सब दृश्य देखकर मैंने विचार किया कि सारे संसार के लिए आश्चर्यकारी यह क्या चमत्कार है?

इसी समय मैंने पश्चिम दिशा में से नीचे [illegible] अजित नाथ तीर्थंकर का धर्मचक्र देखा। वह धर्म[illegible] मंडल के समान तेजस्वी, उत्तम जाति के [illegible] रत्नों से मण्डित, जय-जयकार के शब्दों में [illegible] जिसके इर्द-गिर्द देवता लोग मंगल गान [illegible] और देवसमुदाय से घिरा हुआ तथा [illegible] था। तत्पश्चात् बहुमूल्य गुण-रत्नों से [illegible] साधु और उनके पीछे की ओर देवताओं के [illegible] मोगरों के फूलों के समान उज्ज्वल [illegible] से आकाश इस प्रकार से व्याप्त हो [illegible] बना दे रहा हो।

तत्पश्चात् सुशोभित दिव्य [illegible] इन्द्र चंवर डोल रहे हैं, देवता, [illegible] रहे हैं, कालागुरु, श्रेष्ठ लोभान [illegible] रही है, परम सौम्य, सुवर्णमय [illegible] जो भव-समुद्र को पार कर चुके हैं [illegible] नाथ के मैंने दर्शन किए। [illegible] हुआ, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार [illegible] बढ़ने लग गई।

मैंने हृदय में विचार [illegible] साक्षात् त्रिलोक चिन्तामणि [illegible] पधारते ही देवताओं ने [illegible] की। वह समवशरण [illegible] तीन प्राकारों से परिवेष्टि[illegible] लटक रहे थे, रत्नमय [illegible] उसके ऊपर की तरफ [illegible] मधुर गुंजार करते हुए [illegible] रहा था, ऊँचे श्वेत [illegible] दिव्य वैडूर्य मणि[illegible] युक्त ध्वज-चक्र से [illegible]

रूप में उत्पन्न हुआ और सर्प के विष के प्रभाव से तुम भी मरकर, इसी विजय में कृतंगलानामक नगरी में शिवदेव कुलपुत्र की यशोधरानामक पत्नी की कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। गर्भकाल समाप्त होने पर तुम्हारा जन्म हुआ तथा तुम्हारा नाम इन्द्रदेव रखा गया। बाद में तुम युवावस्था को प्राप्त हुए।

इधर सिंह के जीव ने पूर्व जन्म के अभ्यासवाली भावना से एवं ओघ संज्ञा (परम्परा) से उस धन को ग्रहण किया। इस प्रकार से काफी समय व्यतीत हो गया।

अन्य किसी समय अपने स्वामी वीरदेव राजा के द्वारा तुम लक्ष्मी निलय के स्वामी मान भंग के पास में भेजे गये। मार्ग में आते हुए कतिपय पुरुषों के परिवारों के साथ काल-क्रम से तुम इस स्थान पर आ गये। तुम नीम के वृक्ष के नीचे बैठ गये। इसी बीच पर्वत की गुफास्थित सिंह ने तुमको देख लिया। पश्चात् लोभ संज्ञा के कारण विपरीत चित्तवृत्ति के कारण से सिंह ने तुमको मार डाला तथा तुमने सिंह को मार दिया। तुम दोनों मृत्यु को प्राप्त करके इसी विजय में श्रीस्थलनामक पट्टण (नगर या स्थान विशेष) में यक्षदासनामक चाण्डाल की मातृयक्षानामक पत्नी के गर्भ में जुड़वां (युगल) भाइयों के रूप में उत्पन्न हुए तथा गर्भ काल की समाप्ति पर तुम दोनों का जन्म हुआ। दोनों के नाम—एक का कालसेन तथा दूसरे का चण्डसेन इस प्रकार से रखे गये। दोनों समयानुसार यौवन को प्राप्त हुए।

तत्पश्चात् दोनों अन्य किसी समय लक्ष्मी पर्वत पर शिकार के लिये गये और एक सूअर का शिकार कर लिया अर्थात् उसे मार दिया। उस सूअर ने निधान प्रदेश के समीप ही प्राणों का त्याग किया था, अतः वहीं अग्नि प्रज्वलित करके तुम दोनों उसका मांस पका कर खाने लग गये। इतने में अपनी कटार को तीखी करके निष्प्रयोजन ही पृथ्वी को खोदते हुए चण्डसेन ने उस जमीन में गड़े हुए धन के खजाने का एक कोना देख लिया। यद्यपि चण्डसेन धन को वापिस छिपाने की चेष्टा करने लगा लेकिन उसे ऐसा करते हुए तुमने देख लिया। इसलिये धन के लोभ से उसने तुम्हारा प्राणान्त कर दिया और तुम मर कर वालुका प्रभानामक नरकभूमि में पांच [illegible] आयुवाले

रकी रूप में उत्पन्न हुए। उधर वह चन्द्रसेन भी धन के लोभ से उस ान को न छोड़ता हुआ कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उस धन ा किंचित् भी उपभोग किये बिना अन्य किसी चाण्डाल दुश्मन के ा मार दिया गया और मर कर तमः प्रभानामक नारक भूमि में ारह सागरोपम की आयुवाले नारकी के रूप में उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् तुम नारकी का आयुष्य पूर्ण करके तथा नरक भूमि से र्तन करके इसी विजय में श्रीमतीनामक किसी छोटी बस्ती में शालि- ामक गृहस्थ की नन्दिनीनामक पत्नी की कुक्षि में पुत्र के रूप में -न्न हुए। कालक्रम से तुम्हारा जन्म हुआ और वहाँ तुम्हारा नाम ालसुन्दर रखा गया। क्रमशः तुम यौवन भाव को प्राप्त हुए।

युवावस्था प्राप्त होने पर शीलदेवनामक मुनिराज के समीप तुमने जो पहिले कभी प्राप्त नहीं किया था, ऐसा जिनेश्वर प्रभु द्वारा प्रणीत धर्म प्राप्त किया अर्थात् उसका श्रवण किया और श्रावक धर्म स्वीकार किया। श्रावक धर्म का परिपालन करके यथा विधि अर्थात् समाधि भावपूर्वक देहत्याग किया और लान्तकनामक देवलोक में तेरह सागरोपम से कुछ न्यून आयुष्यवाले देवता के रूप में उत्पन्न हुए।

उस देवलोक में दिव्य देवलोकसम्बन्धी भोगों का उपभोग करके आयुष्य समाप्त होने पर वहाँ से च्यव कर फिर इसी विजय में हस्तिना- पुरनामक नगर में सुहस्तिनामक नगर सेठ की कान्तिमतिनामक भार्या की कुक्षि में तुम पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। उधर चन्द्रसेन भी तमः प्रभानामक नारक भूमि से निकलकर हस्तिनापुर नगर में ही तुम्हारे पिता की गृहदासी, जिसका नाम सोमिला था—उसकी कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। कालक्रम से दोनों का जन्म हुआ। जन्म होने के पश्चात् तुम्हारा नाम समुद्रदत्त तथा दासी पुत्र का नाम मंगलक रखा गया।

समयानुसार तुम दोनों यौवन को प्राप्त हुए। इस बीच अनंगदेव नामक आचार्य वहाँ पधारे और तुमने उनसे जिनेश्वर-प्रणीत धर्म का श्रवण किया तथा देशविरति (श्रावक धर्म) का स्वीकार भी कर लिया। पश्चात् लक्ष्मीनिलयवासी अचल सार्थवाह नाम के श्रावक की सुपुत्री, जिनमति के साथ तुम्हारा विवाह हो गया।

किसी समय दासी-पुत्र मांगलिक के साथ तुम जिनमति को लाने के निमित्त से लक्ष्मीनिलय को गये। कुछ स्थानों पर रुकते हुए तुम उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ पर वह धन का भंडार गड़ा हुआ था। वह स्थान वृक्षों, लताओं तथा पत्रादि से सघन था तथा यहाँ की भूमि भी गीली थी, अत. तुम थोडे समय के लिये विश्राम करने के लिये वहाँ रुक गये। वहाँ तुमने पामाड़ वृक्ष का पादक-मूल-पृथ्वी से बाहर निकलते देखा। उसे देखकर तुमने विस्मय से मंगलक को कहा–अरे मंगलक! इस स्थान में कहीं न कहीं कुछ धन अवश्य होना चाहिये। मंगलक बोला–यदि तुम कहो तो–'पता लगावें'।

पश्चात् तुमने कहा–रहने दो, मैंने तो मजाक में यों ही कह दिया था, मुझे धन-प्राप्ति का लोभ नहीं है। मंगलक ने उत्तर दिया–तेरे से ज्यादा इस बात की उत्सुकता तो मुझे है, इसलिये देखें तो सही कि वास्तव में है क्या? यद्यपि मंगलक का यह कार्य तुमको रुचिकर नहीं लग रहा था, फिर भी वह तीक्ष्ण लकड़ी से, जो मजबूत थी, खोदने में व्यस्त हो गया। उसने भूमि को थोड़ी ही खोदी थी कि उसे उस भूमि के छोटे से एकान्त प्रदेश में एक कलश-कंठ अर्थात् गले में पहिनने की कंठियों से भरा हुआ घड़ा दिखाई दिया।

तत्पश्चात् पूर्वकृत कर्म लोभ के कारण से मंगलक ने विचार किया कि "यहाँ तो बहुत मूल्यवान् धन-भण्डार है। इस खजाने को तो स्वामी के पुत्र को धोखा देने से ही प्राप्त किया जा सकता है"। इतने में तुमने भी उस कलश-कण्ठ को देख लिया और मंगलक को कहा–ऐ मित्र मंगलक! इस निकम्मे काम को जाने दो, आओ, अपन तो नगर में चलें। तुम्हारी बात को सुनकर यद्यपि धन प्राप्त हो जाने से वह प्रसन्न था, फिर भी उस खोदे हुए खड्डे को पूर कर तुम्हारे साथ जाने के लिये वह तैयार हो गया।

रास्ते में जाते हुए तुमने मंगलक को कहा–मित्र! तुम इस अधिकरणभूत-हिंसाजनक वृत्तान्त को किसी के समक्ष कहना मत। वह बोला–हे स्वामि पुत्र! मैं किसी को भी नहीं कहूँगा। लेकिन उसने मन में विचार किया कि ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे ज्ञात हुए बिना यह अकेला ही इस निधान को हड़प लेना ... है, इसीलिये

इसने मुझे उपरोक्त बात कही है, लेकिन मैं भी इसके द्वारा कैसे ठगा जाऊँ ?

मंगलक ने विचार किया कि श्रेष्ठि पुत्र इसे ग्रहण न करे, इसके पूर्व ही मैं किसी न किसी उपाय से इसे मार डालूँ तो ठीक रहे। ऐसा विचार करते करते दोनों ही नगर में पहुँच गये। नगर के अन्दर कोई बगीचा था, उसके समीप ही तुम रुक गये तथा तुमने मंगलक को अपने पास में बुलाकर कहा–भाई मंगलक ! तू नगर में जा तथा ससुराल के कुछ समाचार प्राप्त करके मुझे कह दे, ताकि बाद में अपने दोनों नगर में प्रवेश करें। स्वामी पुत्र की आज्ञा से मंगलक नगर के लिये रवाना हुआ और जाते जाते विचार करने लगा कि यदि वह नगर में प्रवेश करेगा तो निश्चित रूप से खजाना निकाल लेगा, इसलिये ऐसी कोई युक्ति करूँ, जिससे यह यहाँ प्रवेश न कर सके। मेरे साथ जाते हुए तो यह सुखपूर्वक मारा जा सकेगा, इसलिये उसे ससुराल के समाचार इस प्रकार से जाकर कहूँ–जैसे कि–"तेरी पत्नी ने स्त्री-स्वभाव से कुल-परम्परा के विरुद्ध आचरण किया है तथा अन्य किसी पुरुष के साथ सुखोपभोग कर रही है, इसलिये उसके इस प्रकार के आचरण से तुम्हारा सारा श्वसुर-परिवार अत्यन्त दुःखी हो रहा है और उन्होंने हमारे आने का समाचार भी सुन लिया है, इसलिये तेरे ससुरालवाले सविशेष लज्जित हैं, अतः अब यहाँ प्रवेश करना हमारा उचित नहीं है।"

उपरोक्त विचार मन में पक्का करके उसने नगर में प्रवेश किया तथा थोड़ा समय इधर उधर बिताकर कपट-जन्य उदासीनता तथा दुःख का भाव मुँह पर धारण करता हुआ वह तुम्हारे समीप आया। जैसा उसने मन में विचार किया था, वैसा ही आकर तुमको कह दिया। उसके मुख से ऐसे समाचार सुनकर तुम अत्यन्त विषण्ण हो गए और तुमने विचार किया कि "इस प्रकार के स्त्री-स्वभाव को धिक्कार है, जो इस प्रकार के श्रेष्ठ सागर-कुल में उत्पन्न होकर के भी जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म का सार जानती हुई भी इस लोक तथा परलोक के विरुद्ध-निन्दास्पद कार्य का आचरण करती है"। अथवा मोह भाव को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिये कुछ भी करना कठिन नहीं है। अब भी मुझे गृहस्थाश्रम के धारण करने से क्या लाभ है ? इसलिये

हम तो अब तीर्थंकर भाषित साधु धर्म को ग्रहण कर लेंगे । स्नेह बन्ध का इसी प्रकार से अन्त होता है । आदि

आगे तुमने विचार किया कि अब मुझे घर जाने से भी क्या लाभ है, यहीं से जहाँ आचार्य अनंगदेव हैं, वहाँ चला जाऊँ और यह मंगलक भी यहीं से घर पर चला जाय । इस प्रकार का कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने से क्या लाभ है ? यह सम्पूर्ण विचार जैसा तुमने मन में चिन्तन किया था, मंगलक को कह सुनाया। मंगलक ने उपरोक्त निश्चय सुनकर सोचा–अरे ! यह तो कपटपूर्ण आचरण से मुझे छलने के लिये तैयार हो गया है, मैं भी इसके द्वारा आसानी से कैसे ठगा जाऊँ ? कमसे कम इसे इतना तो कहूँ कि भाई–जब तक तुम निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच जाओ, तब तक मैं तुम्हें बीच में कैसे छोड़ दूँ ? इस प्रकार से कहने पर यह मेरी बात मान लेगा, फिर इसके साथ में कुछ दिन व्यतीत करके इसको अवसर पाकर के मार डालूँगा । इस प्रकार का विचार मन में करके उसने तुमको कहा–और तुमने वापिस प्रत्युत्तर दिया कि मित्र मंगलक ! यदि तेरा ऐसा ही आग्रह है तो तू कहे वैसा ही करें ।

हम लोग साथ में रहते हुए किसी साधु से ऐसा पूछ लेंगे कि आचार्य अनंगदेव कहाँ विराजमान हैं, ऐसा तुमने उससे कहा ।

आचार्य पूर्व जन्म का वृत्तान्त बतलाते हुए कह रहे हैं कि–उपरोक्त विचार करके तुम लोग गन्तव्य मार्ग से विपरीत मार्ग की ओर चल दिये । इस प्रकार से कई दिन व्यतीत हो गये । अन्य किसी समय, अति विषम अरण्य के मध्य भाग में 'महा साहस हो रहा है' ऐसा विचार करके जब सूर्य आकाशरूपी सरोवर में डूब गया है, ऐसा समझकर अत्यन्त क्षुद्र हृदयवाले, लोभ दोष के कारण से वापिस न फिरनेवाले मंगलक ने, अत्यन्त विश्वस्त हृदयवाले तुम्हारी पीठ में छुरी का वार किया ।

इसी समय अनेक साधु मुनिराजों से परिवृत्त आचार्य अनंगदेव सहसा उसी वन-प्रदेश में पधार गये और सबसे आगे चलनेवाले मुनियों ने तुमको देख लिया । साधुओं को सामने से आते देखकर भय के कारण से मंगलक छुरी को छोड़कर भाग गया। तुमने [illegible] कि हा !

यह क्या हो गया ? क्या यहाँ से चोर आ गये ? [illegible]
ओर नजर डाली तो तुमने देखा कि अकस्मात् [illegible]
हुआ मंगलक भागता चला जा रहा है, उसे देखते [illegible]
लिया कि अन्य कोई चोर दिखाई नहीं देता है, यह [illegible],
जो भाग रहा है, तो यह सब क्या है ?

इतना विचार करते ही खून से भरी हुई छुरी [illegible]
तुमने उस छुरी को हाथ में ली तथा तत्काल पहिचान [illegible]
विचार किया कि क्या यह सब मंगलक की करामात ? [illegible]
इस प्रकार का जघन्य कार्य करे, ऐसा कोई कारण [illegible]
देखें, मैं मंगलक को बुलाऊँ, वही इस सम्पूर्ण [illegible]
विचार करके तुमने मंगलक को बुलाया, [illegible]
हो, वैसे वैसे वह ज्यादा जोर से भगने लगा [illegible]
इस बात का पक्का निश्चय हो गया कि [illegible]
उसीने किया है। हाय ! अफसोस है कि [illegible]
और यदि उसीने किया है तो इसने यह [illegible]
गहराई से विचार करते हुए तुम्हें उस [illegible]
का स्मरण हो आया। उसका स्मरण [illegible]
वशीभूत होनेवाले पुरुषों के लिये [illegible]
नहीं होता है, इसलिये लगता है कि [illegible] को
सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह [illegible] में
चाहिये। यदि कल्पित न हो तो [illegible] उत्पन्न
के प्रवचन के सार को सुन्दर [illegible] भी समय
प्रकार के अनाचार का, जो [illegible] राष्ट्रवर्धन
हो, कैसे सेवन कर सकती है ? उसी धनवाले

इतने में वे सभी साधु [illegible] के संस्कार के
तुमको पहिचान लिया, तुमने [illegible] त्पात् लोभ के
ने 'धर्मलाभ' के शब्दों से [illegible] जाना भी
लोगों ने तुम्हें पूछा कि– [illegible] जाना
इसका क्या कारण है ? [illegible]
सुनाया। वृत्तान्त सुनकर [illegible]

इतने में आचार्य अनंगदेव ने भी तुमको देख लिया, तुमने भी उनको वन्दना-नमस्कार किया और उन्होंने 'धर्मलाभ' के शब्दों से तुम्हारा अभिनन्दन किया।

आचार्यदेव ने समाचार पूछे और तुमने सब समाचार कह दिये। पश्चात् गुरुदेव ने तुमको अनेक प्रकार से आश्वस्त किया। पश्चात् तुम साधुओं के गच्छ के साथ निकले और थानेश्वरनामक एक छोटे गाँव में पहुँचे। वहाँ आचार्य अनंगदेव अपने शिष्य-परिवार के साथ एक मास तक रुके और इधर शनैः शनैः तुम्हारा छुरी का घाव भी ठीक हो गया और जिनमतिसम्बन्धी यथार्थ समाचार भी तुम्हें ज्ञात हो गये।

जिनमतिसम्बन्धी वास्तविक समाचार सुनकर तुम्हें विचार आया कि अहो! मगधक की ठगने की विद्या कैसी है, अहो! मोह की ऐसी विचित्रता? और संसार इतना निरुपयोगी तथा त्याज्य है? इसलिये यद्यपि जिनमति अखण्ड शीलवती (पतिव्रता) है, फिर भी अब मुझे गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन? अब तो दोनों लोकों के लिये लाभदायक, ऐसे इष्ट कार्य (धर्म) की साधना करना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। उसने भी जिन-प्रणीत धर्म का सार अच्छी तरह से समझ रखा है, अतः वह भी मेरे कार्य का अनुसरण ही करेगी और मेरे अनुरूप विचार वाली ही है।

ऐसा करने पर वह बेचारी जिनमति भी इस दुःखपूर्ण संसार-सागर से पार लग जायेगी। अब अदीक्षित अवस्था में उसके दर्शन करने से भी क्या लाभ? क्यों कि चारित्र प्राप्ति में अनेकों विघ्न आते हैं। (यदि जिनमति को पहिले ज्ञात हो गया तो शायद दीक्षा न लेने देवे) वास्तव में संयम ही वास्तविक सुख का देनेवाला है, ऐसा विचार करके तुमने अनंगदेव आचार्य के समीप ही दीक्षा धारण कर ली।

दीक्षा धारण किये को काफी समय व्यतीत हो गया। तुम्हारे दीक्षा धारण करने का वृत्तान्त जिनमति को भी कहीं से प्राप्त हो गया और पश्चात् उसे भी वैराग्य भाव जागृत हो गया। उसने विचार किया कि—पतिदेव (आर्यपुत्र) ने अच्छा किया, वस्तुतः यह संसार अनेक कष्टों से परिपूर्ण है और संयोगों का [illegible] ही होता है

एवं विषय भोगों का परिणाम महान् भयंकर होता है और इस मनुष्य भव में जिनमत की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है तथा धर्म ही उभयलोक में सुखावह है। इस प्रकार का वैराग्यपूर्ण विचार करने के पश्चात् उसने अपने माता पिता को समझाया और उनसे दीक्षा की आज्ञा प्राप्त की, तथा उस स्थान को खोजते खोजते आ पहुँची जहाँ तुम थे।

उसने आते ही तुमको देखा, तुम्हें मोक्षपुरी के लिये तैयार ऐसी अवस्था में देखकर वह बोली–आर्यपुत्र ! आपने बहुत अच्छा किया। आपने मोहरूपी लता को नष्ट कर दिया और महान् पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन लिया एवं आपने अपने साथ साथ मेरा भी इस संसार से उद्धार कर दिया। इस प्रकार से अपने पति के कार्यों का अभिनन्दन करके उसने भी अनगदेव गुरु के समीप ही दीक्षा धारण कर ली।

इस प्रकार से तुम दोनों को संयम पालते हुए काफी समय व्यतीत हो गया और विशुद्ध संयम का पालन करके काल-क्रम से तुम मृत्यु को प्राप्त करके पच्चीस सागरोपम की आयुवाले ग्रैवेयक देवता के रूप में उत्पन्न हुए और उधर वह मंगलक भी जाकर उस निधानवर्ती धन को ग्रहण करके, मोटी मोटी शिलाओं से उसे आच्छादित करके, उस पर अत्यन्त ममत्व का भाव रखता हुआ वहीं रहने लगा तथा मांसाहार करते हुए अत्यन्त कष्टपूर्वक जीविका चलाता था। वह शेषायु जीवित रहकर और कालक्रम से मृत्यु प्राप्त करके बावीस सागरोपम के आयुवाली तम.प्रभानामक नरक भूमि में नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् अत्यन्त कष्टपूर्वक तम प्रभा नरक भूमि के आयु को पूर्ण करके वह मंगलक, इसी विजय में राष्ट्रवर्धनकनामक गाँव में वेल्लिलकनामक चाण्डाल के घर में बकरे (बोकड़ा) के रूप में उत्पन्न हुआ। वह बकरा काफी बड़ा (जवान) हो गया। अन्य किसी समय अनेक बकरों के साथ में उस बड़े बकरों को भी वह चाण्डाल राष्ट्रवर्धन से जयस्थल की तरफ ले जा रहा था और जाते जाते उसी धनवाले स्थान पर पहुँच गया। उस स्थान को देखकर पूर्व जन्म के संस्कार के कारण से उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तत्पश्चात् लोभ के कारण से आकर्षित वह बकरा उस स्थान से अन्यत्र कहीं जाना भी नहीं चाहता था। चाण्डाल बार बार उसे अन्य स्थान पर ले जाना चाहता

था, लेकिन वह वापिस नहीं आ जाता था। माणभद्र उसके इस व्यवहार से अत्यन्त क्रोधित हुआ तथा उसने उसे मार डाला। वह मरकर उसी निधान के समीप चूहे के रूप में उत्पन्न हुआ। उस चूहे ने ओघ संज्ञा से—अनुपयोगपूर्वक, उस धन पर ममत्व भाव रखना शुरु किया और इस ममत्व भाव को काफी समय तक बनाये रखा।

अन्य किसी समय सोमचण्डनामक द्यूताचार्य-जुआरियों का राजा घूमता हुआ उस स्थान पर आ पहुँचा और शाल्वृक्ष के समीप बैठ गया। सोमचण्ड को वहाँ बैठा हुआ देखकर अज्ञान तथा लोभ के कारण से मानों क्रोधित हो रहा हो, इस प्रकार से उसके सामने चूहे ने प्रदक्षिणा करना शुरु कर दिया, यह देखकर सोमचण्ड ने चूहे को मार डाला। मर कर यह उसी जुआरी की बिना नाक-कानवाली दुर्गुलिका नामक पत्नी की कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। गर्भकाल समाप्त होने पर उसका जन्म हुआ और वहाँ उसका नाम रुद्रचण्ड रखा गया। शनैः शनैः रुद्रचण्ड, अनेक व्यक्तियों के लिये क्लेशदायक विष वृक्ष की भाँति यौवन को प्राप्त हुआ और असमंजस-विषय व्यवहार करने लगा।

अन्यदा कदाचित् किसी के घर पर सेंध लगाता हुआ वह पकड़ा गया। लोग उसे समरभागुरनामक राजा के पास ले गये। राजा ने उसे मार डालने की आज्ञा दी। राजाज्ञा का पालन करनेवाले—कोतवाल आदि लोगों ने उसे शूली पर चढ़ा कर चीर डाला। वह रुद्रचण्ड वहाँ से मृत्यु को प्राप्त करके शर्कराप्रभानामक नरकभूमि में कुछ कम तीन सागरोपम की आयुवाले नारक के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ उपरोक्त आयु को भोगकर मृत्यु को प्राप्त होकर वहाँ से उद्वर्तन करके इसी विजय में और इसी लक्ष्मीनिलयनामक नगर में अशोकदत्त श्रेष्ठि की शुभंकरानामक पत्नी की कुक्षि में स्त्रीरूप में उत्पन्न हुआ। यथाकाल उसका जन्म हुआ तथा उसका नाम श्रीदेवी रखा गया। वह श्रीदेवी यथा समय यौवन को प्राप्त हुई तब उसका विवाह सागरदत्त सार्थवाह के पुत्र समुद्रदत्त के साथ कर दिया गया। वे दोनों पतिपत्नी सुखपूर्वक सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगे।

इसी समय तुम ग्रैवेयक देवलोक में से च्यव करके श्रीदेवी की कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुए। कालक्रम से तुम्हारा जन्म हुआ और

तुम्हारा नाम सागरदत्त रखा गया। तुम युवावस्था को प्राप्त हुए। पश्चात् देवशर्मानामक आचार्य से प्रतिबोध प्राप्त किया और ईश्वरस्कन्दनामक श्रावक की नन्दिनीनामक पुत्री के साथ तुम्हारी शादी कर दी गई। अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करते हुए तुम्हारे पुत्र हुआ।

अन्य किसी समय तुम पुत्र-जन्मोत्सव के निमित्त से सपरिवार इसी निधानवाले स्थान की किसी वाटिका में आये। पुत्र की नाल (पुत्रध्वज) को गाड़ने के लिये तुम एक खड्डा खोद रहे थे, इतने में उस निधान-कलश के छोर के एक भाग को तुमने देख लिया। उस समय तो पुत्र की नाल को तुमने अन्यत्र स्थापित कर दिया और उस स्थान को उस समय यों ही एक समान कर दिया और भोजनादि करके नगर में प्रवेश किया। तुमने विचार किया कि इस सम्बन्ध में अब क्या करना चाहिये, मैं अपनी माता से प्रथम परामर्श कर लूँ ?

ऐसा विचार करके सारी घटना तुमने माता को कह सुनाई और पूछा कि क्या करना उचित है ? माता बोली-पहिले मुझे वह स्थान बतला दे, फिर उसे देखकर जो कुछ करना उचित होगा, मैं बतला दूँगी। तुमने माता की आज्ञानुसार वह स्थान माता को बतला दिया। अज्ञान तथा लोभ-वृत्ति के कारण से उसने विचार किया कि मैं इस पुत्र को ही मार डालूँ बाद में मैं अकेली ही इसे ग्रहण कर लूँगी। ऐसा मन में विचार करके उसने तुमको कहा-पुत्र ! यह धन बहुत ज्यादा है, यदि हम इसे निकाल कर घर पर ले जायेंगे और राजा को विदित हो जायेगा तो नहीं वह शायद इसके साथ अपना धन भी अपहरण न कर ले, इसलिये इसे अभी ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं। कोई मौका देख कर इसे ले जायेंगे। माता के इस उत्तर को सुनकर तुमने कहा-'जैसी माता की आज्ञा'।

ऐसा कह कर तुम दोनों माता-पुत्र नगर में चले गये। इसके बाद तुम्हारे कई सारे दिन सुखपूर्वक व्यतीत हुए लेकिन तुम्हारी माता के पूर्व जन्म के संस्कार तथा लोभ-वृत्ति के कारण से, वह तुमको मारने का उपाय सोचने में ही सदा चिन्ताग्रस्त रहती थी, इस कारण से उसका समय दुःखपूर्वक व्यतीत हो रहा। धीरे धीरे उसने तुमको मारने का उपाय इस प्रकार से सोचा कि अब यह पौषधयुक्त उपवास करें,

तब पारणा करते समय भोजन में इसे मिला दे दूँ क्योंकि उपवास करने से हलके शरीरवाले को विष का असर जल्दी होता है, ऐसा सोचकर उसने तुमको विष दे दिया और विष तुम्हारे शरीर में व्याप्त हो गया।

यह सब हाल तुम्हारी पत्नी नन्दिनी ने देख लिया और जोर से शोर किया। उसके शोर करने पर तुम्हारी माता उससे ज्यादा जोर से रुदन तथा विलाप करने लगी। यह सब सुनकर लोगों की भीड़ वहाँ जमा हो गई तत्पश्चात् एक सिद्ध पुत्र ने अर्थात् जिसे मंत्र-विद्या सिद्ध थी, उसने विष को दूर करने की मंत्र-शक्ति से, यह मेरा 'साधर्मिक'—सहधर्मी है, ऐसा विचार करके तुम्हें जीवित कर दिया, अर्थात् तुम्हारी जीवन-रक्षा की।

यह स्थिति देखकर तुम्हें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि यह संसार अनेक उपद्रवों का उत्पत्ति स्थान तथा यहाँ मनुष्यों का जीवन बड़ा कष्टमय है, इसलिये अब ज्यादा समय गृहवास में रहने से क्या लाभ? कहीं प्रमाद के कारण से फिर कभी इस प्रकार से प्राणों का नाश न हो जाय, इस आशंका से तुमने दीक्षा लेने का विचार किया और ऐसा विचार किया और ऐसा विचार करके देवशर्मा गुरु के समीप तुमने दीक्षा स्वीकार कर ली। विशुद्ध रीति से संयम का पालन करके, आयुष्य पूर्ण करके तीस सागरोपम की आयुवाले ग्रैवेयक देवता के रूप में तुम उत्पन्न हुए और तुम्हारी यह माता उस धन के लोभ से आकृष्ट होकर वहीं अपने हाथ से निम्बकोश में पोटिका (चबूतरा) बनाकर पुत्र का वध करने के परिणाम से उत्पन्न नरकायु का बन्ध कर उस धन का उपभोग किये बिना ही मरकर धूम प्रभानामक नरक भूमि में पन्द्रह सागरोपम की आयुवाले नारक के रूप में उत्पन्न हुई। वहाँ से निकलकर अनेक तिर्यंच योनियों में परिभ्रमण करके पूर्व जन्म के अभ्यासवाले लोभ दोष के कारण से यहाँ पर नारियल के झाड़ के रूप में उत्पन्न हुई। तुम ग्रैवेयक देवलोक का आयुष्य पूर्ण करके सागरदत्त सेठ की श्रीमतीनामक पत्नी की कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो। इस समय तुम दोनों की यह स्थिति है और यही इस विषय का पूर्ण वृत्तान्त है।

आचार्य के श्रीमुख से उपरोक्त सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर मुझे

वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया और संसाररूपी जेलखाने से मेरा मन विरक्त हो गया। आचार्य भगवान के समक्ष उस राजा के पास से उस द्रव्य को लेकर और पुण्य कार्यों में उसका व्यय करने की आज्ञा प्राप्त की, राजा ने वैसी आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् उस धन को निधान स्थान से निकाल कर सभी दु:खी प्राणियों को प्रदान करके विजयधर्म गणधर के समीप मैंने दीक्षा ग्रहण कर ली।

सितिकुमार ने कहा–भगवन् ! जैसा आप कहते हैं, वही सत्य है। वास्तव में संसार ऐसा ही है। आप धन्य हैं, जो इस प्रकार से आपने दीक्षा धारण कर ली है। अब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि भगवान दानादि भेदवाला जो धर्म फरमाया है, वह कितने प्रकार का है ? आचार्य भगवान बोले– सुनो–

विविध प्रकार की भावनाओं से युक्त धर्म चार प्रकार का है– दान, शील, तप तथा भावना। देवता लोग तथा नरेन्द्र भी जिनको नमस्कार करते हैं, ऐसे जिनेश्वरों ने उपरोक्त धर्म कहा है। दान तीन प्रकार का होता है–ज्ञानदान, अभयदान, तथा धर्म में उपकार करनेवाले तथा धर्म में सहायक पदार्थ का दान। इन तीनों में से प्रथम ज्ञानदान का कथन संक्षेप से करता हूँ।

ज्ञानदान–जिस दान के देने से जीव बन्ध तथा मोक्ष का ज्ञाता बनता है और मोक्ष के सुखरूपी सम्पत्ति के लिए जो बीजभूत–मूल कारण होता है, वह ज्ञानदान कहलाता है। उस ज्ञानदान के देने से समग्र पुण्य तथा पाप के स्वरूप को, पाप से निवृत्ति तथा पुण्य में प्रवृत्ति करने को सम्यक् प्रकार से जानकर पुण्य में प्रवृत्त होता हुआ शीघ्र ही मनुष्यलोक तथा देवलोक के सुखों को प्राप्त कर लेता है और नरक तथा तिर्यंच योनिसम्बन्धी दुखों से मुक्त हो जाता है।

तिर्यंच योनी, मनुष्य योनी, असुर तथा सुरों का जो सुख होता है, वह सब प्रयत्नपूर्वक ज्ञान-दान देने से प्राप्त होता है। इसके सिवाय विशाल-मोक्ष का सुख भी परम्परा से ज्ञान-दान से प्राप्त किया जा सकता है। हे सुन्दर ! जिस निर्मल ज्ञान से ऐसा मोक्ष का सुख प्राप्त किया जा सकता है एवं इस लोक में तथा परलोक में जिस ज्ञान का दान देने से जीव सुख प्राप्त करता है, वह श्रेष्ठ दान है।

जो सर्वज्ञ भाषित ऐसे उत्तम ज्ञान का स्पष्ट दान करता है, वह सभी जीवों को इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी सभी सुखों का दान करता है, ऐसा समझना चाहिये । ज्ञान-दान करने से जीव अनुक्रम से वीतराग तथा बाद में सर्वज्ञ हो जाता है, इसी प्रकार मनुष्यों, असुरों तथा देवों के द्वारा पूजित होकर वह क्रम से सिद्धि को भी प्राप्त करता है । हे सुन्दर ! इस प्रकार से संक्षेप में ज्ञान-दान का स्वरूप कहा गया है, जो दान दाता के लिये तथा ग्रहण करने के लिये एकान्त रूप से हितकारक जानना चाहिये ।

अभयदान–पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन तथा वनस्पति कायिक जीवों की बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवों की मन, वचन तथा काया के योग से हिंसा न करना अभयदान कहलाता है, ऐसे श्रेष्ठ अभयदान का आचरण साधु जन कर सकते हैं । संसार के सभी प्राणी दुःख से परिपूर्ण होते हुए भी जीवित रहना चाहते हैं, इसलिये जीवदया में कुशल व्यक्ति को, उन प्राणियों को जो प्रिय हो, वही करना चाहिये । जैसे कोई राजा के समक्ष अकस्मात् मरण का प्रसंग उपस्थित हो जावे तो वह जीवित रहने के लिये अपने राज्य का भी त्याग करके जीवित रहना पसन्द करता है, क्योंकि उसे जीवन ही इष्ट है, इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि अभयदान की आवश्यकता हो उस प्राणी को प्राण-दान दे, परलोक में सुख की इच्छा रखनेवाले प्राणी को अभयदान ही देना चाहिए ।

अभयदान देने से जीव जन्मान्तर में दीर्घायु, स्वरूपवान् तथा नीरोग होता है तथा सकल लोक के द्वारा प्रशंसित होता है । हे श्रावक ! दुर्जय अष्ट कर्मों का विदलन करनेवाले, देवताओं तथा नरेन्द्रों के द्वारा वन्दित जिनेश्वरों ने अभयदान का उपरोक्त स्वरूप बतलाया है ।

धर्मोपग्रहदान–पांच महाव्रतधारी, रात्रि भोजन के त्यागी ऐसे संयमी पुरुषों को नवकोटि विशुद्ध तथा संयम-धर्म के अनुरूप (अविरुद्ध) द्रव्य का जो दान दिया जाता है वह दान धर्मोपग्रह अर्थात् धर्म-पालन करने में सहायक दान कहलाता है ।

बुद्धिशाली व्यक्ति साधु को समुचित, अशन-आहार पानी, वस्त्र,

मान, कीर्ति, ख्याति, प्रशंसा तथा स्तवनादि देवे। जो स्वाध्याय तथा ध्यान में सदा तत्पर रहते हों, ज्ञानावरण के क्षयोपशम की मात्रा से विशेष हों तथा संयम के भार को धारण करते हों, ऐसे साधुओं को धर्मोपदेश दान दिया जाना चाहिये। इस दान के द्वारा आत्मा उज्ज्वल होता है। ऐसे साधु दुरितरूप कर्मों की परम्परा से स्वयं संसार से तिर जाते हैं तथा दूसरों को भी तार देते हैं। जो स्वयं कर्मों के भार से युक्त होता है, वह स्वयं भी तिर नहीं सकता है तो दूसरों को कैसे तार सकता है?

जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा उपदिष्ट दायक शुद्धि, पात्र शुद्धि, द्रव्य-शुद्धि तथा भाव शुद्धि इन चारों शुद्धियों से विशुद्ध दान देने से दान में विशेषता आ जाती है।

दायक-शुद्ध दान—ज्ञान सम्पन्न-विवेकशील, आठ प्रकार के मद से रहित तथा दान देते समय श्रद्धा के कारण से रोमाञ्चित शरीरवाला दाता जो न्यायोपार्जित, अचित्त-कल्पनीय तथा लोक में अविरुद्ध तथा अनुकूल वस्तु का इस लोक तथा परलोकसम्बन्धी किसी प्रकार की आशा अपेक्षा से रहित तथा एक मात्र निर्जरा की भावना से जो दान देता है, वह दायक शुद्ध दान कहलाता है। जिस प्रकार से उपजाऊ भूमि में बोया हुआ बीज बहुत फल देनेवाला होता है इसी प्रकार से सुपात्र व्यक्ति को दिया गया वह दान भी जो उपरोक्त गुणों से युक्त है, मनुष्य लोक की, देवलोक की तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति में भी इसी सम्पत्ति के सुख की प्राप्ति में भी सहायक होता है।

जो दान अपनी यश: कीर्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से, अभिमान से अथवा ईर्ष्या के कारण से "यह देता है, इसलिये मैं भी क्यों न देऊँ" ऐसे भाव से तथा बिना श्रद्धा-भाव से दिया जाता है वह श्रद्धारूपी जल से रहित बीज के समान फलप्रद नहीं होता है। अज्ञान तथा मोह से दूषित चित्तवाले पुरुष यदि बहुत दान भी दें तो उन्हें वैसा उत्तम फल नहीं मिल सकता है। प्राणियों का घात करके जो धर्म श्रद्धा से दान देता है, उसका दान चन्दन को जलाकर कोयले का व्यापार करने के समान होता है। इसके अतिरिक्त जो मूर्ख पुरुष लोक-विरुद्ध तथा धर्म-विरुद्ध दान देता है, वह अपने को तथा दान ग्रहण करनेवाले को, दोनों को अनन्त संसार में गिरा देता है।

इस प्रकार का उत्तम शील धर्म जिन्होंने दुर्जय राग-द्वेष के ऊपर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे श्रेष्ठ गुण स्वरूप जिनेश्वरों ने, हे श्रावक ! प्रतिपादित किया है ।

तपोधर्म–अब तपोधर्म का कथन किया जाता है, वह आभ्यन्तर तथा बाह्य के भेद से दो प्रकार का है तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से किया जाता है, जिसका विस्तृत स्वरूप निम्न प्रकार है– बाह्यतप छः प्रकार का होता है–अनशन, ऊनोदरिका, वृत्ति संक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश व संलीनता । इसी प्रकार से आभ्यंतर तप भी छः प्रकार का होता है–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा उत्सर्ग ।

उपरोक्त तप की आराधना करके जीव ऐहलौकिक तथा पारलौकिक विशाल सुखों को प्राप्त करते हैं तथा सांसारिक दुःखों का क्षय करते हैं । इस प्रकार से तपोधर्म का संक्षेप से कथन किया गया ।

भावना धर्म–हे श्रावक ! तपोमय धर्म के वर्णन के पश्चात् अब भावना-धर्म का स्वरूप सुनो, जो निम्न प्रकार है–

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के प्रति सम्यक् श्रद्धारूप भावना धारण करना, वैराग्य भाव में स्थित होना, तीर्थंकरों की भक्ति करना, संसार से घृणा करना, काम-वासनाओं से विरक्ति रखना, तीर्थंकरभाषित धर्म की नित्य प्रभावना करना, मोक्ष के सुख में राग रखना, अनायतनों का वर्जन करना‡ अपने आत्मा की सदा निन्दा करना, कहीं किञ्चिन्मात्र भी स्खलना हुई हो तो गुरु साक्षी से उसकी गर्हा व पश्चात्ताप करना भावनाधर्म कहलाता है । भयंकर संसाररूपी अरण्य को जलाने के लिये दावानल के समान उपरोक्त भावना-धर्म का अनन्त ज्ञानी जिनेश्वरों ने निरूपण किया है ।

हे सुन्दर ! इस प्रकार से जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट उपरोक्त चार प्रकार के धर्म का स्पर्श करके–आराधना करके अनन्त जीव शाश्वत सुखवाले मोक्ष को प्राप्त हुए हैं । १०-७०

---

‡ अनायतन–वेश्या, जुआरी, श्मशानी, चोर तथा नपुंसक आदि के रहने के स्थान तथा पतित साधुओं के रहने के स्थान को अनायतन कहते [illegible] हलाता है । [illegible] बन्त, बहुश्रुत तथा चारित्र व आचार से सम्पन्न [illegible]

इस प्रकार से दान, शील, तप तथा भावनामय जैन धर्म का पवित्र ज्ञान प्राप्त करके शिखिकुमार को सम्यक्त्व प्रकट हो गया और वह बोला–भगवन् ! धर्म का स्वरूप, जैसा आपने कहा, वैसा ही है, इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है, लेकिन दान-मय धर्म को छोड़कर शेष धर्मों का आचरण गृहस्थ के द्वारा पूर्ण रीति से किया जाना संभव नहीं है, इसलिये हे प्रभो ! कृपा करके कहिये कि किस प्रकार का पुरुष, महापुरुषों के द्वारा सेवित, सम्पूर्ण दुःखरूपी अग्नि को शान्त करने के लिये शीतल जल के समान, सिद्धिरूपी वधू के साथ संगम करने के एकमात्र कारणभूत श्रमणधर्म के लिये योग्य कहा जा सकता है ?

आचार्यदेव ने फरमाया–श्रमणत्व के लिये योग्य वह होता है जो आर्यदेश में उत्पन्न हुआ हो, विशिष्ट जाति या कुलवाला हो, जिसने कर्मरूपी मल को क्षीणप्रायः कर दिया हो, अत्यन्त निर्मल बुद्धिवाला हो, इसके साथ साथ जिसने संसार के स्वरूप को भली भाँति समझ लिया हो, जैसे कि–"मनुष्यत्व प्राप्त करना दुर्लभ है, संसार में जन्म धारण करना ही मृत्यु का निमित्त है, सांसारिक सम्पत्तियाँ अस्थिर-चंचल हैं, काम-भोग एकमात्र दुःखों के कारण हैं, जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग है, प्रति-समय प्राणी को मृत्यु की प्राप्ति होती रहती है (आवीचिमरण), कर्मों का फल अत्यन्त कठोर होता है"। इस प्रकार से संसार के स्वरूप को जान लेने के पश्चात् जिसे वैराग्य भाव उत्पन्न हो जावे, जिसने कषायों को पतले (क्षीण) कर दिये हों, जो [illegible] हो, [illegible] से रहित हो, विनीत हो, [illegible] [illegible] हो, [illegible] के लिये योग्य हो सकता है।

यह सुनकर शिखिकुमार बोला–भगवन् ! [illegible]

आचार्य भगवान ने विचार किया कि—यह महा भाग्यशाली सूक्ष्म प्रश्नों को करने में अत्यन्त विचक्षण है, अत्यन्त प्रशान्तरूपवाला है, चातुर्यपूर्ण वाक्कला में भी निपुण दिखलाई देता है, इसलिये अवश्य ही यह किसी बड़े कुल में उत्पन्न हुआ तथा जन्म से ही विरक्त भाव से युक्त होना चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि इसे ग्रहण करने का यह उचित समय है, इसलिए इसे ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसा विचार कर आचार्य भगवान बोले—हे महाश्रावक ! उपरोक्त गुणों के सिवाय अन्य भी कुछ गुण हैं, जिनसे हीन (रहित) व्यक्ति श्रमणत्व के लिए अर्पित नहीं हो सकता है। यों तो स्वभाव से निर्गुण (असार) इस संसार में श्रमत्व ही एकमात्र सार है लेकिन यह श्रमणत्व अत्यन्त दुष्कर है।

इस श्रमणत्व में प्रतिक्षण शत्रु तथा मित्र के समभाव धारण करना, प्राणातिपात का त्याग करना, अप्रमत्त भाव से सत्य भाषण करना, दन्त साफ करने की 'सोनरणी' जैसी सलाई भी बिना दिए ग्रहण न करना, मन, वचन तथा काया से ब्रह्मचर्य का पालन करना, वस्त्र, पात्र तथा धार्मिक उपकरणों के साथ भी निर्ममत्व भाव रखना, चारों प्रकार के आहार का (अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम) रात्रि में खाने का त्याग करना, उद्गम, उत्पादना आदि एषणा समिति से विशुद्ध आहार का ग्रहण करना, संयोजनादि मण्डल पाँच दोषों से रहित तथा प्रमाणोपेत आहार नियमित समय पर करना, पाँच समिति तथा तीन गुप्तियों का दृढ़ता से पालन करना, ईर्यासमितिपूर्वक बारह भावनाओं की आराधना करना, अनशन, प्रायश्चित्त तथा विनयादि बाह्य तथा आभ्यन्तर तपों का जो विधान शास्त्रों में है, उसका सेवन करना, मासिक प्रतिमादि अनेक प्रतिमाओं का यथाविधि धारण करना, अनेक प्रकार के द्रव्यों का कठोर अभिग्रह धारण करना, जीवनपर्यन्त स्नान नहीं करना, भूमि पर सोना, केशलोंच करना, शरीर सौन्दर्य की दृष्टि से निरपेक्ष रहना, सदा सर्वदा आचार्य या गुरु की आज्ञा का पालन करना, क्षुधा, पिपासादि अनेक प्रकार के परीषहों को समभाव से सहन करना, देवमनुष्यादि-कृत विघ्न उपसर्गों पर भी विजय प्राप्त करना, तपस्वी जीवन के निर्वाह के लिए कोई वस्तु मिले या न भी मिले तो धैर्य धारण करना, (आदि अनेक प्रकार का साधु धर्म है,) विशेष क्या ?

अत्यन्त कष्टपूर्वक जो धारणा किया जा सकता है, ऐसे शील को
जिन महापुरुषों ने वीरतापूर्वक धारण किया है, उस शील के अठारह
हजार (शीलांगो) अंगो का भार अविश्रान्त रूप से धारण करने के
समान यह श्रमणत्व है। यह श्रमणत्व दोनो हाथो से महासमुद्र को
तिरने के समान, बिना स्वादवाली बालुका के ग्रास खाने के समान,
तीक्ष्ण धारवाली तलवार पर चलने के समान, भयकर जलती हुई अग्नि-
शिखा का पान करने के समान, सूक्ष्म पवन से कुशूल (थैली) को भरने
के समान, गगा के तीव्र प्रवाह के विपरीत चलने के समान, तराजू में
मेरु पर्वत को तोलने के समान, एकाकी (अकेले) ही चतुरगिणी सेना
पर विजय प्राप्त करने के समान, विपरीत दिशाओ में भ्रमण करती
हुई पुतली को आठ चक्रों के बीच से बाण से विद्ध करने के समान तथा
अपूर्व त्रिभुवन पताका ऊपर विजय प्राप्त करने के समान यह श्रमणत्व
है। इस प्रकार से उपरोक्त उपमाओ से साम्य रखता हुआ यह श्रमणत्व
अत्यन्त दुष्कर है।

श्रमणधर्म का अनेक उपमाओं से युक्त उपरोक्त विशद विवेचन
सुनकर प्रसन्न मुखकमलवाले शिखिकुमार ने कहा—भगवन् आपका कथन
सर्वथा सत्य है, लेकिन जिसने ससार के स्वरूप को जान लिया है तथा
उसे छोड़ने के लिये जो कटिवद्ध (तत्पर) हो गया है, उसके ससार का
उच्छेद करना कठिन नहीं है ?

आचार्य भगवान बोले—तुम्हारा कथन ठीक है, किन्तु संसार का
स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से खराब समझते हुए भी पूर्व के अनेक भवो के
अभ्यास से जीव वापिस मोह-भाव को प्राप्त हो जाता है, उस समय
मोहान्ध प्राणी उसके स्वरूप का चिन्तन नहीं करता है, भविष्य के परि-
णाम की भी परवाह नही करता है, दूसरों के उपदेश को मानता नहीं
है, गुरु का अभिनन्दन नही करता है, अपने कुल का भी विचार नही
करता है, धर्म की आराधना नहीं करता है, अपकीर्ति से डरता नही है,
लोकनिन्दा की (लोकापवाद) रक्षा नही करता है, सदा वैसा ही आच-
रण करता है, जिससे इहलोक तथा परलोक में क्लेश का पात्र होता
है। इसलिये इस मोह का ही नाश करना चाहिये।

शिखिकुमार बोला—भगवन् ! उसको नष्ट करने का यह

मात्र उपाय हैं, जो पुरुष कार्य का आरंभ नहीं करता है वह फल भी प्राप्त नहीं कर सकता है, और यदि आरंभ कर देता है तो भी फल-प्राप्ति में सन्देह हो जाता है, अथवा कार्य में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति निःसंशय रूप से कार्य में सिद्धि प्राप्त कर लेता है। और कार्य में प्रवृत्ति (उपाय) यही है कि आपश्री के चरणों में श्रमणत्व का अंगीकार। कभी कभी कायर पुरुष भी जहाज तथा जहाज चालक (कप्तान) के प्रभाव से संसाररूपी समुद्र को सम्पूर्ण रूप से तैर जाते हैं। अल्प पुण्यवालों को इस प्रकार की कल्याण बुद्धि जागृत नहीं होती है और कदाचित् कल्याण बुद्धि प्रकट हो भी जाय तो भी ऐसे सम्पूर्ण गुणरूपी सम्पत्तियों से परिपूर्ण गुरु की प्राप्ति होनी दुष्कर है, इसलिये हे गुरुवर्य ! कृपा कर मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये। आचार्य श्री बोले-वत्स ! मैंने तो तुम्हारे ऊपर अनुग्रह कर दिया है, लेकिन यह हमारी शास्त्रीय मर्यादा है कि हम नये व्यक्ति को थोड़ा शास्त्रीय अर्थ का कथन करके, आवश्यक सूत्र की शिक्षा देकर के तथा कुछ दिन अपने पास रख करके, इस प्रकार से कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर फिर दीक्षा देते हैं।

शिखिकुमार बोला-भगवन् ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ, आपने बड़ी कृपा की है। अब मैं संसार से निकल कर दीक्षा लेने ही वाला हूँ, तो मुझे शास्त्र-मर्यादा का पालन अवश्य करना ही चाहिये। इसलिये यही किया जाय।

इस प्रकार से आचार्य श्री तथा शिखिकुमार परस्पर मन्त्रणा कर ही रहे थे कि इतने में शिखिकुमार के वैराग्यादि की प्रवृत्ति के समाचार कहीं से सुनकर अनेक लोगों से परिवृत्त, हथिनी पर आरूढ़ उसके पिता ब्रह्मदत्त वहाँ आ गये। उन्होंने आकर विजयसिंह आचार्य को नमस्कार किया तथा आचार्यश्री ने धर्मलाभ के द्वारा उनका अभिनन्दन किया। वे आचार्यश्री के चरणों के समीप बैठ गये। उनको प्रणाम करके शिखिकुमार बोला-तात ! किसी की कोई प्रार्थना को अस्वीकार न करनेवाले आप मेरी एक प्रार्थना सम्पादित कीजिए। ब्रह्मदत्त ने कहा-वत्स ! अपनी प्रार्थना कहो। यह जीवन तेरे आधीन [illegible] है।

शिखिकुमार बोला-तात ! आप तो [illegible] भली

प्रकार से जानते हैं। निश्चय ही मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है, प्रियजनों के समागम भी अनित्य हैं, सम्पत्तियाँ चञ्चल हैं, मनुष्य का यौवन पुष्प के समान क्षणिक है और कामदेव मनुष्य के परलोक को नष्ट कर देता है, विषय-वासनाओं का फल अत्यन्त भयंकर है और जिसका कभी निवारण नहीं किया जा सकता है, ऐसी मृत्यु सदा तैयार रहती है, ऐसी स्थिति में मेरे ऊपर कृपा कीजिए। ऐसे इस संसार से जिसका अन्त सदा दुखद है, मैं, आपकी आज्ञा प्राप्त करके वीतराग प्रभु द्वारा प्रणीत जैन धर्म का पालन-आराधन करके अपना जीवन सफल बनाना चाहता हूँ।

पुत्र का इस प्रकार का प्रस्ताव सुनकर के वाष्पजल (अश्रुजल) से जिसके नेत्र भर गए हैं, ऐसा ब्रह्मदत्त गद्गद स्वर से बोला-पुत्र! तुम्हारे लिये श्रमणत्व धारण करने के लिये यह समय उचित नहीं है। शिखिकुमार बोला-जिस प्रकार से मृत्यु के लिये कोई समय अकाल नहीं है, उसी प्रकार से श्रमणत्व के लिए कोई समय अकाल नहीं है।

पिता-पुत्र की इस प्रकार की बातचीत चल रही थी, इसी समय ब्रह्मदत्त का एक सेवक जिसका नाम पिंगकेश था, तथा जो नास्तिक था, कुमार से बोला-हे कुमार! तुमको किसने बहका दिया है? वास्तव में इस संसार में पाँच भूतों के सिवाय, जीवनामक कोई पदार्थ, जो परलोक में जाता हो, है ही नहीं। पाँचों भूत ही स्वभाव से ऐसी ऐसी परिणति करते हैं, कि लोग इनकी विविध प्रकार की प्रवृत्तियों से लोग इन्हें ही 'जीव' इस नाम से पुकारते हैं। जब ये पाँचों, भूतसमुदाय का त्याग करके पृथक् होते हैं तब 'मनुष्य मर गया' या पंचत्व को प्राप्त हो गया, ऐसा कथन किया जाता है। वास्तव में संसार में कोई प्राणी किसी शरीर विशेष को छोड़कर 'घड़े पर बैठी हुई चिड़िया, जैसे उड़ जाती है,' वैसे परलोक को नहीं जाता है अतः हे राजकुमार! जब परलोकनामक कोई वस्तु है ही नहीं, ऐसी स्थिति में परलोक का मिथ्याभिमान करके दुर्बुद्धि धारण करके, स्वभाव से सुन्दर इन विषय सुखों का तुम परित्याग मत करो। अथवा देह से भिन्न किसी देही (आत्मानामक तत्त्व को) का मुझे दर्शन कराओ, अतः तुमने जो कहा था कि-"मनुजत्व दुर्लभ है" आदि यह सब असंबद्ध है। आत्मानामक कोई पदार्थ पुण्य या पाप के कारण से प्राप्त नहीं होता है, परन्तु भूतों

सुनना चाहता हूँ।

गुरु ने वासचूर्ण मस्तक पर डालते हुए कहा कि–'संसार समुद्र से पार होओ तथा महान् गुणों से वृद्धि को प्राप्त होओ'। गुरु के इन आशीर्वचनों को सुनकर शिखिकुमार ने कहा–आपसे तो मैंने आशीर्वाद प्राप्त कर लिया अब उपस्थित अन्य साधुओं को भी वन्दना करके आशीर्वाद देने के लिये निवेदन करूँ? गुरु ने वैसा करने के लिये आज्ञा दे दी।

तत्पश्चात् सभी साधुओं को वन्दना करके उसने समवशरण की तीन प्रदक्षिणा की और सभी साधुओं ने भी उसके सिर पर वासक्षेप चूर्ण डालकर उसे वही आशीर्वाद दिया कि 'तुम संसार से जल्दी पार होओ तथा महान् गुणों की अभिवृद्धि करो।' कुछ समय सबके समक्ष खड़ा रहा, बाद में एक एक करके तीन बार सबका दिया हुआ वासक्षेपरूप आशीर्वाद ग्रहण करके गुरु के चरणों में झुक गया। गुरुजी भी आसन ऊपर बैठ गये, सब कोलाहल बन्द करवाया, तत्पश्चात् गुरु ने उपदेश देना शुरु किया। इस प्रकार से विजयसिंह आचार्य के पास विशुद्ध आत्म परिणामों के साथ जिनोपदिष्ट विधि से सम्पूर्ण दुःखों का नाश करने के लिये महान् औषधि के समान महाप्रव्रज्या (दीक्षा) शिखिकुमार ने धारण की।

आनन्दाश्रुपूरित नेत्रोंवाले राजा ब्रह्मदत्त ने तथा नगरनिवासी नागरिकों ने उसका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् कुछ दिन वहीं स्थिरवास करके मासकल्प समाप्त हो जाने पर आचार्य भगवान के साथ अन्यक्षेत्रों की तरफ प्रस्थान किया। इस प्रकार से निर्दोष श्रामण्य पर्याय का पालन करते हुए अनेक लाख वर्ष व्यतीत हो गए।

इधर शिखिकुमार के दीक्षा धारण कर लेने से जालिनी (माता) को बहुत अनुताप (पश्चात्ताप) हुआ। उसने सोचा कि हाय! मेरे हाथ से अत्यन्त खराब कार्य हो गया कि मैं इसे मार न सकी और बिना मरे ही यह मेरे हाथ से निकल कर चला गया इसलिये अब सुन्दर व मधुर वचनों के साथ कुछ सन्देश तथा कुछ भेंट सामग्री भेजूं, जिससे किसी प्रकार से यह वापिस यहाँ आवे और यहाँ आने पर फिर मार डालूँगी। उसने जैसा मन में सोचा, वैसा ही किया।

उसने सोमदेव के साथ अनेक प्रकार का करुणा-परिपूर्ण सन्देश तथा कम्बलरत्न अर्थात् श्रेष्ठ कम्बल भेजा। प्रसिद्ध आचार्य विजयसिंह की देशदेशान्तरों में विहार प्रवृत्ति के समाचार पूछता हुआ तथा पता लगाता हुआ तमालनामक ग्राम में स्थित शिखिकुमार के समीप पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने देखा कि शिखिकुमार अन्य साधुओं को सूत्रार्थ का प्रत्युच्चारण करा रहे हैं, यह देखकर अन्य उसका मुख-कमल प्रसन्न हो गया और उसने शिखिकुमार मुनि की वन्दना की। शिखिकुमार ने भी उसे धर्म लाभ से प्रतिलाभित किया और बाद में एकदम पहिचान लिया।

पहिचान लेने के बाद मुनि ने पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं? सोमदेव ने प्रत्युत्तर दिया कि प्रचण्ड पश्चात्तापरूपी अग्नि में जलती आपकी माता जालिनी ने आपके कुशल समाचार जानने के लिये मुझे कोशनगर से भेजा है। शिखिमुनि बोले—माता को पश्चात्ताप होने का क्या कारण है?

सोमदेव ने कहा—आपने प्रव्रज्या (दीक्षा) धारण कर ली, जिससे माता को अत्यन्त दुःख हो रहा है। शिखिकुमार ने विचार किया कि माताओं के हृदय स्नेह से कातर-कमजोर तथा परमार्थतत्त्व को समझने में असमर्थ होते हैं और माता पिताओं के ऋण चुकाया नहीं जा सकता, ऐसा विचार करके वे बोले—हे सोमदेव! मैं वास्तव में माता के दुःख के कारण से वैराग्य को धारण करके दीक्षित नहीं हुआ, माता तो निष्कारण ही सन्ताप करती हैं।

सोमदेव बोला—स्वामिन्! आपने माता ने ऐसा कहा है कि, स्त्री हृदय संकुचित हृदयवाला, अविवेकशील, बिना सोचे कार्य करनेवाला, चंचल स्वभाववाला, ईर्ष्यालु, कदाग्रही तथा पीछे से पश्चात्ताप करने वाला होता है, इसके विपरीत पुरुष गम्भीर हृदयवाला, विनय का भाजन, विचारपूर्वक कार्य करनेवाला, शान्त व स्थिर स्वभाववाला, कृतज्ञ, दृढ़ अनुरागवाला, दीर्घ दृष्टिवाला और समग्र दृष्टि से विचारवान होता है। माता ने कहा है कि 'मैं तो स्त्री थी लेकिन तुम तो पुरुष थे, तुमने मेरे हृदय को परखे बिना ही दीक्षा धारण करने जैसा कार्य क्यों किया?'

इसके अतिरिक्त जब तुमने परलोक का मार्ग ग्रहण किया है, फिर भी पुत्र होने के नाते एक बार यहाँ आकर आप दर्शन अवश्य दें, ऐसा कहलाने के साथ साथ यह श्रेष्ठ कम्बल भी भेजा है, जो आपको अवश्य ही ग्रहण (स्वीकार) करना है। शिखिमुनि बोले–सोमदेव! मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि माताजी निष्कारण सन्ताप करती हैं, और यह जो तुमने कहा कि 'यहाँ आकर दर्शन अवश्य दें' इसमें तो आचार्य भगवान ही प्रमाण है अर्थात् उनकी आज्ञा के बिना दर्शन देने के लिये भी आना संभव नहीं है। मैं अब उनके आधीन हूँ। यह जो, कम्बलरत्न तुम लाये हो, वह भी साधुओं के लिये अनुचित है, इसके लिये भी तुम आचार्यश्री से निवेदन करो।

तत्पश्चात् एक साधु ने कम्बलरत्न गुरुजी को ले जाकर दिखलाये और सोमदेव ने सर्व वृत्तान्त आचार्य भगवान से निवेदन किया और कम्बलरत्न आचार्यश्री को भेंट किया। आचार्यश्री ने शिखिकुमार के बहुमान के कारण से उसे स्वीकार किया तथा कहा कि यदि कोई विशेष अन्तराय का कारण उत्पन्न नहीं हुआ तो वर्तमान में जो अधिकृत शास्त्राध्ययन चल रहा है, उसकी समाप्ति हो जाने पर मुनि शिखिकुमार को दर्शन देने के लिये भी भेजूँगा।

सोमदेव ने निवेदन किया–भगवन्! आपकी इस कृपा से इनकी माता अनुगृहीत हो जायेगी। इस प्रकार से निवेदन करके कुछ दिन मुनिकुमार के पास में रहकर सोमदेव वापिस लौट गया। कुमार को तप-संयमपूर्वक दीक्षा-पर्याय पालते हुए काफी समय व्यतीत हो गया। अन्य किसी समय कोश (कोशाम्बी) नगर के समीप विचरनेवाले किसी पुरुष के द्वारा ऐसा समाचार सुना कि 'ब्रह्मदत्त मर गया' तब आचार्य विजयसिंह ने अनेक साधुजनों के परिवार के साथ शिखिकुमार मुनि को अपने परिवार के लोगों से मिलने के लिये कोशनगर भेजा। शिखिकुमार मुनि साधुवृन्द के साथ वहाँ आ गये तथा मेघवननामक उद्यान में ठहरे। कोशनगर में यह समाचार प्रसारित हो गया कि मुनि शिखिकुमार यहाँ पधारे हैं। नगर के लोगों ने राज-परिवार के लोगों ने मुनि को वन्दन-पूजन किया और लोगों को धर्म की तरफ आकर्षित करनेवाली 'आक्षेपणी' नामक धर्मकथा सुनाई अर्थात् वैराग्यप्रद उपदेश दिया। सभी

नागरिक धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित हुए।

दूसरे दिन मुनि शिखिकुमार माता के पास में गये। मानों पाप का उदय हुआ है, इस कारण से ब्रह्मदत्त की मृत्यु के कारण से अत्यन्त क्षीण देहवाली (दुर्बल शरीर व कान्तिहीन मुखवाली) अपनी माता को मुनि ने देखा और इस असंभाव्य अवस्था में देखकर वह माता को पहिचान भी नहीं पाया लेकिन माता ने तो उसे पहिचान लिया। पुत्र को देखते ही स्वाभाविक कपट का आचरण करती तथा अश्रुजल से नेत्रों को परिपूरित करती हुई मानों अत्यन्त दुःखी हो, इस प्रकार से वह करुणापूर्ण स्वर से जोर से रोने लग गई। शिखिकुमार ने माता को अनेक प्रकार से सान्त्वना दी और धर्मदेशना भी सुनाई और कहा– माताजी ! संसार का वास इसी प्रकार का है, इसमें किया ही क्या जा सकता है ? कहा भी है–

देव या दानव भी धन से, पराक्रम से, स्वजनों की मदद से, बल से अथवा चतुरंगिणी सेना की शक्ति से मृत्यु को पकड़ने में समर्थ नहीं हैं। व्याधियाँ तथा वृद्धावस्था जिसकी मजबूत दाढ़ें हैं, सैकड़ों आपत्तियाँ स्वरूप जिसका तीक्ष्ण नखसमूह है, जो मृग के समान जीव को मारने में सिंह की भाँति सदा तत्पर है, ऐसी सिंहरूपी मृत्यु इस संसार में सदा भ्रमण करती रहती है।

जिस कारण से उद्दाम-स्वच्छंद मृत्युरूपी मृगेन्द्र किसी की भी रोकटोक के बिना संसार में अस्खलित गति से घूमता रहता है, उसी कारण से सज्जन पुरुष परलोक के मार्ग में अर्थात् कल्याण-मार्ग में सदा तत्पर रहते हैं।

परस्पर एक दूसरे के साथ दीर्घकाल से प्रेम-पाश में बन्धे हुये प्राणि-समुदाय को भी यह निष्करुण हृदयवाला मृत्युरूपी सिंह पृथक् कर देता है, मदोन्मत्त हाथी के समान यह मृत्यु किसी के भाव-गर्भित उपकार को अथवा प्रेम को भी तुच्छ समझता है, इस प्रकार से इस मृत्यु के द्वारा उपद्रवग्रस्त प्राणियों को कोई शरण देनेवाला नहीं है। सम्पूर्ण लोक में अर्थात् ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक में श्रेष्ठ जैन धर्म को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है, इसलिये हे माताजी ! आप भी मोह-

रूपी विषय-रसों का परित्याग करके इस अत्यन्त सुखदायक धर्मामृत का पान करने के लिये तैयार हो जाइये, यही आपके लिये उचित है।८५-९१

जब मुनि शिखिकुमार ने माता को उपरोक्त उपदेश दिया तब माता जालिनी भी समयानुरूप बोली कि हे पुत्र ! मुझे मेरी अवस्था के लिये योग्य, ऐसे व्रत दो। तत्पश्चात् शिखिकुमार ने विचार किया कि साधु के महाव्रतों का पालन करने के लिये असमर्थ है, अतः माता के शुभ परिणामो की प्रशसा करके, उन्हें विस्तारपूर्वक गृहस्थी का धर्म समझाकर श्रावक के अणुव्रत प्रदान किये और माता ने भी शिखिकुमार को मारने की भावना से व्रत स्वीकार करने के बहाने से उसके हृदय में विश्वास उत्पन्न करने के लिये अत्यन्त सद्भाव के साथ व्रत स्वीकार कर लिये।

कुछ समय कोशनगर में रुककर मुनि शिखिकुमार अन्यत्र जाने को तैयार हुए तब जालिनी बोली-हे पुत्र ! "आज तुम यहीं पर आहार ग्रहण करो"। शिखिकुमार ने कहा-माता ऐसा करना साधुओं के योग्य नहीं है, अनाचार है। साधु अनेक स्थानों से प्राप्त गोचरी-'मधुकरी' को छोड़कर एक ही गृहस्थ के यहाँ का आहार ग्रहण करें, यह अनाचार है।

जालिनी बोली-तुम जानो। इस प्रकार प्रतिदिन मुनि शिखिकुमार धर्मोपदेश देते हैं और जालिनी सदा उसको मारने का ही उपाय सोचती रहती है लेकिन कोई ऐसा सूक्ष्म उपाय सूझ नहीं पड़ता। ऐसा करते हुए चतुर्दशी का दिन आ गया और सभी साधुओं के उपवास होने से उस दिन गोचरी के निमित्त घूमने जाना भी नहीं हुआ। यह बात जालिनी को ज्ञात हुई। वह विचार करने लगी कि यदि कल में इसे नहीं मार सकी तो पक्ष की सन्धि अर्थात् पूर्णिमा के दिन तो ये विहार कर जायेंगे, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

ऐसा विचार करके उसने निश्चय किया कि कसार बनाकर उसमें विष मिलाकर एक लड्डू बनाऊँगी तथा प्रातःकाल पारणे के समय में जाकर उन साधुओं को दूँगी तथा अत्यन्त आदरपूर्वक मैं ही इन सबको खाना खिलाऊँगी। इस प्रकार से आगे हाथ से ही विषमिश्रित लड्डू प्रदान करके इस शिखिकुमार को अवश्य मार डालूँगी।

ऐसा विचार करके, जैसा विचार किया था, वैसा ही कृतिरूप में कर भी डाला। जालिनी दूसरे दिन प्रातःकाल उपरोक्त भोजन लेकर उस बगीचे में जहाँ मुनि लोग ठहरे हुए थे, गई। शिखिकुमार मुनि ने उसे देखा तथा कहा—माताजी! आप अकेले ही साधु लोगों के लिये अनुचित-अकल्पनीय आहार को लेकर कैसे आई हैं? जालिनी ने प्रत्युत्तर दिया कि आज तो अपने हाथ से ही तुम्हें भोजन करा कर अपनी मनोभिलाषा पूर्ण करनी है।

शिखिकुमार ने कहा—माताजी! साधुओं के लिये खास बनाया हुआ तथा सामने लाया हुआ भोजन ग्रहण करना भी एक अनाचार है। इसके बाद साधुओं के लिये ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार की विधि माता को समझाई तब माता बोली कि हे पुत्र! मेरे हृदय की शान्ति अन्य किसी भी प्रकार से नहीं होगी। यदि तुम इस भोजन को स्वीकार नहीं करोगे तो यहाँ तक विहार करके आना, दर्शन देना आदि सभी क्रियाओं को मैं निष्फल मानूँगी। तुम्हें अवश्य ही इस आहार को स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसी विनति करके वह शिखिकुमार के चरणों में गिर पड़ी।

तत्पश्चात् सरल स्वभाव होने के कारण से उसने (मुनि शिखिकुमार ने) मन में विचार किया कि "देखो, इसके धर्म के प्रति कितनी दृढ़ श्रद्धा तथा कितना पुत्र स्नेह है! कहीं इसके धर्म-परिणाम में विपरीतता न आ जावे, इसलिये लाभालाभ का विचार करके वह बोला—माताजी! जैसा आप कहें, वैसा अभी कर लेता हूँ, भविष्य में कभी भी साधु के निमित्त से ऐसा आरंभ न करें। माता बोली—कुमार! जैसा तुम कहते हो, वैसा ही करूँगी।

मुनि शिखिकुमार बोला—यदि ऐसा ही है तो पहिले इन सब साधुओं को भोजन दो, बाद में, मैं खाऊँगा। जालिनी बोली—हे पुत्र! वाह। तुमने माता के प्रति सच्चा वात्सल्य बतलाया है, ऐसा करने से क्या लाभ है? आज तो तुम्हें मेरे हाथ से ही खाना पड़ेगा। शिखि-कुमार ने कहा—यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है तो पारणे का समय हो जाने दो। पारणे का समय भी कुछ काल बाद आ गया। मुनि कुमार के अति आग्रह से सब मुनि बैठ गये। यथोचित विधि से

पारण दिन जालिनी ने परोसने की तैयारी की और अच्छी तरह से तैयार किया हुआ 'कसार' भी परोसा। साधुओं ने भोजन कर लिया। तत्पश्चात् बचे हुए कसार में तालपुट विषमिश्रित करके शिखिमुनि को दिया और उसने उसे खा लिया।

इसके पश्चात् सब साधुओं ने आचमन करके मुँह धो लिये और आहार के पात्र भी साफ करके दूर रख दिये। इस बीच मुनिकुमार के शरीर में विष व्याप्त हो गया। उसने विचार किया कि यह क्या हो गया? उसने सब साधुओं को देखा, वे तो सब स्वस्थ थे। तत्पश्चात् वह माता के सारे जाल को समझ गया। कुछ ही समय व्यतीत हुआ होगा कि उसकी वाणी बन्द हो गई उसने विचार किया कि यह माता के दिये हुए विष का प्रभाव है, अब मैं जीवित नहीं रहूँगा, ऐसा सोच कर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसकी यह स्थिति देखकर सभी साधु तथा जालिनी आकुल व्याकुल हो गये। उन सबने विचार किया कि क्या ऐसा अकार्य उसकी माता ने ही किया होगा?

विष जिनके शरीर में व्याप्त हो गया है, ऐसे वे मुनि शिखि-कुमार विधिपूर्वक अनशन करके विचार करने लगे कि कभी भी नहीं हुआ, ऐसा यह मुझे क्या हो गया है? इस संसार के स्वभाव को धिक्कार है। मैंने विचार किया था कि धर्म का उपदेश देकर तथा चारित्र स्वीकार करवाकर माता जालिनी को इस ससार के सब क्लेशों से शीघ्र मुक्त करा दूँगा। मेरी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाई, उसके पूर्व ही पुण्य हीन, मेरे प्रमाद से अपयशरूपी कीचड़ में माता गिरा दी गई है, यह अत्यन्त खेद का विषय है।

अनार्य लोग जो पूर्व के समग्र वृत्तान्त को जानते है, मोहजनित दोष के कारण से न शंका करने योग्य कारणों की शंका करेंगे। माता को क्लेश पहुँचानेवाले इस जीवन को धिक्कार है, अथवा इस प्रकार का यह ससार पाप से ही भरा हुआ है। कहा भी है–

कभी कभी पूर्व भव में किये गए तथाविध कारणों से अपराध न करते हुए भी कितने ही प्राणी अपयश को प्राप्त करते हैं और कई एक प्राणी अपराध करते पर भी अपयश को प्राप्त नहीं करते हैं, क्योंकि

उसका अपराध प्रच्छन्न हो जाता है। कर्म की जो विचित्र गति है, वही इसका प्रायश्चित्त है। पूर्व संचित अशुभ कर्म ही इस समय फलरूप में उदय को प्राप्त हुए हैं, अथवा तो इस समय इस संसार में उस व्यक्ति को इसकी जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, जिसने मोक्ष-सुख के फल-स्वरूप कल्पवृक्ष के समान जिन-धर्म को प्राप्त कर लिया है, इसलिये इस समय शेष सभी चिन्ताओं को छोड़कर जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट तथा परम-पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में साधक, ऐसे पंच परमेष्ठि नमस्कार-मंत्र का ही स्मरण करना श्रेष्ठ है।

ऐसा विचार करके शुभ-परिणामवाला, पंच परमेष्टि-नमस्कार मंत्र की भावना से युक्त हृदयवाला वह शिखिकुमार मुनि मृत्यु को प्राप्त करके ब्रह्मलोकनामक पाँचवे देवलोक में उत्पन्न हुआ। वह रति-लक्ष्मी समागमनामक विमान में नवसागरोपम की आयुवाला, दिव्य कान्तिवाला ब्रह्मेन्द्र का सामानिक जाति का देव हुआ और उसकी माता जालिनी भी आयुष्य पूर्ण करके तीन सागरोपम के आयुष्यवाली शर्करा प्रभानामक दूसरी नरकभूमि में महाघोर नारक के रूप में उत्पन्न हुई। ९२-१०३

धर्म से याकिनी महत्तरा के पुत्र परमगुणानुरागी, परमसत्यप्रिय परम कारुणिक भगवान् हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित समरादित्य कथा (समराइच्च कहा) के अन्तर्गत यह तृतीय भव समाप्त हुआ।



श्रीनेमि-नन्दन-ग्रन्थमाला-६

श्रीजैनतर्कसङ्ग्रहो जैनमुक्तावली च ॥

प्रणेता :
आचार्य श्रीविजयनन्दनसूरिः ।



प्रकाशक :
श्रीगोडीपार्श्वनाथ जैन टेम्पल ट्रस्ट
१११, गुरुवार पेठ
पूना (महाराष्ट्र)